भारतीय दर्शन के महामेरु

आचार्य समन्तभद्र

लेखक
डॉ० नेमिचन्द्र जैन,
सेवानिवृत्त प्राचार्य, खुरई

सम्पादक
डॉ० नरेन्द्रकुमार जैन
रीडर संस्कृत, गाजियाबाद

प्रकाशक

सर्वोदय फाउण्डेशन, खतौली (उ०प्र०)
एवं
स्याद्वाद प्रसारिणी सभा, जयपुर (राजस्थान)

भारतीय दर्शन के महामेरु

आचार्य समन्तभद्र

मगध विश्वविद्यालय, बोधगया की पी–एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोधप्रबन्ध

लेखक
डॉ0 नेमिचन्द्र जैन, सेवानिवृत्त प्राचार्य,
गुरुकुल रोड, खुरई (म0प्र0) फोन 07581–241201

सम्पादक
डॉ0 नरेन्द्रकुमार जैन, रीडर संस्कृत
III-B-25, नेहरु नगर, गाजियाबाद (उ0प्र0) फोन 0120–2797655

प्रथम संस्करण : वीर नि. स. 2533, सन् 2007

ISBN 81-902995-1-4

मूल्य : 200 रुपये

प्रकाशक

1. **सर्वोदय फाउण्डेशन**
   शिक्षक आवास 6, कुन्दकुन्द महाविद्यालय परिसर, खतौली 251201 (उ0प्र0)
2. **स्याद्वाद प्रसारिणी सभा**
   चैतन्य निलय 3/359, न्यू विद्याधर नगर, जयपुर (राजस्थान)

प्राप्ति स्थान

भारतीय विद्या प्रकाशन

1. 1 यू बी जवाहर नगर बैंग्लो रोड, दिल्ली फोन 23851570, 23850944
2. कचौडी गली, वाराणसी (उ0प्र0) फोन 0542–2392376

मुद्रक
दीप प्रिंटर्स, 70ए, रामा रोड
इण्डस्ट्रियल एरिया, न्यू दिल्ली 110015
फोन 25925099

समर्पण

जन्म से दूसरे दिन ही
जिनकी गोद मे दे दिया गया उन
ताऊ–ताई स्व0 सेठ भैयालाल जी एव श्रीमती केशरबाई जी,
जिन्होने जन्म दिया उन
पिता स्व0 सेठ लालचन्द्र जी, माता स्व0 सुखरानी बहु जी
जिन्होने चलना, लिखना और पढना सिखाया उन
चाचा स्व0 प0 रविचन्द्र जी 'शशि' एव
चाची श्रीमती प्रेमलता 'कौमुदी', दमोह
को
सादर समर्पित

प्रकाशकीय

आचार्य समन्तभद्र भारतीय दर्शन के ऐसे आचार्य हैं जिन्होने अपनी प्रबल युक्तियो से दार्शनिको को चमत्कृत किया है। युक्त्यनुशासन उनकी ऐसी ही कृति है। इसके अतिरिक्त 'आप्तमीमासा' और 'स्वयम्भूस्तोत्र' उनकी दार्शनिक कृतिया हैं। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' गृहस्थो का आचार विषयक ग्रन्थ है जो आज भी अपने विषय का मेरुदण्ड है।

आचार्य समन्तभद्र पर केन्द्रित "भारतीय दर्शन के महामेरु आचार्य समन्तभद्र" पुस्तक पाठको को समर्पित करते हुये हमे असीम आनन्द की अनुभूति हो रही है। सुविख्यात विद्वान् डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन ने वर्षों के गहन शोध और अध्ययन के बाद इसे तैयार किया है। मगध विश्वविद्यालय ने इस पर पी–एच॰ डी॰ की उपाधि प्रदान की है। प्रकाशन से पूर्व इसे सशोधित और सवर्धित किया गया है जिससे इसकी उपयोगिता, महत्ता और गुणवत्ता द्विगुणित हो गई है कलेवर भी अपेक्षाकृत बढ गया है।

स्याद्वाद प्रसारिणी सभा ने शोध प्रबन्धो और अन्य उपयोगी ग्रन्थो के प्रकाशन की योजना बनायी है तथा तीन शोध प्रबन्ध प्रकाशित भी किये हैं। सर्वोदय फाउण्डेशन का उद्देश्य भी प्राय यही है। फाउण्डेशन द्वारा हाल ही मे "स्वतत्रता सग्राम मे जैन" (प्रथम खण्ड) द्वितीय सस्करण का प्रकाशन किया गया है। दोनो सस्थाओ के उद्देश्य समान होने से प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सयुक्त रूप से किया जा रहा है आशा है भविष्य मे भी इस कार्य को आगे बढाते रहेगे।

ग्रन्थ प्रकाशन हेतु स्वेच्छा से आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले अधोलिखित पुण्यार्जको के प्रति हम अत्यधिक आभारी हैं, जिनके अर्थ सहयोग के बिना ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव नहीं था, आशा है भविष्य मे इसी तरह की उदार भावना बनी रहेगी, जिससे जैन साहित्य का प्रकाशन होता रहेगा।

1 रु0 10000 श्री चौधरी कोमल चन्द्र प्रदीपकुमार जी, चरखा बीडी, खुरई

2 रु0 10000 श्री इन्जीनियर कान्तीश कुमार जी जैन, सागर

3	रु0 5000	स्व0 गुलाब चन्द्र जी कटक वाले, खुरई
4	रु0 5000	श्रीमान् सेठ देव चन्द्र जी जैन, विजय इण्डस्ट्रीज खुरई
5	रु0 5000	श्रीमती सरोज जैन धर्मपत्नि डॉ0 नेमिचन्द्र जैन खुरई
6	रु0 2100	श्री डॉ0 जयन्त जैन, खुरई
7	रु0 2100	श्री सजय जैन, खुरई
8	रु0 1001	श्री महेन्द्रकुमार जैन, गल्ला व्यापारी, खुरई

हम डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन के प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिन्होने पुस्तक प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की है। श्री एम॰ एल॰ जैन ने निष्ठा पूर्वक इसका मुद्रण किया है जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ0 कपूरचन्द्र जैन
अध्यक्ष
सर्वोदय फाउण्डेशन

डॉ0 सनतकुमार जैन
अध्यक्ष
स्याद्वाद प्रसारिणी सभा

सम्पादकीय

भगवान महावीर के पश्चात् उनकी परम्परा मे अविरल चली आ रही विचारधारा के पोषक आचार्यों द्वारा सृजित समस्त साहित्य उनकी आत्मानुभूति से उद्भूत था। आत्मकल्याण मे रत उन आचार्यों का यह भी लक्ष्य रहा है कि विलुप्त हो रही आगमिक परम्परा के चिन्तन को कम से कम सूत्ररूप मे निबद्ध कर दिया जाये, जिससे आत्मकल्याण के इच्छुक जीवो का मार्गदर्शन हो सके। यह कार्य जितना सम्भव हो सका, उतना दूसरी तीसरी शताब्दी तक के आचार्यों ने सम्पन्न किया। ईसा की दशवीं शताब्दी तक, आत्मसाधना के पथ से विचलित हुए विना एव एषणाओ से रहित आचार्यों ने उन सूत्रशैली मे लिखे गये ग्रन्थो पर वृत्ति, भाष्य, महाभाष्य आदि यह समझकर लिखे होगे कि अनागत मे उनके अर्थ को समझने मे पाठको को भ्रम न हो और न ही उनका अन्यथा अर्थ किया जा सके। इस काल मे जो स्वतत्र रचनाए हुईं, वे भी उन्हीं सूत्रशैली मे निबद्ध ग्रन्थो को आधार बनाकर लिखी गयीं। भगवान महावीर के पश्चात् लगभग पन्द्रह सौ वर्षों का वह विशुद्ध लेखन काल माना जा सकता है।

ईसा की लगभग दशवी शती से अट्ठारहवीं शती तक धार्मिक क्रान्तियो, साम्प्रदायिक वैमनस्य, विदेशी आक्रमण आदि के कारण जैन सस्कृति और साहित्य को सरक्षित करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व आचार्यों पर था, चूकि इस समय मुनि परम्परा प्राय विलुप्त हो चली थी, इसलिए यह महत्त्वपूर्ण कार्य भट्टारको ने किया। अपना अस्तित्व बनाये रखने और दूसरे सम्प्रदाओं के साथ सामजस्य स्थापित करने की दृष्टि से उस अवधि मे सृजित साहित्य पर जैनेतर साहित्य का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कुछ जैन साहित्य सर्जको ने लौकिक एषणाओ के वशीभूत होकर प्रसिद्ध आचार्यों के ग्रन्थो की सामग्री मे अपनी विचारधारा सयुक्त कर उस कृति के लेखक के रूप मे अपना नाम जोड दिया। बाद मे असली और नकली ग्रन्थो के पहचान की समस्या उत्पन्न हो गयी। वीसवीं शती के महान् गवेषक

विद्वान्, अनुवादक, इतिहास लेखक, समीक्षक एव व्याख्याकार प. जुगलकिशोर मुख्तार जी जैसे विद्वानो ने ग्रन्थो की परीक्षा करके मूल आम्नाय सम्मत ग्रन्थो का सूचीकरण करने का महान् कार्य किया। साथ ही और अनेक विद्वानो द्वारा अथक परिश्रम पूर्वक मूल एव व्याख्या ग्रन्थो के अनुवाद, सम्पादन, मूलसामग्री के आधार पर स्वतत्र लेखन, समीक्षण आदि के दीर्घकालव्यापी प्रयत्न किये गये। धीरे धीरे ऐसे विद्वानो का अभाव होता चला गया। बीसवी शती के उत्तरार्द्ध से विद्वानो के ऐसे युग का प्रारम्भ हो गया जो प्राय समाज के आश्रित न होकर विश्वविद्यालयो, महाविद्यालयो, आदि मे उच्च पदो पर आसीन थे। उन्होने श्रुताराधना, यश, पुरस्कार और धन के लिए साहित्य सृजन के क्षेत्र मे प्रवेश किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि सृजित साहित्य की मात्रा बढती गयी और उसकी गुणवत्ता घटती गयी। अधिकाश पुरस्कार मुनियो के आशीर्वाद से प्रायोजित होने के कारण ऐसे विद्वानो की ऊर्जा की धारा व्यक्तिपरक अभिशसा प्रशसा की ओर मुड जाने के कारण उनके कृतित्व मे प्राय पाण्डित्य का अभाव हो गया और वे पूर्व पण्डित परम्परा के चिन्तन और उन जैसे सृजन की परम्परा को आगे बढाने मे असमर्थ हो गये। जैन विद्या पर हुए अनेक शोधकार्य, शोध के उच्च मानदण्डो के अनुरूप न होने के कारण वे अपने सम्प्रदाय के बाहर साहित्य जगत के क्षेत्र मे प्रतिष्ठित नहीं हो सके।

जैनवाङ्मय की विशालता, महत्ता एव उसकी त्रैकालिक उपयोगिता को ध्यान मे रखकर आज आवश्यकता इस बात की है कि अतीत से बोध लेकर विद्वानो द्वारा जैन साहित्य का ऐसा सृजन किया जाना चाहिए जो विश्वपटल पर अपनी पहचान बना सके। साथ मे यह भी आवश्यक है कि जो साम्प्रदायिक शक्तिया दिगम्बर जैन मूल आम्नाय के आचार्यो को ऐतिहासिक दृष्टि से परवर्ती सिद्धकर उसकी प्राचीनता को चोटिल कर रहे हैं, उसका सप्रमाण समाधान दिया जाना चाहिए। दिगम्बर, श्वेताम्बर, बीस पथ, तेरह पथ, निश्चयवाद, व्यवहारवाद आदि अन्तर्साम्प्रदायिक सघर्ष के मूलबिन्दुओ पर सभी विद्वानो को एक साथ मिलकर सर्वमान्य सहमति बनाना, सम्प्रति अपने अस्तित्व एव अस्मिता की रक्षा के लिए नितान्त

आवश्यक है अन्यथा हमारी सस्कृति का ऐतिहासिक स्वर्णिम स्वरूप बदरग होकर विखण्डित हो जायेगा।

उपर्युक्त विन्दुओ को ध्यान मे रखकर अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लेखक द्वारा लिखी गयी प्रस्तुत कृति 'भारतीय दर्शन के महामेरु आचार्य समन्तभद्र' एक सराहनीय प्रयास है। इस कृति मे अब तक समन्तभद्र पर हुए शोधकार्यों का पुनरीक्षण कर लेखक द्वारा अपने निष्कर्ष निकाले गये हैं। समन्तभद्र की कृतियो के जिन पक्षो पर न के बराबर कार्य हुआ है उन विषयो को विशेष रूप से शोध का विषय बनाया गया है। जैसे द्वितीय अध्याय मे समन्तभद्र के स्तोत्र साहित्य का समस्त काव्यमूल्यो की दृष्टि से किया गया अनुशीलन लेखक की साहित्य के क्षेत्र मे गहरी अभिरुचि का परिचायक है। वस्तुत जहा एक ओर समन्तभद्र के स्तोत्र ग्रन्थो मे भक्ति के साथ साथ तीर्थंकरो द्वारा प्रणीत जैन सिद्धान्तो का मौलिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, जो प्रज्ञोन्मेष एव आन्तरिक विशुद्धि के लिए अत्यन्त उपादेय है, वही दूसरी ओर उनका स्तोत्र साहित्य भाषा तथा काव्यमूल्यो की दृष्टि से बेजोड है। स्वयम्भूस्तोत्रम् मे समन्तभद्र ने अनेक स्थलो पर उपमानो, शब्द परिच्छित्तियो एव सकेतो द्वारा पौराणिक आख्यानो को उपस्थित कर प्रबन्धात्मकता के समावेश के साथ अलकार, रस एव छन्दो आदि की योजना की है, जो स्तोत्रकार की अटूट काव्य प्रतिभा का द्योतक है। रत्नकरण्डम् परिशीलन के अन्तर्गत ग्रन्थ के बहिरग और अन्तरग परिचय के बाद अणुव्रत, शीलव्रत, मूलगुण और प्रतिमाओ का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक समीक्षण, विभिन्न कालो मे हुए आचार विषयक परिवर्तनो के रहस्य को खोलता है। अन्तिम दो अध्यायो मे आप्तमीमासा और युक्त्यनुशासन के परिचयात्मक विवेचन पूर्वक उनका अन्य भारतीय दर्शनो के सन्दर्भ मे मूल्याकन किया गया है, जिससे लेखक की दार्शनिक विषयो के प्रति विशेष अभिरुचि परिलक्षित होती है।

इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन, सेवानिवृत्त प्राचार्य, सस्कृत साहित्य और जैनदर्शन के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् हैं। इन्होने अपना

शोधकार्य, स्व॰ डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य, आरा के निर्देशन मे प्रारम्भ किया था, अप्रत्याशित उनके निधन हो जाने पर उनके कार्य की पूर्णता प्राकृत और अपभ्रश के विश्रुत मनीषी विद्वान् डॉ॰ राजाराम जैन, आरा, वर्तमान मे नोयडा, के निर्देशन मे हुई। इस तरह दो महान् मनीषियो की प्रतिभा की छाप एव आशीष जिस लेखक विद्वान् के साथ हो, उनके द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ समाज के लिए अवश्य उपयोगी होगा।

गाजियाबाद,
महावीर जयन्ती, 2007 — डॉ॰ नरेन्द्रकुमार जैन

पुरोवाक्

आचार्य समन्तभद्र के नाम के स्मरण मात्र से ही ऐसा अनुभव होने लगता है, मानो उनकी सर्वोदयी वैचारिक दृष्टि समग्र सृष्टि को अपनी भद्रता मे वेष्टित करने का प्रयत्न कर रही हो। उरगपुर वर्तमान त्रिचरापल्ली (तमिलनाडु) के क्षत्रिय राजकुमार होकर भी उन्होने सर्व प्राणी हिताय वही मार्ग चुना, जो उनसे लगभग सात आठ सौ वर्ष पूर्व वैशाली के क्षत्रिय राजकुमार वर्द्धमान भगवान महावीर ने चुना था।

आचार्य समन्तभद्र का व्यक्तित्व जहा आदर्श, त्याग एव तप का मूर्त रूप था, वही उनका कृतित्व बहु आयामी था। एक ओर जहा उनके दार्शनिक चिन्तन ने अनेक मौलिक अवदान दिये और अपने दार्शनिक चिन्तन लेखन के माध्यम से जैन न्यायदर्शन के वैशिष्ट्य को विश्लेषित कर जैनन्याय के परवर्ती लेखकाचार्यो को विविध प्रेरक सूत्र प्रदान किये, वही दूसरी ओर श्रावकाचार पर उन्होने सर्वप्रथम स्वतत्र ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार लिखा, जो अपने ढग की आचार मूलक अनौखी कृति है। 'देहली दीपक न्याय' से जहा वह समन्तभद्र के पूर्व कालीन श्रावकाचार पर खोज करने को प्रेरित करती है, वहीं वह उसकी भविष्यत कालीन जीवन शैली के निर्धारण के लिए आवश्यक निर्देश भी देती है।

प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र की दिव्य दृष्टि को भविष्यत कालीन विषमताओ का आभास मिल गया था, जिससे उन्होने देश, काल एव भावगत परिस्थितियो पर गहन चिन्तन किया और पचाणुव्रतो के जिन जिन अतिचारो का सामाजिक सन्दर्भो मे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया, उनकी आधुनिक भारतीय दण्ड सहिता (Indian panel code) के लगभग प्रत्येक अध्याय एव प्राय समस्त धाराओ से आश्चर्यजनक सगति बैठती है। यह तो सर्व विदित ही है कि स्वतन्त्र भारत के सविधान की सर्वसम्मत मूलप्रति पर राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी ने तबतक अपने हस्ताक्षर नही किये थे जब तक कि अहिसा के अवतार भगवान महावीर का उसके मुख्यपृष्ठ पर रेखाचित्र, उनका सक्षिप्त परिचय एव उनके सक्षिप्त उपदेश

उन पर सयुक्त नही कर दिये गये। अमूल्य विरासत के रूप मे वह प्रति सदा सदा के लिए प्रशासन द्वारा सुरक्षित कर दी गयी है। चूकि डॉ0 राजेन्द्र बाबू भगवान महावीर की अहिसा के महान् पुजारी थे, अत बहुत सम्भव है कि भारतीय दण्ड सहिता के निर्माण के पूर्व आचार्य समन्तभद्र के पचाणुव्रतो एव उनके पाच पाच अतिचारो का भी अध्ययन किया गया हो, अन्यथा उन दोनो मे आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर कैसे होती। वस्तुत यह तुलनात्मक अध्ययन एव स्वतन्त्र शोध का विषय है।

यदि लौकिक दृष्टि से देखे तो आचार्य समन्तभद्र स्वयबुद्ध समाजशास्त्री भी थे। उन्होने अपने सर्वोदय सिद्धान्त मे ऐसे ऐसे सूत्र गर्भित कर दिये थे, जिनका परवर्ती कालो मे विविध सामाजिक सन्दर्भो मे विश्लेषण किया गया और जो विशुद्ध भारतीय समाजवाद, साम्यवाद एव अन्त्योदय जैसे सिद्धान्तो के रूप मे उभरकर आये, जिनसे प्रभावित होकर आचार्य विनोबा भावे, लोकनायक नारायण जय प्रकाश आदि ने भूमि विहीनो, साधन हीनो, समाज के उपेक्षित वर्गो, दलितो, पतितो एव पीडितो के उद्धार तथा सामाजिक समरसता की भावना उत्पन्न करने मे अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। इस दृष्टि से आचार्य समन्तभद्र के भारतीय समाज पर जो अनन्त उपकार हैं, उन्हे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा।

वर्तमान युग मे हर व्यक्ति मानसिक तनाव से ग्रस्त है। हत्या, छल कपट, चोरी डकैती, अपहरण, बलात्कार रिश्वतखोरी, जमाखोरी, मिलावट आदि अपराध कर्मो के बढ जाने के कारण शान्त और सरल प्रकृति वालो का जीवन कठिन हो गया है। पुलिस एव सेना की सख्यातीत वृद्धि तथा सहारक विविध आग्नेयास्त्रो के उत्पादन की होड मे बडे बडे सक्षम एव समृद्ध राष्ट्र, राष्ट्र सम्पदा का बहुभाग व्यय कर डालते हैं और सामान्य जनता को दरिद्रता के कगार पर खडा करते आ रहे हैं। यही नही, साधन विहीन राष्ट्रो को अपना दास बनाकर अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु उनका अन्याय पूर्ण लाभ भी उठा रहे है। इन सभी प्रकृतियो के मूल मे उनकी लोभी और परिग्रही मनोवृत्ति ही है। तात्पर्य यह है कि उक्त समस्त विषम समस्यायो का समाधान सर्वोदयी मार्ग निर्देशक पचाणुव्रत अथवा श्रावकाचार के विधिपूर्वक पालन से सहज ही हो सकता है। यदि उसका निरतिचार पालन

मानव जीवन शैली का अनिवार्य अग बन जाये तब कोर्ट कचहरियो एव पुलिस थानो मे ताले पड जायेगे। सेना एव पुलिस की भी आवश्यकता नही रहेगी। आत्मविश्वास, आत्मगौरव, स्वाभिमान, राष्ट्राभिमान, करुणा, स्नेह, समन्वय तथा सभी के प्रति कल्याणकारी कामना को जागृत करने के लिए श्रावकाचार नि सन्देह ही सर्वश्रेष्ठ कुजी सिद्ध होगी।

उक्त श्रावकाचार पालन एव भारतीय दण्ड सहिता, दण्ड विधियो मे अन्तर यही है कि श्रावकाचार की दण्ड व्यवस्था तो स्वत गुरु के आदेशोपदेश पूर्वक प्रायश्चित् एव भावनात्मक आत्मशुद्धिकरण से सम्बन्धित है, जबकि भरतीय दण्ड सहिता की विविध धाराओ के अनुसार आर्थिक दण्ड अथवा शारीरिक दण्ड है, जिसमे पुलिस द्वारा मारपीट एव कारागार की सजा भी आती है। इस भा द सहिता मे भावना अथवा आत्मबुद्धि के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है। इसकी पचाणुव्रतो के पाच पाच अतिचारो के साथ तुलना अधोलिखित मानचित्र मे द्रष्टव्य है।

अध्याय सख्या	भारतीय दण्ड सहिता मे अपराध विवरण	धारा सख्या	पचाणुव्रतो अथवा उनके अतिचारो के नाम
1	प्रारम्भिक भूमिका	01	श्रावकाचार पूर्वक रहना तथा निर्दोष निरतिचार पचाणुव्रत पूर्वक जीवनयापन करना।
2	अपराधो की साधारण व्याख्याये	06–52	हिंसादि पाच पापो एव अहिसाणु व्रतादि पाच व्रतो के लक्षण, सभी व्रतो के अतिचारो के नाम एव उनकी व्याख्याये।
3	दण्डशिक्षा के विषय में	053–75	प्रमत्तयोग से श्रावकाचार के दोषो (अतिचारो) की शुद्धि के लिए प्रायश्चित।
4	साधारण अपवाद	076–106	प्रमत्तयोग न होने से अतिचार का बन्ध न होना।
5	प्रेरणा अथवा सहायता (व त्रिकरण) के विषय मे	0107–120	पाच अणुव्रत एव अतिचार।
6	राज्यविरुद्ध अपराधो के के विषय मे –	0121–130	विरुद्धराज्यातिकमातिचार–त्याग।
7	सेना सम्बन्धी अपराधो क विषय मे -	0131–140	विरुद्धराज्यातिक्रमातिचार -त्याग।

अध्याय सख्या	भारतीय दण्ड सहिता मे अपराध विवरण	धारा सख्या	पचाणुव्रतो अथवा उनके अतिचारो के नाम
8	सार्वजनिक स्वास्थ्य एव शान्ति के विरुद्ध अपराध कर्मों के विषय मे –	0141–160	अहिसाणुव्रत एव उसके पाच अतिचार।
9	राज्य सेवकों अथवा उनसे सम्बन्धित अपराधो के विषय मे –	0161–171	सत्याणुव्रत एव अचौर्याणुव्रत के अतिचार।
10	राज्य सेवको के विधिपूर्वक प्राधिकार की अवमानना के विषय मे –	0172–190	विरुद्धराज्यातिकमातिचार–त्याग।
11	झूठी गवाही और सार्वजनिक न्याय के विरुद्ध अपराध	0191–229	सत्याणुव्रत, मिथ्योपदेश विरुद्ध–राज्यातिकम के समस्त अतिचारो का त्याग।
12	राजकीय सिक्को तथा सरकारी स्टाम्प्स् सम्बन्धी अपराधो के विषय मे –	0230–263	प्रतिरूप्यकव्यवहार एव विरुद्धरा–ज्यातिकम अतिचार त्याग।
13	मापतौल सम्बन्धी अपराध	0264–267	हीनाधिकमानोन्मानातिचार त्याग।
14	सार्वजनिक स्वास्थ्य सुरक्षा सुविधा सदाचार तथा शिष्टाचार के विरुद्ध अपराधो विषय मे –	0268–294	अहिसाणुव्रत एव सत्याणुव्रत के समस्त अतिचारो का त्याग।
15	धर्म सम्बन्धी अपराध–	0295–298	अहिसाणुव्रत एव सत्याणुव्रत के समस्त अतिचारो का त्याग।
16	मानव शरीर के विरुद्ध अपराध –	0299–377	अहिसाणुव्रत एव सत्याणुव्रत के समस्त अतिचारो का त्याग।
17	सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध–	0378–462	अहिसाणुव्रत सत्याणुव्रत अचौर्या णुव्रत परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचारो का त्याग।
18	दस्तावेजो तथा व्यापार अथवा सम्पत्ति चिह्नो से सम्बन्धित अपराधो के विषय मे –	0463–489	सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत परिग्रह–परिमाणाणुव्रत के सभी अतिचारो विशेष रूप से कूटलेखकिया और प्रतिरूप्यकव्यवहार का त्याग।
19	सेवा सविदाओ (शर्तनामों) के विरुद्ध आपराधिक मामलो के विषय मे –	0490–492	सत्याणुव्रत अचौर्याणुव्रत के अति–चारो का त्याग।

अध्याय सख्या	भारतीय दण्ड सहिता मे अपराध विवरण	धारा सख्या	पचाणुव्रतो अथवा उनके अतिचारो के नाम
20	विवाह से सम्बन्धित अपराध	0493–498	ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारो का त्याग।
21	मानहानि	0499–502	सत्याणुव्रत के अतिचार।
22	आपराधिक अभित्रास (धमकी) अपमान तथा क्लेश देने के अपराधो के विषय मे –	0503–510	अहिसाणुव्रत तथा सत्याणुव्रत के अतिचारो का त्याग।
23	सामान्य अपराध करने के विषय मे –	0511	पाचो अणुव्रतो के अतिचारो का त्याग।

अत प्रत्येक विवकेशील श्रावक अथवा सद् गृहस्थ को विचार करना चाहिए कि जिस श्रावकाचार के सिद्धान्त इतने आदर्शपूर्ण, सार्वजनीन, सार्वभौमिक एव सार्वकालिक हो, उनको कण्ठस्थ कर लेने मात्र से कोई लाभ नहीं, उनकी सार्थकता तो इसमे है कि उन्हे जीवन मे अक्षरश उतारकर समाज एव राष्ट्र के नवनिर्माण मे सकिय सहयोग किया जावे। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डॉ0 नेमिचन्द्र जैन की मैं सराहना करता हूँ कि जिन्होने आचार्य समन्तभद्र की कृतियो का बहुआयामी विस्तृत मूल्याकन किया है। आचार्य समन्तभद्र के विभिन्न पक्षो पर यद्यपि पृथक् पृथक् रूप से कुछ शोधार्थियो द्वारा कार्य किये गये हैं, परन्तु मुझे जहा तक जानकारी है, उनकी समग्र कृतियो का एक साथ तुलनात्मक एव समीक्षात्मक अध्ययन अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हो सका है, उस कमी की पूर्ति डॉ0 नेमिचन्द्र ने की है। उन्होने मूलग्रन्थो के अध्ययन के साथ साथ तद् विषयक उपलब्ध अधिकाश शोध सामग्री का दीर्घकाल तक अध्ययन मनन एव चिन्तन किया है और ससन्दर्भ लेखन कार्य कर अपने ग्रन्थ को प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न भी किया है। उनकी यह लेखन कृति आगामी पीढी के लिए विविध प्रेरक सूत्र प्रदान करेगी, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

स्थान नोयडा — डॉ॰ राजाराम जैन

दिनाक 01 मार्च 2007

प्राक्कथन

समन्तभद्र जैन दार्शनिक इतिहास के प्रथम आचार्य हैं। उनके ग्रन्थ तीर्थंकर महावीर की परम्परा के चिन्तन को तर्क शैली मे प्रमाणशास्त्रीय पद्धति पर प्रतिष्ठापित करने के मूलाधार हैं। समन्तभद्र के पश्चात् सम्पूर्ण जैनदर्शन का चिन्तन और लेखन उनसे प्रभावित रहा है। यही कारण है कि अकलक, विद्यानन्द और वसुनन्दि जैसे तार्किको ने समन्तभद्र के ग्रन्थो पर विशाल भाष्य ग्रन्थो की रचना की। समन्तभद्र के पूर्व भी यद्यपि जैन वाङ् मय मे प्रमाणशास्त्र के बीज उपलब्ध होते हैं, पर परम्परा से प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तो की सर्वप्रथम समन्तभद्र ने ही प्रमाणशास्त्रीय तार्किक पद्धति पर विश्लेषित करँ प्रवृत्ति योग्य व्यवहार जगत मे प्रतिष्ठित किया।

अनेक शिलालेखो, ग्रन्थो, पट्टावलियो आदि साक्ष्यो में प्रयुक्त विभिन्न विशेषणो एव उनकी रचनाओ से उनके विराट् व्यक्तित्व का पता चलता है। नि सन्देह तार्किकचूडामणि, ज्ञानदिवाकर, न्याय एव दर्शन के विश्रुत आचार्य, प्रख्यात वाग्मी–वादी, बहुश्रुत के धनी कविचेता तथा सरस्वती की स्वच्छन्द भूमि मे विचरण करने वाले वे अनेक विशेषताओ से सम्पन्न थे। आप्तमीमासा जैसी कृति के आधार पर समन्तभद्र को यदि यह कहा जाये कि वे विश्वदार्शनिक कवि थे तो भी अत्युक्ति नही होगी, क्योकि उसमे विना किसी सम्प्रदाय के नामोल्लेख के तर्क की कसौटी पर कसे हुए, जो सभी का हितैषी और सर्वज्ञ हो, जिसकी वाणी युक्तिशास्त्र से अविरुद्ध हो उसको स्वीकारने की बात कही गयी है। सर्वप्रथम सर्वोदयतीर्थ की उद्घोषणा करने वाले महान् मानवतावादी दार्शनिक कवि आचार्य समन्तभद्र की कृतियो के एक एक वाक्य मे गागर मे सागर भरा हुआ है।

भारतीय दर्शन एव जैनप्रमाणशास्त्र के इतिहास मे आचार्य समन्तभद्र के महनीय योगदान को स्वीकार करके उन्नीसवीं और वीसवीं शताब्दी के सभी समालोचको ने उनकी कृतियो और उनके भाष्य ग्रन्थो के आधार पर समन्तभद्र के विचारो को समझने और उनके समय निर्धारण के प्रयत्न किये हैं। यही कारण है कि उनके समय के सम्बन्ध मे यत्किचित् वैमत्य पाया

जाता है। समन्तभद्र के समालोचक विद्वानो मे सर्वाधिक गवेषणात्मक विचार और कार्य स्व प जुगलकिशोर मुख्तार के है, जिन्होने उनके ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद के साथ समय आदि के सम्बन्ध मे प्रामाणिक जानकारी दी है। प्रो ए एन उपाध्ये डॉ हीरालाल जैन, डॉ दरबारीलाल कोठिया आदि विद्वानो ने भी अनेक शोध निबन्ध लिखकर उनके विषय मे अपने निष्कर्ष दिये हैं। दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे प्रस्तुत समन्तभद्र विषयक अपने शोधग्रन्थ मे डॉ नरेन्द्रकुमार जैन ने समन्तभद्र के समय और कृतियो पर उपलब्ध साक्ष्यो का पुनरीक्षण कर अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये है। उक्त सभी सामग्री मे समन्तभद्र के व्यक्तित्व एव समय आदि पर विस्तृत विचार किया गया है पर उनकी कृतियो का साहित्यिक काव्य मूल्यो की दृष्टि से मूल्याकन एव दार्शिनिक मन्तव्यो का पृथक् पृथक् समीक्षण अपर्याप्त प्रतीत हुआ। अत इस बिन्दु को ध्यान मे रखकर आचार्य समन्तभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व को शोध का विषय बनाया गया है। इस शोध प्रबन्ध मे आचार्य समन्तभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व को समालोचनात्मक दृष्टि से विवेचित करने वाले पॉच अध्याय है, जो अब भारतीय दर्शन के महामेरु आचार्य समन्तभद्र' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

'समन्तभद्र का व्यक्तित्व एव समय निर्धारण नामक प्रथम अध्याय है। इसमे दो परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद समन्तभद्र के व्यक्तित्व से सम्बन्धित है। इसमे विभिन्न शिलालेखो, ग्रन्थान्तरो, पट्टावलियो, पाण्डुलिपियो एव कथाओ के उल्लेखो का पुनरीक्षण करके उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। अब तक समन्तभद्र के समय निर्धारण के सम्बन्ध मे जो भी प्रयत्न हुए है, उन सभी मतो का पुनरीक्षण और पर्यालोचन करके 'समन्तभद्र का समय और उनकी कृतियो का सक्षिप्त परिचय' नामक इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे सर्वाधिक प्रमाणिक मत स्व मुख्तार साहब और स्व डॉ उपाध्ये के मतो का समर्थन किया गया है। साथ मे समन्तभद्र की कृतियो आप्तमीमासा युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्रम्, स्तुतिविद्या और रत्नकरण्डश्रावकाचार इन उपलब्ध कृतियो का सक्षिप्त परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय मे समन्तभद्र के स्तोत्र साहित्य का अनुशीलन किया गया है। इसमे तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मे स्तोत्र साहित्य के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा की गयी है। जिसमे जैन स्तोत्र काव्य रचना की परम्परा, ऐतिहासिक कम से स्तोत्र ग्रन्थो का विवरण स्तोत्र स्वरूप, भाषा, प्रयोजन, फल एव महत्व आदि पर विचार किया गया है। द्वितीय परिच्छेद मे समन्तभद्र के स्तोत्रो– स्वयम्भूस्तोत्रम् और स्तुतिविद्या का काव्यमूल्यो की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। इसमे प्रस्तुत काव्यो की प्रबन्धात्मकता दिखलाने के पश्चात् अलकार, छन्द रस, गुण, रीति आदि की योजना पर प्रकाश डाला गया है। यह इसलिए आवश्यक था कि सस्कृत साहित्य के मनीषियो ने समन्तभद्र की कृतियो के विना अध्ययन के ही काव्य रचना के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकाले है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार अपने परिमाण और समन्तभद्र कृत होने के सम्बन्ध मे विवादग्रस्त रहा है। इसलिए 'रत्नकरण्डश्रावकाचार परिशीलन' नामक तृतीय अध्याय मे उपर्युक्त सभी विन्दुओ पर विचार किया गया है। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार का परिचय एव विषयवस्तु' नामक इसके प्रथम परिच्छेद मे रत्नकरण्डकम् परिमाण, कर्तृता और उसकी विषयवस्तु के सम्बन्ध मे विचार किया है। द्वितीय परिच्छेद मे अणुव्रतो और शीलव्रतो की समीक्षा की गयी है तथा इनका ऐतिहासिक दृष्टि से स्थान निर्धारित किया गया है। मूलगुणो और प्रतिमाओ का समीक्षण इसी अध्याय के तृतीय परिच्छेद मे किया गया है।

आप्तमीमासा का अनुशीलन चतुर्थ अध्याय मे किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद मे आप्तमीमासा की विषयवस्तु का विश्लेषण है। यह इसलिए आवश्यक था कि समन्तभद्र की कृतियो के भाष्यकारो–टीकाकारो के विचारो को, कुछ समीक्षक विद्वानो ने समन्तभद्र के विचार मानकर ऐतिहासिक सन्दर्भ मे मिथ्या निष्कर्ष निकालकर दिग्भ्रमित किया है। समन्तभद्र के मूल विचार और टीकाकारो के विचार स्वतत्र रूप से परिलक्षित हो, एतदर्थ हमने आप्तमीमासा की विषयवस्तु का विश्लेषण ग्रन्थ की कारिकाओ के अनुक्रम मे ही किया है। इस अध्याय के 'आप्तमीमासा के दार्शनिक सिद्धान्त' शीर्षक द्वितीय परिच्छेद के अन्तर्गत सर्वज्ञ, अनेकान्त

स्याद्वाद, प्रमाण, नय आदि आप्तमीमासा मे प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तो को ऐतिहासिक सन्दर्भ मे आकने की कोशिश की गयी है। इसमे बताया गया है कि समन्तभद्र ने किस तरह अपने पूर्वाचार्यों से प्राप्त चिन्तन को तर्क की कसौटी पर कसकर प्रमाणशास्त्रीय रूप प्रदान किया। इस विश्लेषण से पता चलता है कि समन्तभद्र ने अपने चिन्तन से दोहरे दायित्व का निर्वाह बडी कुशलता से किया है, क्योकि उनके सामने जहा एक ओर पूर्वाचायो की परम्परा थी, जिसका उन्हे सरक्षण करना था, वही दूसरी ओर प्रमाणशास्त्र के रूप मे विकसित हो रही अन्य दार्शनिक परम्पराए भी थीं, जिनके साथ उनका सामजस्य दिखाना था। तृतीय परिच्छेद 'आप्तमीमासा एव अन्य भारतीय दर्शन' के अन्तर्गत आप्तमीमासा मे प्रतिपादित विभिन्न एकान्तवादो का वैदिक और अवैदिक दर्शनो के सन्दर्भ मे पर्यालोचन किया गया है।

युक्त्यनुशासन अनुशीलन नामक पचम अध्याय मे दो परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मे युक्त्यनुशासन का अन्तरग एव बहिरग परिचय देकर दार्शनिक विषयवस्तु जिन, जिन शासन, जिन शासन का महत्व अनेकान्त, स्याद्वाद प्रमाण आदि का विवेचन किया गया है। युक्त्यनुशासन एव अन्य भारतीय दर्शन नामक इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे विभिन्न एकान्तवादी मान्यताओ का षड्भारतीय दर्शनो के सन्दर्भ मे मूल्याकन किया गया है।

उपसहार शीर्षक के अन्तर्गत आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रमाण मीमासा , तत्वमीमासा, आचारमीमासा तथा साहित्यिक काव्यविधा के क्षेत्र मे किये गये उनके महनीय अवदान का सक्षेप मे उल्लेख करते हुए शोधप्रबन्ध का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। अन्त मे शोधप्रबन्ध को तैयार करने मे जिन ग्रन्थो का उपयोग किया गया है, उन ग्रन्थो की सन्दर्भसूची दी गयी है।

भारतीय दर्शनो मे ऐतिहासिक दृष्टि से जैन न्याय और दर्शन को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कराने वाले अदम्य तार्किक समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्याकन करना एक जटिल कार्य है। जिनके ग्रन्थो पर शताब्दियो पूर्व अष्टशती , अष्टसहस्री, गन्धहस्तिमहाभाष्य जैसे अर्थगाम्भीर्य से युक्त दार्शनिक विश्लेषणात्मक ग्रन्थो की रचना की गयी हो, उन पर मेरे जैसे अल्पबुद्धि का कार्य यद्यपि हास्यास्यपद होगा, फिर भी मेरे इस अध्ययन से प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थो के काव्यशास्त्रीय

मूल्याकन और जैन प्रमाणशास्त्र के अध्ययन की शृखला मे एक नयी कडी जुडेगी, ऐसा विश्वास है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध को तैयार करने मे प्रारम्भ से अन्त तक जिनका भी सहयोग प्राप्त हुआ है उन सभी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। मेरा यह सौभाग्य रहा है कि मुझे इस विषय पर कार्य करने का सुझाव प्राकृत और जैनविद्या के विश्रुत विद्वान् स्व नेमिचन्द शास्त्री ज्योतिषाचार्य, विभागाध्यक्ष, सस्कृत एव प्राकृत विभाग ह0 दा0 जैन कालेज, आरा ने दिया था तथा स्वय मुझे अपने निर्देशन मे लेकर इस कार्य का प्रारम्भ करवाया था, जिनका मैं हृदय से आभारी हूँ। इस बीच अप्रत्याशित शास्त्री जी के निधन हो जाने के कारण मेरे मन को अत्यधिक आघात पहुँचा और मेरे मन मे शोधप्रबन्ध पूर्ण करने के प्रति विरक्ति का भाव आ गया। कुछ अन्तराल के पश्चात् सस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी, प्राकृत और अपभ्रश भाषाविद् श्रेष्ठ गवेषक एव लेखक श्रद्धेय डॉ राजाराम जी जैन सस्कृत और प्राकृत विभागाध्यक्ष ह0 दा0 जैन कालेज , आरा ने मेरे मन मे शोधकार्य करने की एक ज्योति जगायी और कहा कि स्व शास्त्री जी के प्रति सच्ची श्रद्धाजलि तभी होगी जब मै अपना शोधकार्य पूर्ण कर लू। उक्त प्रेरणा देने के साथ उन्होने स्वय अपने निर्देशन मे मुझे स्थानान्तरित करवा लिया तथा मन, वचन, काय से मेरा पूर्ण सहयोग किया। सेवानिवृत्त होने के बाद जब डॉ0 साहब आरा से नोयडा आ गये तब मैने उनसे अपने शोधप्रबन्ध को प्रकाशित कराने की अनुमति चाही, उन्होने न केवल मेरे इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया, अपितु उन्होने इसके पुरोवाक् लिखने के मेरे अनुरोध को भी सहर्ष स्वीकार कर मुझ पर उन्होने असीम कृपा कर दी। एतदर्थ मै डॉक्टर साहब के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ उनका आभार मानता हू। इस कार्य को पूर्ण करने के लिए डॉ दरबारी लाल कोठिया, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, जैन बौद्ध दर्शन विभाग, धर्म विज्ञान सकाय, का0 हि0 वि0 वि0 वाराणसी एव डॉ गोकुल चन्द्र जैन विभागाध्यक्ष प्राकृत विभाग, श्रमण विद्या सकाय स0 स0 वि0 वि वाराणसी की भी प्रेरणाए रही है, उनके प्रति मै हृदय से आभारी हूँ।

जैनदर्शन के विद्वान् डॉ नरेन्द्रकुमार जैन, सस्कृत विभागाध्यक्ष उत्तर प्रदेश राजकीय महाविद्यालयीय उच्च शिक्षा, सम्प्रति गाजियाबाद का मै

विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होने अपने व्यस्त क्षणो मे समय देकर मेरे शोधप्रबन्ध को परीक्षणार्थ प्रस्तुत करने योग्य बनाने मे सहयोग प्रदान किया तथा सम्पादकीय लिखने के मेरे अनुरोध को स्वीकार कर उन्होने मुझे अत्यन्त उपकृत किया है। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती लता सिघई का भी ऋणी हूँ जिनके सहयोग के कारण मै दीर्घावघि तक वाराणसी और गाजियाबाद मे रहकर अपना शोधकार्य कर सका हूँ। श्री कुन्दकुन्द जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय खतौली, उ0 प्र0 के सस्कृत विभागाध्यक्ष विद्वान मनीषी डॉ0 कपूरचन्द्र जैन ने अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर प्रकाशकीय लिखने का कष्ट किया जिसके प्रति मै उनका अत्यन्त आभारी हू। धर्मपत्नी श्रीमती सरोज एव अपने पुत्र पुत्रियो के त्याग और कर्तव्यनिष्ठा की सराहना करता हूँ, जिन्होने मुझे गृहस्थ जीवन की चिन्ताओ से मुक्त रखकर, इस कार्य हेतु सदैव प्रेरित और यथासम्भव सहयोग करते रहे। मेसर्स दीप प्रिण्टर्स, नई दिल्ली के प्रबुद्ध सचालक श्री मनोहर लाल जैन एव श्री रवि जैन को अत्यन्त साधुवाद देता हू, जिन्होने पुस्तक को सुन्दर बनाने मे पूर्ण प्रयत्न किया।

वस्तुत शोधप्रबन्ध विश्वविद्यालय को परीक्षणार्थ सन् 1989 मे प्रस्तुत किया गया था। अद्यावधि इसकी विषयवस्तु, भाषा आदि मे कोई भी परिवर्तन नही किया गया है, जिससे शोधप्रबन्ध मे यत्रतत्र पाठको को तत्समय की मेरी अपरिपक्व बौद्धिक स्थिति का भान हो सकता है, आशा है प्रज्ञापुरुष मुझे उन त्रुटियो से अवश्य अवगत करायेगे जिससे मै इसके द्वितीय सस्करण मे त्रुटियो को परिमार्जित कर सकू। अन्त मे उन सभी लेखको का आभार मानता हूँ जिनकी पुस्तको का उपयोग शोधप्रबन्ध को तैयार करने के लिए किया गया है। इस कार्य मे पूर्णत यह प्रयत्न किया गया है कि कोई त्रुटिया न रह जाये फिर भी अल्पबुद्धि मुझसे त्रुटिया रह जाना सम्भव है, जिसके लिए मै पाठको से क्षमा चाहता हूँ।

खुरई, सागर (म॰प्र॰)
दिनाक– 31 3 2007 – डॉ नेमिचन्द्र जैन

विषय सूची

प्रथम अध्याय

आचार्य समन्तभद्र : व्यक्तित्व और समय निर्धारण

परिच्छेद प्रथम

समन्तभद्र का व्यक्तित्व

प्रास्ताविक

भारतीय दर्शन के क्षितिज पर आचार्य समन्तभद्र का जन्म यथार्थ मे असाधारण एव अभूतपूर्व माना जाता है। तार्किक चूडामणि, ज्ञानदिवाकर , न्याय एव दर्शन के विश्रुत आचार्य , प्रख्यात वाग्मी व वादी, बहुश्रुत के धनी, कविवेत्ता तथा सरस्वती की स्वच्छन्द विहार भूमि मे विचरण करने वाले वे अनेक विशेषताओ से सम्पन्न थे। उनके सम्बन्ध मे विभिन्न दिगम्बर आचार्यो ने जिन विशेषणो का प्रयोग किया है, वास्तव मे वे अत्यन्त अर्थपूर्ण तथा सटीक हैं। दर्शन और न्याय के क्षेत्र मे आचार्य समन्तभद्र एकाकी नही हैं, अपितु उनकी पूर्ववर्ती सुदीर्घ श्रमण चिन्तन परम्परा है। जैनधर्म दर्शन का समग्र चिन्तन तीर्थंकरो से प्राप्त है, उनका चिन्तन गौतम गणधरादि केवलियो एव श्रुतकेवलियो से भद्रबाहु, गुणधर, धरसेन, कुन्दकुन्द, उमास्वामी आदि आचार्यो से होता हुआ अद्यावधि जीवन्त है। दार्शनिक परम्परा के प्रारम्भिक काल मे निर्ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द,, उमास्वामी और समन्तभद्र प्रमुख थे। आचार्य कुन्दकुन्द यदि अध्यात्म के सुमेरु थे तो आचार्य उमास्वामी हिमधवल शिखर, इन आचार्य द्वय से प्रमेय रूप मे उपलब्ध दार्शनिक सिद्धान्तो को आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाणशास्त्रीय तार्किक पद्धति पर विश्लेषित कर प्रवृत्ति योग्य व्यवहार जगत् मे प्रतिष्ठित किया था।

समन्तभद्र विषयक जितने भी सन्दर्भ प्राप्त होते हैं उनसे उनके विराट् व्यक्तित्व का पता चलता है, पर उनके व्यक्तिगत जीवन, जन्म, जन्मस्थान, माता पिता, पूर्वनाम, साधु दीक्षा का समय, दीक्षा गुरु, दीक्षोच्छेद, पुनर्दीक्षा ग्रन्थ रचना आदि की प्रामाणिक एव स्पष्ट कोई भी जानकारी प्राप्त नही होती फिर भी उपलब्ध साक्ष्यो के आधार पर विद्वानो ने उनके व्यक्तित्व पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

जीवन परिचय

समन्तभद्र के जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए उनकी कृतिया, शिलालेख, कथाए परवर्ती आचार्यों आदि के उल्लेख ही सहायक हो सकते हैं। यद्यपि समन्तभद्र ने परम्परा के अनुसार अपनी किसी भी रचना मे स्वय के नाम का उल्लेख नही किया है। इसलिए यह कहना बहुत कठिन है कि उनका बचपन का नाम क्या था उनके गुरू कौन थे और उनका जन्म किस कुल मे हुआ था, शिलालेखो मे भी उनके नाम के साथ विभिन्न विशेषणो का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही मिलता फिर भी उनके जीवन के सम्बन्ध मे प्राप्त किवदन्तियो एव कथानको के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि वे एक स्वाभिमानी आचार्य थे। वे अपने जीवन मे सत्य के सिवाय किसी के सामने नही झुके। अपनी शुद्धात्मा और परमात्मा पर उनको इतना दृढ विश्वास था कि सकट काल मे भी विभिन्न परीक्षाओ की घडियो मे वे अपनी मान्यता एव मर्यादा से किचित भी विचलित नही हुए। उन्हे अपने ज्ञान और चारित्र पर दृढ आस्था थी। वे सच्चे सम्यक् दृष्टि नि शक निर्भय एव निर्वाछक सत्पुरुष थे।

नामोल्लेख

आप्तमीमासा आदि ग्रन्थो के कर्ता के रूप मे समन्तभद्र, स्वामी समन्तभद्र, समन्तभद्र यति आचार्य समन्तभद्र समन्तभद्राचार्य, समन्तभद्रदेव सामन्तभद्र वनवासी आदि के रूप मे विभिन्न नागो का उल्लेख पाया जाता है। प्राय इन्ही नामो से विभिन्न शिलालेखो और परवर्ती आचार्यो के द्वारा उन्हे अभिहित किया गया है। प्रतीत होता है कि यही नाम उनके वाल्यावस्था का भी रहा होगा। यद्यपि इसकी पुष्टि किसी अन्य सन्दर्भ से नही होती, वल्कि पुष्पिकावाक्यो, कथाओ और स्तुतिविद्या के सन्दर्भो से उनका वाल्यावस्था का नाम दूसरा भी सिद्ध किया जाता है। नामोल्लेख से सम्बन्धित इस विवेचन को तीन रूपो मे वर्गीकृत कर विचार किया जा सकता है।

1 स्वप्रणीत कृतियो मे नामोल्लेख
2 परवर्ती आचार्यो कवियो एव टीकाकारो द्वारा किये गये उल्लेख
3 शिलालेखो एव पट्टावलियो के उल्लेख

स्वग्रन्थ नामोल्लेख

समन्तभद्र की उपलब्ध कृतियो मे युक्त्यनुशासनम्[1] एव स्वयम्भूस्तोत्रम[2] मे समन्तभद्र शब्द का उल्लेख पाया जाता है परन्तु यह लेखक के रूप मे समन्तभद्र को अपना नाम देना अभीष्ट रहा हो ऐसा प्रतीत नही होता। प्राचीन भारतीय वाड् मय के प्रणेताओ ने प्राय अपने ग्रन्थो मे अपना परिचय तथा अपने नाम का उल्लेख नही किया है। यद्यपि कतिपय विद्वानो ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि उपर्युक्त कृतियो मे जहा समन्तभद्र का उल्लेख पाया जाता है उससे लेखक का नाम सिद्ध होता है। परन्तु हमारी समझ मे वहा लेखक को अपना नाम देना अभीष्ट न होकर अर्थ वैशिष्ट्य के लिए ही समन्तभद्र शब्द का प्रयोग किया गया है। फिर भी यदि समन्तभद्र द्वारा सन्दर्भित पद्यो मे अपने नाम का उल्लेख किया गया है तो निश्चित रूप से यह एक महान् ऐतिहासिक उपलब्धि है।

टीकाकारो द्वारा किये गये नामोल्लेख

अष्टशती– सातवी शती के आचार्य अकलक ने आप्तमीमासा पर अष्टशती नामक सस्कृत वृत्ति के प्रारम्भ मे समन्तभद्र का महत्व प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि' इस महान् कलिकाल मे भव्य जीवो के आन्तरिक मल को दूर करने के लिए सम्पूर्ण तत्वो को विषय करने वाले स्याद्वाद रूपी पुण्योदधितीर्थ के प्रभाव को आचार्य समन्तभद्र ने सर्वत्र फैलाया है।[3], वे समस्त जीवो को सूर्य के समान अन्त प्रकाश देने वाले और स्याद्वाद मार्ग के परिचालक थे।

अष्टसहस्री– नवी शती के भाष्यकार आचार्य विद्यानन्द ने समन्तभद्र कृत आप्तमीमासा अपर नाम देवागमस्तोत्र पर लिखी अष्टसहस्री नामक सस्कृत टीका मे समन्तभद्र की वर्द्धमान, उद्भूतबोधमहिमान, अनिन्द्यवाक् आदि

विशेषणो से स्तुति की है।[4] अष्टसहस्री के सभी परिच्छेदो के अन्त मे समन्तभद्र की स्तुति उनके सिद्धान्तो और वाणी के महत्व के सूचक पद्यो के द्वारा की गयी है। उनमे बताया गया है कि समन्तभद्र की वाणी बडे बडे बुद्धिमानो द्वारा प्रपूज्य, उज्ज्वल गुणो के समूह से उत्पन्न, सत्कीर्तिरूपी सम्पत्ति से युक्त, अपने तेज से सूर्य की किरणो को जीतने वाली, सप्तभगी विधि के द्वारा प्रदीप्त निर्मल प्रकाश से युक्त, भाव अभाव आदि के एकान्तपक्ष रूपी हृदय के अन्धकार को दूर करने वाली, अलघ्यवीर्य, स्यात्कार रूपी अमोघमन्त्रका प्रणयन करने वाली, शुद्धसद्ध्यानधीरा, उद्भूतमुद्रा, एकान्त रूपी गरल विष के उद्रेक को दलने वाली एव सतत् अनेकान्त रूपी अमृत रस के सिचन से प्रवृद्ध तथा प्रमाण और नयो के अधीन प्रवृत्ति वाली है।[5] अष्टसहस्री के अन्त मे समन्तभद्र को यतियो के नायक, स्याद्वाद मार्ग के अग्रणी विभु और भानुमान विशेषणो से युक्त बताते हुए परीक्षावानो के लिए सम्पूर्ण कुनीति वृत्तिरूपी नदियो को सुखा देने वाला और उनके वचनो को निर्दोष नीति से सयुक्त होने के कारण सुन्दर और तत्त्वार्थ समूह का द्योतक बताया हैं।[6]

युक्त्यनुशासनालकार— युक्त्यनुशासनालकार, युक्त्यनुशासन की टीका मे विद्यानन्द ने समन्तभद्र को समस्त तत्त्वो की समीक्षा करने वाला परीक्षेक्षण पद से सम्बोधित किया है।[7]

देवागमवृत्ति— वारहवीं शती के आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने देवागमवृत्ति के मगलाचरण मे आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध मे लिखा है कि कुज्ञान रूपी आतप के निवारण हेतु धारण किये गये देदीप्यमान छत्र की तरह लक्ष्मीभूत, परम, निरुक्तिनिरत, निर्वाणसौख्यप्रद, सम्यक् ज्ञान, नय और युक्तिवादी मुक्ताफलो से अत्यन्त शोभायमान, कालदोष को नष्ट करने वाले समन्तभद्र के मत की वन्दना करता हू। वृत्ति के अन्त मे समन्तभद्र की उपमा सिह से देते हुए उन्हे प्रमाण और नय रूपी तीक्ष्ण नखो एव दष्ट्राओ द्वारा कुनय रूपी मद से विह्वल प्रवादी रूपी हाथी के गण्डस्थल विदारित करने वाले तथा परमार्थ की सुस्पष्ट व्याख्या करने वाले परमात्मा के रूप मे उनका स्मरण किया है।[8]

स्वयम्भूस्तोत्र की टीका

पण्डित प्रभाचन्द्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र की लघुकाय टीका मे समन्तभद्र का नाम आदर के साथ लिया गया है।[9]

रत्नकरण्डकश्रावकाचार टीका

प्रभाचन्द्र ने रत्नकरण्डकम् पर भी सस्कृत टीका लिखी है , जिसके प्रारम्भ मे उन्होने श्लेष से समन्तभद्र का स्मरण किया है।[10] ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है कि जिन्होने भव्य जीवो के चित्त मे प्रविष्ट सम्पूर्ण अज्ञान रूपी अन्धकार को सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य की किरणो से नष्ट करके सम्पूर्ण सागार मार्ग को प्रकट किया है। ससार रूपी सरिता को सुखा देने वाले 'रत्नकरण्डकम्' रूपी स्वच्छ सूर्य समन्तभद्र मुनि प्रभाचन्द्र जिनेन्द्र जयवन्त है।[11]

जिनशतकालकार

नरसिहभट्ट ने जिनशतकम् अपर नाम स्तुतिविद्या की सस्कृत टीका मे कहा है कि तीनो लोक जिनकी यशरूपी कान्ति से निर्मल हुये हैं, वर गुणालय और सद्बोधरूप समन्तभद्र की स्तुति करता हूँ।[12]टीकाकार ने जिनशतकम् की विशेषताये बताते हुए समन्तभद्र को समस्त गुणगणोपेत, सर्वालकारभूषित घनकठिनघातिकर्मेन्धनदहन समर्थ और तार्किक चूणामणि आदि विशेषणो से अलकृत किया है।[13]

पाण्डुलिपियों के पुष्पिकावाक्य

मूडविद्री[14], कोल्हापुर[15], बाहुबली[16], पूना[17], दिल्ली[18] आदि मे उपलब्ध आप्तमीमासा की कन्नड लिपि मे लिखित ताडपत्रीय पाण्डुलिपियो मे समन्तभ्द्र के परिचय विषयक निम्नलिखत पुष्पिकावाक्य पाये जाते हैं –

'इति फणिमण्डलालकारस्योरगपुरस्याधिपसूनो· श्रीसमन्तभद्रदेवस्य मुने कृतावाप्तमीमांसायाम्' ।

इस पुष्पिकावाक्य मे समन्तभद्र को फणिमण्डल के अलकारभूत उरगपुर के अधिपति का पुत्र कहा गया है। स्व0 जुगलकिशोर मुख्तार ने उक्त

पुष्पिकावाक्य को उस प्राचीन ताडपत्रो पर लिखी हुई आप्तमीमासा की प्रति का बताया है जो श्रवणवेलगोल के दौर्बलि जिनदास शास्त्री के भण्डार मे है।[19] मुख्तार साहब के उत्तरवर्ती सभी विद्वानो ने यही आधार मानकर समन्तभद्र के जन्म पितृकुल आदि के सम्बन्ध मे लिखा है। उक्त प्रति के अलावा दक्षिण भारत एव उत्तर भारत के सभी शास्त्रभण्डारो मे उपलब्ध कन्नड भाषा की पाण्डुलिपियो मे उक्त पुष्पिकावाक्य पाया जाता है। अष्टशती के किसी भी भाष्य मे उक्त पुष्पिकावाक्य नही है। युक्त्यनुशासनम् के अन्त मे प्राप्त पुष्पिकावाक्य मे ग्रन्थ को समन्तभद्र स्वामिकृत बताकर उसे परमेष्ठिस्तोत्र कहा गया है।[20] युक्त्यनुशासनालकार की पाण्डुलिपियो के पुष्पिकावाक्यो से कोई भी तथ्य उपलब्ध नही होते। स्वयम्भूस्तोत्रम् की अधिकाश पाण्डुलिपिया कन्नड या सस्कृत टीका सहित प्राप्त होती हैं। सस्कृत टीका की पाण्डुलिपियो के अन्त मे निम्नलिखित पुष्पिका वाक्य पाया जाता है – **इति श्रीपण्डितप्रभाचन्दविरचिताया कियाकलापटीकायां समन्तभद्रकृत वृहत्स्वयम्भूस्तोत्रस्य टीका**[21] इससे ज्ञात होता है कि पण्डित प्रभाचन्द ने क्रियाकलाप टीका लिखी थी, जिसके अन्तर्गत समन्तभद्रकृत स्वयम्भूस्तोत्रम् की टीका भी सम्मिलत थी । क्रियाकलाप टीका की जो पाण्डुलिपिया प्राप्त होती हैं उनमे भी स्वयम्भूस्तोत्र सम्मिलित किया हुआ प्राप्त होता है।[22]

जिनशतकम्

जिनशतकम् की मूल प्रति के अन्त मे निम्न लिखित पुष्पिकावाक्य पाया जाता है[23] – **श्रीसमन्तमद्राचार्यस्य कविगमकवादिवाग्मिगुणालकृतस्य कृतिरियं जिनशतकनामा** – इसमे समन्तभद्र को कवित्व, गमकत्त्व, वादित्व, वाग्मित्व आदि गुणो से अलकृत बताया है।

जिनशतकालंकार

जिनशतक की टीका जिनशतकालकार की पाण्डुलिपियो मे कुछ शब्दो के हेरफेर से निम्न पुष्पिकावाक्य पाया जाता है[24] – **श्रीसमन्तमद्राचार्यस्य कविगमकवादिवाग्मित्वगुणालकृतस्य कृतिरय जिनशतकनामा तस्य कृतिरिय श्रीनरसिंहमट्टमहाकवि भव्योत्तम विरचिता समाप्ता।**

रत्नकरण्डकम्

रत्नकरण्डकम् की प्राय सभी प्रतियो मे निम्नलिखित पुष्पिकावाक्य पाया जाता है[25] – **इति समन्तभद्रस्वामी विरचिते रत्नकरण्डकनामोपासकाचार ग्रन्थे ।**

उपर्युक्त सन्दर्भो से यह सिद्ध होता है कि एकाध सन्दर्भो को छोडकर सर्वत्र उनका नाम स्वामी समन्तभद्र, समन्तभद्र, अथवा स्वामी के रूप मे उपलब्ध होता है। आप्तमीमासा की सस्कृत एव कन्नड प्रतियो के पुष्पिकावाक्यो मे समन्तभद्र को उरगपुर के अधिपति का पुत्र बताया गया है। इस सन्दर्भ से उनके जन्मस्थान और कुल की सूचना प्राप्त होती है। दीक्षा गुरू आदि की सूचना उपल्ब्ध नहीं होती।

शिलालेखीय साक्ष्य

दक्षिण भारत मे श्रवणबेलगोल, हुम्मच और बेल्लूर मे चार चार तथा अन्य तीन स्थानो के इक्कीस इस तरह उपलब्ध तेतीस शिलालेखो मे समन्तभद्र के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त होती है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख

शक सवत 1085 मे उत्कीर्ण शिलालेख मे सख्या 40/64 मे गौतम, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त, पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, उमास्वामि, गृद्धपिच्छ और उनके शिष्य बलाकपिच्छ के बाद समन्तभद्र का उल्लेख है।[26] इसमे समन्तभद्र को स्याद्वाद मुद्राकित तत्त्वदीप , गुणितोगणीश और वादीभसिह कहा गया है। शक सवत् 1050 मे उत्कीर्ण मल्लिषेण प्रशस्ति मे गौतम, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त और कुन्दकुन्द के पश्चात् समन्तभद्र का उल्लेख किया गया है।[27] शक स0 1320 के शिलालेख मे इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि अनेक नामो के पश्चात् कुन्दकुन्द उमास्वामी, गृद्धपिच्छ बलाकपिच्छ के बाद समन्तभद्र को वादीभवज्रकुश, सूक्तिजाल, आदि विशेषणो से सम्बोधित करते हुए उनको वादीरूपी हस्तियो को वश मे करने के लिए वज्राकुश का काम देने वाला कहा है तथा उनके लिए स्फुटरत्नदीप की उपमा दी गयी है। समन्तभद्र के बाद ससार सागर को तरने के लिए पोतरूपी तत्त्वार्थसूत्र को अलकृत

करने वाले उनके शिष्य शिवकोटि का नामोल्लेख है।[28] शक स0 1320 के ही एक अन्य शिलालेख मे वर्द्धमान गौतम, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त, कुन्दकुन्द, उमास्वाति और बलाकपिच्छ के बाद समन्तभद्र का नाम उत्कीर्ण है। इस शिलालेख मे समन्तभद्र को भद्रमूर्ति, जिनशासन प्रणेता तथा वचनरूपी वज्र के कठोरपात से प्रतिवादि रूपी पर्वतो को चूर करने वाला कहा हैं।[29]

हुम्मच के शिलालेख

हुम्मच के शक स0 999 मे उत्कीर्ण कन्नड भाषा के शिलालेखो से भी कई ऐतिहासिक तथ्यो का पता चलता है। इसमे लिखा है कि समन्तभद्र भद्रबाहु के वशक्रम मे हुए तथा कलिकाल गणधर शास्त्रकार कहलाये।[30] उनकी शिष्य परम्परा मे क्रम से शिवकोटि, वरदत्ताचार्य, आर्यदेव , गगराज के सस्थापक सिहनन्दि और बाद मे एकसधि सुमतिभटटारक हुए। यहा के शिलालेखो से यह भी समर्थन होता है कि सिहनन्दि समन्तभद्र के बाद हुए, जो शक स0 999 तथा 1069 के उत्कीर्ण है।[31] 1530 ई0 मे उत्कीर्ण यहा के एक शिलालेख मे समन्तभद्र के देवागम नामक स्तोत्र पर अकलक का भाष्य और विद्यानन्द के आप्तमीमासालकार महाभाष्य का उल्लेख हैं।[32]

वेल्लूर के शिलालेख

शक स0 1059 मे उत्कीर्ण वेल्लूर के शिलालेख मे विक्रमगग विष्णुवर्द्धनदेव की गुरू परम्परा दी हुयी है। जिसमे वर्द्धमान स्वामी के बाद केवलियो और श्रुतकेवलियो के पश्चात् जिनशासन के प्रभाव को सहस्र गुणा बढाने वाले समन्तभद्रस्वामि का नाम दिया हुआ है। तत्पश्चात् द्रमिल सघके अग्रणी पात्रकेशरी का नाम उल्लिखित है।[33] अनुमानित सन् 1680 के लगभग उत्कीर्ण यहीं के एक शिलालेख मे समन्तभद्र मुनि को नमस्कार किया गया है।[34] सन् 1680 के ही एक अन्य शिलालेख मे क्रमश वीरसेन को स्वामि समन्तभद्र का शिष्य तथा लक्ष्मीसेन भट्टारक को उनका प्रशिष्य बतलाया गया है। एक जगह यह भी उल्लेख है कि लक्ष्मीसेन समन्तभद्र के शिष्य थे।[35]

दक्षिण भारत के अन्य शिलालेख

शक स0 996 मे उत्कीर्ण **बन्दलिके** के शिलालेख मे सर्वप्रथम समन्तभद्र का उल्लेख कर बाद मे पूज्यपाद और उनके बाद अकलक आदि आचार्यो के नामो का उल्लेख किया गया है।[36] शक स0 1047 के **चल्लग्राम वयिर देव** मन्दिर के एक शिलालेख मे आकुलतिलक अगगुरूकुल के श्रीमद् द्रमिणगण के नन्दिसघ की अरूगुल अन्वय की अचार्यावलि मे महावीर, गौतम आदि और श्रुतकेवलियो के बाद समन्तभद्र का नाम दिया गया है।[37] उस शिलालेख मे उन्हे समस्तविद्या की निधि बतलाया गया है। **बलगाम्बे** के 1077 ई0 के उत्कीर्ण शिलालेख मे समन्तभद्र की कविता के गुणो की उत्कृष्टता बताई गयी है।[38] शक स0 1082 मे उत्कीर्ण **कबली** के एक शिलालेख मे समन्तभद्र का नाम भूतवलि पुष्पदन्त भट्टारक के बाद उल्लिखित है।[39] शक स0 1070 मे उत्कीर्ण **बिन्दूर** के शिलालेख मे समन्तभद्र को द्रमिल सघ के अन्तर्गत नन्दिसघ के अरूगल अन्वय का बताया गया है।[40]

शक स0 1105 मे वसवनपुर मे उत्कीर्ण शिलालेख से अवगत होता है कि द्रमिल सघगत नन्दिसघ के अरूगल अन्वय मे समन्तभद्र हुए थे और वे मुनीश्वर कहलाते थे तथा उन्होने वाराणसीश्वर के सामने विपक्षियो को विजित किया था। इससे सम्बन्धित शिलालेख दृष्टव्य है[41] –

श्रीमद्द्रमिलसघेऽस्मिन्नन्दिसघेऽस्त्यरुगलः।
अन्वयो भाति नि.शेषशास्त्रवाराशिपारगैः ।।
समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वर.।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विश· ।।

चामराजनगर के सन् 1117 मे उत्कीर्ण शिलालेख मे समन्तभद्र को द्रविडान्वय का आचार्य बताया गया है। शक स0 1120 के **सुकदरे** के शिलालेख मे समन्तभद्र को द्राविड सघ का बताया गया है।[42] शक स0 1127 मे **कलहोली** मे कन्नड लिपि मे उत्कीर्ण शिलालेख मे समन्तभद्र का उल्लेख सम्मानपूर्वक किया गया है।[43] 1128 ई मे उत्कीर्ण हुए **साबनूर** के

शिलालेख मे समन्तभद्र को द्रविण सघ के नन्दिसघ के अरुगलान्वय मे होना बताया है।[44] वर्ष कोधन सवत्सर 1154 ई मे **यल्लादहल्लि** मे उत्कीर्ण ' **गळदिव्यतीर्थदोळु केवलिगळु बुद्धिप्राप्तरु अप्प परममुनिगळु सिद्धसाध्यरुमगि तत्तीर्थ सामार्थ्यम सहस्रगुण माडि समन्तभद्रस्वामिगळु वकलकदेवरूम्** ।[45]' इस शिलालेख मे समन्तभद्र का नाम केवलियो और श्रुतकेवलियो की परम्परा मे लिया गया है। **बुद्रि** 1139 एव **बोगादि** 1145 ई॰ के शिलालेखो मे समन्तभद्र को पापो का नाश करने वाल' तथा महान् वादी बताया गया है। सन् 1229 कलकेरी के शिलालेख मे समन्तभद्र को नागेयसेट्टि और मादब्बे के पुत्र मादेय्य का गुरू बताया है।[46]

शक स 1521 **नागपुर** के शिलालेख मे समन्तभद्र को श्रीमूल सघ के सेनगण[47] के बृषभसेन गणधर के अन्वय मे होना बताया गया है। सन् 1584 के **येडेहल्लि** मे उत्कीर्ण तीन शिलालेखो मे वीरसेन के गुरू गुणभद्र तथा उनके प्रगुरू के रूप मे समन्तभद्रदेव का उल्लेख है।[48] **करन्दे – उत्तर अर्काट मद्रास** – के 16 वीं शती के शिलालेख मे पुष्पसेन योगीन्द्र के गुरू समन्तभद्र की अक्षयकीर्ति का वर्णन है।[49]

मूडविदरे के एक शिलालेख मे यह उल्लेख किया गया है कि समन्तभद्रदेव ने बेहकेरी तथा मादलगडिकेरी मे दीपावलि त्योहार पर पत्थर लाठी से लडने की प्रथा बन्द करायी।[50]

उपर्युक्त शिलालेखीय साक्ष्यो के आधार पर यह जानकारी प्राप्त होती है कि समन्तभद्र एक विशाल व्यक्तित्व के धनी थे। प्रयुक्त विशेषणो से उनके अगाध पाण्डित्य, वाद करने की अजेय शक्ति , स्याद्वाद के प्रभावक आचार्य आदि की जानकारी प्राप्त होती है। यह भी ज्ञात होता है कि भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद श्रुतकेवलियो की परम्परा के बाद प्रमुख आचार्यो एव साधक लेखको की परम्परा मे समन्तभद्र एक अत्यन्त आदर के पात्र एव सार्वलौकिक प्रतिष्ठा के धनी थे। पूज्यपाद का कई शिलालेखो मे समन्तभद्र के बाद उल्लेख होने के कारण इस बात की पुष्टि हो जाती है कि पूज्यपाद समन्तभद्र के बाद हुए।

पट्टावलि साक्ष्य

सेनगण की पट्टावलि मे आचार्यो की कमबद्ध परम्परा न होने पर भी समन्तभद्र को सेनगण का आचार्य बताया गया है।[51] तपागच्छ श्वेताम्बर पट्टावलि मे श्रीबज्रसेन और श्रीचन्द्रसेन के बाद उनके पट्ट मे श्रीसामन्तभद्र सूरि – वनवासी– का उल्लेख किया गया है[52] इस पट्टावलि की स्वोपज्ञवृत्ति मे धर्मसागर जी ने लिखा है कि चन्द्रसूरि के पट्ट मे सोलहवे सामन्तभद्र सूरि हुए हैं, जो पूर्वगत श्रुत विशारद वैराग्यनिधि से पूर्ण होने के कारण देवकुल, वन आदि मे रहने के कारण वनवासी कहे जाते थे, जिससे उनका चतुर्थ नाम वनवासी हुआ[53] इस पट्टावलि की गुजराती व्याख्या मे श्री कल्याण विजय जी ने लिखा है कि ये ही सामन्तभद्र सूरि हैं, जिन्होने आप्तमीमासा , युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ रचे थे। उन्होने आप्तमीमासा ग्रन्थ अपने शिष्य वृद्धदेव सूरि की ज्ञान प्राप्ति के लिए रचा था।[54] इस पट्टावलि मे सोलहवे सामन्तभद सूरि के पहले हुए पन्द्रहवे श्रीचन्द्र सूरि के स्वर्गगमन का समय वीर नि० स० 543 दिया है। इसलिए सामन्तभद्र सूरि के पट्टाचार्य रूप के प्रारम्भ का समय वीर नि० स० 643 अर्थात् विक्रम स० 173 निश्चित है। सामन्तभद्र सूरि के पश्चात् हुए सत्रहवे श्रीबुद्धदेव सूरि द्वारा वीर नि० स० 695 मे कोरटक नामक नगर मे नाहण मत्री द्वारा बनबाये गये प्रासाद मे प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है।[55]

सेनगण की पट्टावलि बहुत बाद की होने से उसमे जिन समन्तभद्र का उल्लेख किया गया है, सम्भवतया वे समन्तभद्र कोई अन्य हैं।

कल्याण विजय जी ने बाद मे अपने विचारो मे परिवर्तन किया है।[56]

ग्रन्थान्तर साक्ष्य

समन्तभद्र के उत्तरवर्ती आचार्यो ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी कृतियो पर भाष्य, टीका, टिप्पण आदि ग्रन्थ लिखे हैं। अपनी कृतियो मे प्रमाणिकता लाने के लिए समन्तभद्र के ग्रन्थो के दिए तथा आदरपूर्वक उनके कृतित्व का उल्लेख कर उनके प्रति सम्मान प्रकट किया है। विभिन्न

आचार्यों द्वारा किये गये उल्लेखो आदि से एक ओर समन्तभद्र के असाधरण व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त होता है वही दूसरी ओर उनके जीवन से सम्बन्धित कई घटनाओ पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है। समन्तभद्र के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध मे विचार करते समय उस सामग्री पर दृष्टिपात कर लेना यहा आवश्यक है।

जैनन्द्र व्याकरण के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि (5वीं शताब्दी) ने '**चतुष्टय समन्तभद्रस्य**' सूत्र के द्वारा समन्तभद्र का उल्लेख किया है।[57] इस पर वृत्ति लिखने वाले अभयनन्दि ने' **अनुसमन्तभद्र तार्किका**. ' एव **आकुमारेभ्यो यश. समन्तभद्रस्य** सूत्रो मे समन्तभद्र के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उन्होने '**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**' सूत्र की वृत्ति मे लिखा है कि 'झयो ह इत्यादि चतुष्टय समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति नान्येषा मते' ।[58]

नवीं शताब्दी के आचार्य जिनसेन ने **महापुराण** – **आदिपुराण** – मे समन्तभद्र को नमस्कार कर उनकी काव्य प्रतिभा का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि उनके वचन रूप बज्रपात से कुमति रूप पर्वत नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। समन्तभद्र कवियो , गमको – विद्वानो की रचनाओ को स्वय समझने वाले – वादियो और वाग्मियो – अपने वचन चातुर्य से दूसरो को वश मे करने वाले – मे चूडामणि के समान श्रेष्ठ थे।[59]

हरिवंश पुराण मे भी 'वच समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते लिखकर जिनसेन ने समन्तभद्र के वचनो को भगवान महावीर के वचनो के समान प्रकाशमान बताया है।[60]

शक सवत् 947 के वादिराजसूरि ने अपने महाकाव्य **पार्श्वनाथचरित** मे लिखा है कि स्वामी समन्तभद्र का चरित्र किसके लिए आश्चर्यजनक नहीं है। जिन्होने देवागम के द्वारा आज भी सर्वज्ञत्व को प्रदर्शित कर रखा है। निश्चय से वे ही योगीन्द्र त्यागी हुए हैं, जिन्होंने काव्य समूह रूपी याचक को अक्षय सुख का कारण रत्नो का पिटारा – रत्नकरण्डकम् दान किया है।[61]

गद्यचिन्तामणि मे वादीभसिहसूरि ने लिखा है कि समन्तभद्र सरस्वती के स्वच्छन्द विहार स्थल हैं और उनके वचन रूपी बज्र के गिरने से विरोधी सिद्धान्त रूपी पर्वतो के शिखर चूर चूर हो जाते हैं[62] –

> **सरस्वतीस्वैर विहार भूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वरा ।**
> **जयन्तु वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः ।।**

ग्यारहवीं शताब्दी के यशस्वी विद्वान् कवि वादिराजसूरि ने **यशोधरचरित्र** मे समन्तभद्र को उत्कृष्ट काव्य रूपी मणियो का रोहण–पर्वत कहकर उनसे सूक्तिरूपी रत्नो के समूह को प्रदान करने की इच्छा प्रगट की है।[63]

न्यायविनिश्चयविवरण मे वादिराज ने लिखा है कि समन्तभद्र चारो तरफ फैले हुए दुर्नयरूपी घोर अन्धकार और दुर्बोध तत्त्व को अपने वचन रूपी स्फुटरत्नदीप से प्रगट कर देते थे।[64]

941 ई मे हुए कन्नड कवि आदिपप ने **आदिपुराण, धर्मामृत, चन्द्रप्रभपुराण, शान्तिश्वरपुराण** आदि ग्रन्थो मे भवहर आदि विशेषणो के साथ समन्तभद्र के नाम का उल्लेख किया है। अन्य प्रसिद्ध कन्नड कवियो – अभिनव पप, नयसेन, अग्गल और कमलभव आदि ने तार्किक कवि के रूप मे समन्तभद्र का आदर के साथ उल्लेख किया है।[65] बारहवीं शती के आचार्य हेमचन्द्र ने **सिद्धहेमशब्दानुशासन** मे समन्तभद्र का स्तुतिकार के रूप मे स्मरण किया है[66] तथा **आवश्यक सूत्र** की टीका मे मलयगिरि ने आद्यस्तुतिकार लिखा है।[67] उग्रदित्याचार्य ने **कल्याणकारक** मे अष्टागवैद्यक विषय पर समन्तभद्र की विस्तृत कृति का उल्लेख किया है।[68]

वि0 स0 1050 के नरेन्द्रसेनाचार्य ने अपने ग्रन्थ **सिद्धान्तसार सग्रह** मे समन्तभद्र की वाणी को अनघ बताते हुए उसे मनुष्यत्व की प्राप्ति की तरह दुर्लभ तथा ग्यारहवी शती के आचार्य वीरनन्दि ने **चन्द्रप्रभचरितम्** महाकाव्य मे अनेक गुणो और निर्मल वृत्त रूपी मुक्ताफलो से युक्त बताते हुए लिखा है कि श्रेष्ठ नरो के द्वारा जिसे अपने कण्ठ का आभूषण बनाया गया है उस हार यष्टि को पाना उतना दुर्लभ नहीं जितना की समन्तभद्र भारती को।[69]

बारहवीं शती के अलकारिक कवि अजित सेन ने **अलंकारचिन्तामणि** ग्रन्थ मे समन्तभद्र को कविकुजर, मुनिवद्य और जनानन्द विशेषणो से विभूषित करते हुए वचनो की शोभा बढाने के लिए नमस्कार किया है। अर्थापत्ति के उदाहरण मे उन्होने लिखा है कि समन्तभद्र की विद्यमानता मे स्पष्ट रूप से अधिक बोलने वाले धूर्जटि की भी जिह्वा स्थिर हो जाती थी, दूसरो की बात ही क्या।

अर्थशक्तिमूला व्यजनाशक्ति के उदाहरण मे उन्होने लिखा है कि महावादी श्रीमान् समन्तभद्र के आ जाने पर कुवादी मस्तक झुकाकर भूमि खोदने लगते थे।[70]

बारहवी शती के कन्नड भाषी कवियो – आदिपप , अभिनव पप , नयसेन , अग्गल आदि आचार्यों ने अपने कन्नड ग्रन्थो मे तार्किक कवि समन्तभद्र का आदर के साथ नामोल्लेख किया है।[71]

1235 ई0 के कवि नागराज ने **समन्तभद्रभारती स्तोत्र** मे समन्तभद्र के गुणो का विस्तार से वर्णन किया है।[72] अभयचन्द्र सूरि ने **प्रक्रियासग्रह** में' ट प्रोक्ते' 3/1/169 सूत्र के उदाहरण मे सामन्तभद्रम् लिखा है। अन्यत्र भी उन्होने एक सूत्र मे सामन्तभद्र महाभाष्यमित्यादि ' उदाहरण दिया है।[73]

1320 ई0 के कवि अप्पयार्य ने **विद्यानुवाद – जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय** मे समन्तभद्र का स्मरण किया है।[74] तेरहवी शती के ही आचार्य वर्द्धमान सूरि ने **वरांगचरित** मे समन्तभद्र को महाकवीश्वर कुवादियो को जीतकर यश प्राप्त करने वाले, सुतर्कशास्त्रामृतसागर बताकर कवित्व की आकाक्षा से प्रसन्न होने की कामना की है।[75] विजय वर्णी ने **शृगारार्णव चन्द्रिका'** मे समन्तभद्र को महाकवीश्वर लिखते हुए उनके प्रबन्ध निर्दोष पवित्र और महान् शोभा सम्पन्न बताये है।[76]

चौदहवीं शती के कवि हस्तिमल्ल ने **'विक्रान्त कौरव'** ग्रन्थ मे समन्तभद्र को भावी तीर्थंकर होने का उल्लेख किया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि वे चारण ऋद्धि के धारक होने से उनमे इतनी शक्ति थी कि

शीघ्रता से सैकडो कोस दूर जा सकते थे।[77] इन्द्रनन्दि ने **श्रुतावतार** मे समन्तभद्र का उल्लेख तुम्बूलूराचार्य के बाद किया है।[78]

विवुध श्रीधर ने **श्रुतावतार** मे षट्खण्डागमादि सिद्वान्त ग्रन्थो के टीकाकार कमश कुन्दकीर्ति, श्यामकुण्ड, समन्तभद्र और वप्पदेव का नामोल्लेख किया है , जिसमे उन्होने बताया है कि समन्तभद्र ने 68 हजार श्लोक परिमाण वाली सिद्वान्त टीका की रचना की थी।[79] आचार्य शिवकोटि ने **रत्नमाला** मे लिखा है कि जिनराज के उच्च उठते हुए शासन समुद्र के लिए चन्द्रमा स्वरूप स्वामी समन्तभद्र मेरे मानस में रात दिन स्थित रहे।[80]

शक स0 1353 पाण्डक्षमापति ने **मध्यानन्दशास्त्र** मे समन्तभद्र के गुणो की उत्कृष्टता बताते हुए उनको भक्ति के साथ प्रणाम किया है।[81]

सोलहवीं शती के ब्रह्म अजित ने **हनुमच्चरित** मे समन्तभद्र को भव्यरूपी कुमदो को प्रफुल्लित करने वाला चन्द्रमा और दुर्वादियो की वादरूपी खुजली को मिटाने के लिए अद्धितीय महौषधि बताते हुए उनका जयघोष किया हैं।[82]

विक्रम सवत् 1608 मे शुभचन्द्राचार्य ने **पाण्डवपुराण** मे देवागम का उल्लेख करते हुए समन्तभद्र को ' भारत भूषण ' विशेषण से अलकृत किया है तथा ज्ञानार्णव मे लिखा है कि जहा समन्तभद्र जैसे कवीन्द्र सूर्यों की निर्मल सूक्ति रूपी किरणे स्फुरित हो रही हो वहा अल्प ज्ञान वालो की काव्य के मार्ग मे प्रवृत्ति खद्योत की तरह हास्य को प्राप्त होती है।[83]

वि0 स0 1656 के सोमसेन ने **रामपुराण** मे श्रुतसागर पारग विशेषण देते हुए कहा है कि समन्तभद्र भविष्य मे तीर्थंकर होगे।[84] आचार्य श्रुतसागर ने **जिनसहस्रनाम** टीका के मगल श्लोक मे समन्तभद्र का स्मरण किया है तथा ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक मे उन्हे 'कलिमलहरण' पद से विभूषित किया है।[85] **पार्श्वनाथचरित** मे भट्टारक सकलकीर्ति ने समन्तभद्र की वाणी को सभी ओर से मगलमय और लोकोपकारक बताते हुए उनका वन्दन किया है।[86]

आख्यान विषयक उल्लेख

समन्तभद्र के सम्बन्ध मे अनेक कथाओ का प्रचलन है। जिनमे प्रभाचन्द्रकृत सस्कृत कथाकोश[87] ब्रह्मनेमि दत्त का सस्कृत आराधना कथाकोश[88] एव देवचन्दकृत कन्नड राजावलिकथे[89] प्रमुख है। आराधना कथाकोश मे जो समन्तभद्र विषयक कथा दी गयी है, उसका आधार प्रभाचन्द्र कृत गद्य कथाकोश है। इन कथाओ के आधार पर समन्तभद्र के जीवन से सम्बन्धित विवरण का पुनरीक्षण यहा प्रस्तुत है।

कथाकोश

प्रभाचन्द्र और ब्रह्मनेमिदत्त कृत कथाओ मे यह उल्लेख पाया जाता है कि राजा शिवकोटि के शिवालय मे चढने वाले नैवेद्य से समन्तभद्र ने अपनी भस्मक व्याधि को शान्त किया था। चन्द्रप्रभस्वामी की स्तुति पढते समय जिनबिम्व प्रकट हुआ था। इन घटनाओ के मध्य कथाओ मे जो वर्णन किया गया है ,वह निम्न प्रकार है।

काची मे समन्तभद्र के भस्मक रोग को शान्त करने के लिए स्निग्ध भोजन का अभाव था इसलिए समन्तभद्र काची छोडकर दक्षिण से उत्तर की ओर चल दिए । ये पुड्रनगर मे पहुचे और वहा बौद्धौ बन्दको के वृहद् विहार मे महातत्र शाला देखकर उन्होने बन्दक लिग धारण कर लिया पर वहा भी जब महा व्याधि के शमन का कोई मार्ग न दिखा तब वहा से निकल कर अनेक नगरो मे घूमते हुए दशपुर नगर मे पहुचे वहा भागवतो का महामठ देखकर विशिष्ट आहार प्राप्ति की इच्छा से बन्दक लिग त्याग कर भगवालिग धारण कर लिया। वहा भी भस्मक व्याधि शान्त होने योग्य विशिष्ट आहार प्राप्त होता हुआ न देख वहा से चलकर अनेक देशो मे भ्रमण करते हुए वाराणसी पहुचे। वहा उन्होने योगी लिग धारण करके शिवकोटि राजा के शिवालय मे प्रवेश किया । वहा शिव को भोग लगाने के लिए नाना प्रकार के विशिष्ट नैवेद्य तैयार किये जाते थे। समन्तभद्र ने शिवकोटि राजा से निवेदन किया कि वे अपनी दिव्यशक्ति के द्वारा सम्पूर्ण नैवेद्य शिव को खिला सकते हैं। इस तरह राजा का आदेश प्राप्त कर

समन्तभद्र मन्दिर के किवाड बन्द कर समस्त नैवेद्य स्वय खाकर किवाड खोल देते थे। यह देखकर राजा शिवकोटि को अत्यधिक आश्चर्य हुआ।

प्रतिदिन नैवेद्य प्राप्त कर धीरे धीरे समन्तभद्र की व्याधि शान्त होने लगी। छह माह बीतते ही भस्मक व्याधि शान्त हो गयी तो नैवेद्य पूरा का पूरा बचने लगा। जब राजा शिवकोटि को यह ज्ञात हुआ कि यह योगी स्वय भोजन करता रहा है तब राजा ने इसका कारण जानना चाहा और उन्हे शिव को नमस्कार करने को बाध्य किया।

समन्तभद्र ने राजा को जबाव दिया कि शिवमूर्ति मेरे नमस्कार को सहन नही कर सकेगी, तब समन्तभद्र की इस बात को सुनकर राजा को अत्यन्त कौतुक हुआ। समन्तभद्र को अपने वचन सिद्ध करने के लिए बाध्य किया। रात्रि के व्यतीत होने पर समन्तभद्र को अपने वचन निर्वाह की चिन्ता बढी। उनकी चिन्ता के कारण अम्बिका देवी का आसन कम्पित हुआ। उन्होने आकर समन्तभद्र को आश्वासन दिया और कहा कि तुम ' स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले' पद से प्रारम्भ कर चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति करो ।

प्रात काल जिस समय समन्तभद्र समस्त जनता के सामने शिवकोटि की आज्ञा के अनुसार चन्द्रप्रभस्वामी की स्तुति पढते हुए **तमस्तमोरिव रश्मिभिन्नम्** वाक्यका पाठ कर रहे थे, उसी समय शिवलिग खण्ड खण्ड हो गया और उसके स्थान पर चन्द्रप्रभस्वामी की चतर्मुखी प्रतिमा प्रकट हो गयी। इस आश्चर्य को देखकर राजा ने समन्तभद्र का परिचय पूछा, जिसके उत्तर मे समन्तभद्र ने कहा' मै काची मे नग्नाटक, लाम्बुक मे शरीर को मलिन करने वाला पाण्डुपिण्ड, पुण्डोड्र मे शाक्यभिक्षु, दशपुर मे मिष्ठान्नभोजी परिव्राजक तथा वाराणसी मे शशकरधवल पाण्डुराग तपस्वी बना। हे राजन्, मैं जैन निर्गन्थवादी हू। यहा जिसकी शक्ति मुझसे वाद करने की हो वह आकर वाद करे।' मैंने पहले पाटलिपुत्र नगर के मध्य मे शास्त्रार्थ हेतु भेरी बजाई थी पुन मालव, सिन्धु, ठक्कविषय, काचीपुर और विदिशा मे फिर महान् विद्यावीरो से युक्त करहाटक नगर को प्राप्त हुआ। इस प्रकार हे राजन्, मैं वाद के लिए सिह के समान यहा वहा भ्रमण करता

फिर रहा हू।[90] इस प्रकार समन्तभद्र के चमत्कार पूर्ण व्याख्यान सुनकर एव जैनधर्म से प्रभावित होकर राजा शिवकोटि ससार से विरक्त हो गया और समन्तभद्र ने भी वापस जाकर पुन मुनिदीक्षा धारण कर ली।

राजाबलिकथे

उपर्युक्त कथानक से राजाबलिकथे मे आयी समन्तभद्र की कथा मे थोडी भिन्नता है। राजाबलिकथे मे समन्तभद्र का जन्म उत्वलिका ग्राम मे होना लिखा है, जबकि कथाकोश आदि मे जन्म के वारे मे कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं होती । मुनिजीवन मे भस्मक व्याधि हुई, यह घटना दोनो कथाओ मे वर्णित है। राजाबलिकथे मे इतना विशेष बताया गया है कि समन्तभद्र को भस्मक रोग मणुकहवल्ली मे विचरण करते हुआ था और उसकी शान्ति काची के राजा शिवकोटि के शिवालय मे हुई थी। इसके लिए पाच दिन का समय लगा था। शिवलिग की घटना, चन्द्रप्रभ का बिम्व प्रकट होना आदि घटनाओ का वर्णन पूर्व कथाओ जैसा ही है।

समन्तभद्र विषयक इन कथाओ से स्पष्ट है कि उनके जन्म स्थान, विषय आदि मे अन्तर दिखाई देता है। अन्य साक्ष्यो के साथ इन कथाओ की तुलना करने पर इसकी विषयवस्तु मे भी आशिक सत्यता दिखाई देती है। अन्य साक्ष्यो से यह तो स्पष्ट होता है कि उन्हे भस्मक व्याधि हुई थी, पर यह ज्ञात नहीं होता कि उन्होने व्याधि के उपशम्मन के लिए दीक्षोच्छेद किया और काची या वाराणसी के शिवमन्दिर मे रहकर शिवभोग खाते रहे। वसवनपुर के शिलालेख मे उल्लिखित 'वाराणसीश्वर' का अर्थ वाराणसी का ईश्वर अर्थात् शिव होता है। काशी विश्वनाथ के रूप मे शिव का नाम सम्पूर्ण भारत मे अभी भी प्रचलित है। इसके लिए वाराणसीश्वर का अर्थ वाराणसी का राजा किया जाना किसी भी स्थिति मे उचित प्रतीत नही होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी सन्दर्भ का तालमेल न बैठने के कारण भट्टारक प्रभाचन्द ने कथाकोश मे बनारस के शिवमन्दिर मे समन्तभद्र द्वारा शिवभोग खाये जाने की कथा गढ दी, जिसके विवरण की पुष्टि किसी अन्य स्रोत से नही होती है। कथा की रोचकता के कारण उनकी यह परम्परा ब्रह्मनेमिदत्त तथा आगे तक चल पडी । इस सम्बन्ध मे

प्रभाचन्द को कोई अन्य आधार या स्रोत प्राप्त थे, इसका उल्लेख उन्होने नहीं किया।[91]

स्रोतों के आधार पर जीवन परिचय
जन्म स्थान एव पितृकुल

समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत मे हुआ था , इसकी पुष्टि उपलब्ध सभी साक्ष्यो से होती है लेकिन वह स्थान कौन सा है , इस विषय मे विप्रतिपत्तिया हैं। दक्षिण भारत मे उपलब्ध एव वहा से उत्तर भारत आयीं आप्तमीमासा की कन्नड लिपि मे लिखी गयीं सभी पाण्डुलिपियो मे **इति फणिमडलालकारस्योरगपुरस्याधिपसूनो श्रीस्वामीसमन्तभद्रदेवस्य मुने· कृतवाप्तमीमासायाम्** – यह पुष्पिकावाक्य पाया जाता है , जिसके आधार पर विद्वानो ने समन्तभद्र को उरगपुर के राजा का पुत्र लिखा है तथा उस समय का उनका नाम शान्तिवर्मा सिद्ध किया है। शान्तिवर्मा यह नाम जिनशतकम् के टीकाकार नरसिहभट्ट ने उक्त स्तोत्र के अन्तिम पद्य की टीका के आधार पर निकाला है। इस आधार पर उरगपुर के साथ शान्तिवर्मा नाम की सगति बैठायी गयी है।

प्रभाचन्द और ब्रह्मनेमिदत्त कथाकोशो मे समन्तभद्र के जन्म स्थान आदि से सम्बन्धित कोई जानकारी प्राप्त नही होती। राजावलिकथे से यह अवश्य पता चलता है कि समन्तभद्र का जन्म उत्वलिका ग्राम मे हुआ था।

कहा जाता है कि उरगपुर पाण्ड्य देश की राजधानी थी , जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास ने किया है।[92] 674 ई0 के गड्वल ताम्रशासन के अनुसार उरगपुर कावेरी के दक्षिण तट पर अवस्थित था।[93] प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्वान् इसकी पहचान त्रिचनापल्ली के निकट उरैयूर से करते हैं, जो प्राचीन चोलवश की राजधानी थी। डॉ ज्योति प्रसाद जैन के अनुसार वर्तमान त्रिचनापल्ली के नागवशीय चोल नरेश कीलिक वर्मन के कनिष्ठ पुत्र एव उसके उत्तराधिकारी सर्व वर्मन – सोरनाग के अनुज शान्तिवर्मन के रूप मे समन्तभद्र का जन्म सम्भवतया 120 ई0 के लगभग हुआ था। सन 138 ई0 (पट्टावली प्रदत्त शक स0 60) मे उन्होने मुनि दीक्षा ग्रहण की थी और 185 ई0 के लगभग उनका स्वर्गारोहण हुआ था।[94]

शिलालेखो से यह सिद्ध होता है कि भद्रबाहु की वश परम्परा मे कुन्दकुन्द के बाद समन्तभद्र हुए थे। उन्हे दक्षिण भारत मे प्रचलित द्राविण आदि गण, सघो मे होना बताया गया है। नाम के साथ स्वामी शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से दक्षिण भारत मे ही पाया जाता है। इस तरह सभी साक्ष्यो से यह नि सन्देह पुष्टि होती है कि समन्तभद्र का जन्म स्थान दक्षिण भारत रहा होगा।

मुनिजीवन एवं दीक्षा

उपलब्ध शिलालेखो एव अन्य अभिलेखो से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र अनेक विद्याओ के ज्ञाता और उद्भट् विद्वान् थे। किन्तु उनके मुनि जीवन के पूर्व की जानकारी सन्दिग्ध है। उन्होने किस आचार्य से दीक्षा ली थी, इसका भी कही स्पष्ट उल्लेख नही है। शिलालेखो मे उन्हे भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मुनि के वशज पद्मनन्दि, उनके वशज उमास्वाति – गृद्धपिच्छ इनके शिष्य बलाकपिच्छ के बाद इन आचार्यों की परम्परा मे समन्तभद्र हुए है। कुछ शिलालेखो मे इन्हे कुन्दकुन्द के आधार पर नन्दिगण एव देशीयगण का आचार्य बताया गया है। सेनगण की पट्टावलि मे इन्हे सेनगण का आचार्य सूचित किया गया है। कुछ शिलालेखो मे समन्तभद्र को द्रामिल सघ के अन्तर्गत नन्दिसघ की अरूगल शाखा का आचार्य बताया है।[95] इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि समन्तभद्र को किस सघ गण, गच्छ, अन्वय आदि का माना जाये, मूलसघ या सेनगण या द्राविण या द्रामिल, नन्दिगण या देशीयगण आदि।

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार मे गोपुच्छिक, श्वेतवासी, द्राविड, यापनीय और नि पिच्छक ये पाच जैनाभास बताये गये है। इनको छोडकर शेष को दिगम्बर परम्परा मे मूलसघ का कहा गया है[96] –

गोपुच्छिका श्वेतवासा· द्राविणो यापनीयका ।
नि·पिच्छकाश्चेति पंचैते जैनाभासा प्रकीर्तिता·।। – श्लो0 10

सेनगण का प्रथम उल्लेख सन 821 मे सूरत के ताम्रपत्र मे किया गया है। इसमे चतुष्टय मूलसध का उदयान्वय, सेनसघ कहा गया है। इसकी

परम्परा मल्लवादी, सुमति और पूज्यपाद से प्रारम्भ होती है।[97] सेनगण के अन्य उल्लेख मूलगुण्ड[98] आदि स्थानो पर भी प्राप्त होते हैं। श्रवणवेलगोल्ल के शिलालेख 108 मे इस गण के सम्बन्ध मे बताया गया है कि नन्दि और सेनादि भेदो को लिए हुए यह चार प्रकार का सघ भेद भट्टाकलक के स्वर्गारोहण के पश्चात् हुआ। इससे प्रतीत होता है कि ये समन्तभद्र दूसरे होना चाहिए।

अनेक शिलालेखो मे समन्तभद्र को द्रामिल या द्राविड सघ के नन्दिसघ की अरूगुल अन्वय की आचार्यावलि मे होना बताया गया है। दर्शनसार के अनुसार इस सघ की स्थापना पूज्यपाद के शिष्य बज्रनन्दि ने वि० स० 526 मे दक्षिण मदुरा मे की थी, जिनका आधार – विचार दिगम्बर मूलसघ के अनुरूप नहीं था।[99] एक शिलालेख मे द्राविडसघ – कोण्ड – कुन्दान्वय का उल्लेख है। एक स्थान पर मूलसघ - द्राविडान्वय भी कहा गया है। नन्दिसघ अरूगल अन्वय का द्राविड सघ, कुन्दकुन्दान्वय और मूलसघ के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे डॉ चौधरी ने कहा है कि नव सगठित द्राविड सघ ने प्रारम्भ मे अपना आधार मूलसघ या कुन्दकुन्दान्वय को बनाया होगा, पर पीछे यापनीय सप्रदाय के विशेष प्रभावशाली नन्दिसघ मे अपना व्यावहारिक रूप पाने के लिए उससे विशेष सम्बन्ध रखा या द्राविण गण के रूप मे उस सघ के अन्तर्गत हो गया। बाद मे यह द्राविण गण इतना प्रभावशाली हुआ कि उसे ही सघ का रूप दे दिया गया और साथ मे नन्दिसघ को नन्दिगण के रूप मे निर्दिष्ट किया गया।[100] अरूगल का सम्बन्ध स्थान से है, जो कि अरूगल प्रदेश – तामिल प्रान्त से उद्भूत जान पडता है। इस विवरण से जान पडता है कि बाद मे बने सेनगण, द्रामिलसघ, नन्दिसघ, अरूगलान्वय आदि ने अपने सघ की महत्ता बढाने के लिए मूलसध को और उनके आचार्यो की परम्परा को अपने से सयुक्त कर लिया, परन्तु यह निर्विवाद है कि समन्तभद्र मूलसघ के प्रमुख आचार्यो मे थे।

समन्तभद्र की विभिन्न पदविया विशेषण

आप्तमीमासा आदि ग्रन्थो के कर्ता समन्तभद्र को यति, मुनि, देव, स्वामी, आचार्य आदि विभिन्न पदवियो से सम्बोधित किया गया है। **येनाचार्य**

समन्तभद्रयतिना तस्मै नम सन्ततम् – लिखकर आप्तमीमासाभाष्यकार अकलक ने समन्तभद्र यति को प्रणाम किया है। युक्त्यनुशासनालकार मे समन्तभद्र के साथ स्वामि और गुरू पद सयुक्त किये गये हैं।[101] वसुनन्दि ने देवागमवृत्ति मे समन्तभद्र, आचार्य समन्तभद्र और समन्तभद्रदेव नामो का उल्लेख किया है।[102] प्रभाचन्द ने स्वयम्भूस्तोत्र एव रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीकाओ मे समन्तभद्र के साथ मुनि विशेषण लगाकर अभिहित किया है।[103] जिनशतक की टीका मे नरसिहभट्ट ने समन्तभद्र और श्रीमत्समन्तभद्राचार्य नामो का उल्लेख किया है।[104]

जिनशतक अपरनाम स्तुतिविद्या के टीकाकार नरसिह भट्ट ने ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के आधार पर कविकाव्य नामक गर्भचकवृत्त से ग्रन्थ के कर्ता के रूप मे शान्तिवर्मा को सिद्ध किया है जिसके आधार पर समीक्षको ने इति फणि0 पुष्पिकावाक्य के साथ सगति बैठाकर समन्तभद्र की मुनिदीक्षा के पूर्व का नाम सिद्ध किया है।[105]

भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तो के शास्त्रागारो मे उपलब्ध समन्तभद्र कृत ग्रन्थो की पाण्डुलिपियो के पुष्पिकावाक्यो मे समन्तभद्र के नाम का उल्लेख पाया जाता है।[106] विभिन्न समयो मे उत्कीर्ण दक्षिण भारत के शिलालेखो मे भी समन्तभद्र का नाम गौरव के साथ लिया गया है।[107]

प्रतीत होता है कि 'समन्तभद्र' यह नाम मुनि अवस्था का है। समन्तभद्र का यह नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि अन्य आचार्य भी स्वय को इसी नाम से प्रतिष्ठापित करने लगे। आचार्य पूज्यपाद ने चार समन्तभद्र नामधारी रचनाकारो का उल्लेख किया है।[108] कुछ रचनाकारो ने अपने इस नाम के साथ चिक्, लघु, गेरूसेप्पे, अभिनव आदि भिन्नता सूचक विशेषण अवश्य जोडे है। इससे सिद्ध है कि आप्तमीमासा, वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र आदि ग्रन्थो के रचयिता उन चिक् आदि समन्तभद्रो से सर्वथा भिन्न हैं।[109]

स्वामी समन्तभद्र द्वारा रचित समस्त कृतियो मे उनके प्रणेता के रूप मे समन्तभद्र ही नाम मिलता है। परवर्ती लेखको ने भी उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के प्रसग मे उसी नाम से उनका स्मरण किया है, परन्तु परवर्ती काल मे स्वामी शब्द का प्रयोग ही समन्तभद्र का पर्यायवाची बन गया।[110]

आचार्य विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा के **स्वामि मीमासितम् तत्** का उल्लेख कर स्वामी शब्द के द्वारा स्पष्ट रूप से समन्तभद्र का वर्णन किया है। वि0 स0 1035 मे कन्नड भाषा मे लिखित अपने **त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण** मे चामुण्डराय ने समन्तभद्र का समन्तभद्रदेव नाम से उल्लेख किया है।[111] आचार्य नरेन्द्रसेन ने अपने **सिद्धान्तसार** सग्रह मे स्पष्ट रूप से स्वामी समन्तभद्र का **देव** उपनाम के साथ उल्लेख किया हे।[112] आचार्य जयसेन ने **समयसार** की **तात्पर्यवृत्ति टीका** मे स्याद्वाद के स्वरूप के प्रकरण मे **समन्तभद्राचार्यदेवैरपिभणितमास्ते** कहकर उल्लेख किया है।[113]

निष्कर्ष

शिलालेखीय साक्ष्यो से पता चलता है कि आचार्य समन्तभद्र आचार्य कुन्दकुन्द के तत्काल बाद मे हुए थे। समन्तभद्र को भस्मक रोग हो गया था, जिसे उन्होने बडी चतुराई से समाप्त किया था। उन्होने मन्त्र वचनो से चन्द्रप्रभ को आहूत किया था। समन्तभद्र, द्वारा कलिकाल मे जैनधर्म पुन सर्वत्र भद्र रूप मे प्रसारित हुआ था। समन्तभद्र ने जैनधर्म की पताका फहराने के लिए वाद करने हेतु समूचे भारतवर्ष मे विचरण किया । वे कलिकाल गणधर और शास्त्रकार कहलाते थे। इनके दीक्षा गुरू का कही भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। उनकी शिष्य परम्परा मे शिवकोटि वरदत्ताचार्य, गगराज्य के सस्थापक सिहनन्दि आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। यह भी ज्ञात होता है कि भगवान महावीर एव गौतम गणधर के पश्चात् श्रुतकेवलियो की परम्परा के बाद प्रमुख आचार्यो एव साघक लेखको की परम्परा मे समन्तभद्र एक आदर के पात्र एव सार्वकालिक प्रतिष्ठा के धनी थे। समन्तभद्र मूलसघ के प्रतिनिधि आचार्य थे। इस प्रकार समस्त सामग्री के आलोडन से समन्तभद्र के विराट् व्यक्तित्व का पता चलता है, परन्तु उनके जीवन, जन्म, गुरू आदि के विषय मे प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नही होती। शिलालेखो, परवर्ती आचार्यो एव ताम्रपत्र आदि मे समन्तभद्र के साथ स्वामी, देव, वनवासी, स्तुतिकार आदि विशेषण भी जुडे हुए पाये जाते हैं। समन्तभद्र की कृतियो मे पाया जाने वाला समन्तभद्र पद लेखक के नाम

का द्योतन भले ही कराता हो, पर मेरी दृष्टि मे वह लेखक का नाम न होकर अर्थ वैशिष्ट्य हेतु ही उस शब्द का प्रयोग किया गया होगा। परवर्ती आचार्यों ने उन्हे मुनि, योगी परिपालक, कवि परमेष्ठी, तार्किक, चक्रचूडामणि, वाग्मी, परमात्मा, महावादी परीक्षेक्षण, स्याद्वादमार्ग्राग्रणी आदि अत्यन्त विशिष्ट पदो से विभूषित किया है। जिनशतक को छोडकर अन्य कोई सन्दर्भ ऐसा देखने मे नही आया, जिससे समन्तभद्र का नाम शान्तिवर्मा सूचित हो। आप्तमीमासा की पाण्डुलिपियो मे उपलब्ध होने वाला उरगपुर का सन्दर्भ विशेष उल्लेखनीय है, जिससे उनके जन्मस्थान और कुल की सूचना मिलती है, परन्तु इस सन्दर्भ की पुष्टि कथाओ या अन्य सन्दर्भो से नही होती। कथाओ मे इनका जन्म स्थान उत्वलिका सूचित किया गया है। भस्मक व्याधि का होना, शिवमन्दिर मे शिव भोग खाना आदि कथाओ मे आए सन्दर्भो की पुष्टि अन्य किसी प्रामाणिक स्रोतो से नहीं होती। यह निर्विवाद है कि समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत मे ही कहीं हुआ होगा।

सन्दर्भ

1 युक्त्यनुशासन 62
2 स्वयम्भूस्तोत्र 143
3 आप्त0भाष्य 1/1 एव अ0स0114
4 अष्टसहस्री 1/1
5 वही 1/1
6 अष्टसहस्री पृष्ठ 75,223 114 29
7 यु0टीका अन्तिम पद
8 देवागम वृत्ति 1 2 114 115
9 मूडविद्री जैनमठ पाण्डुलिपि स0122
आरा जैनसिद्धान्त भवन पा0स0क034
10 रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका 1 1
11 वहीं 5.29 1
12 जिनशतक वृत्ति 2
13 वहीं 1
14 मूडविद्री जैनमठ
पा0218 334 471,676
15 कोल्हापुर ल0भ0पा030/9,31/1
16 बाहुवली श्रीमहा0ग्र0पा0 81/2445
17 पूना भा0ओ0रि0इ0पा0
991/1887–91
18 दिल्ली श्रीदि0जैनस0भ0वपा0310 क
19 मुख्तार जु0कि0र0श्रा0प्रा0पृष्ठ 4
20 मूडविद्री जैनमठ पा0 677 120
21 वही 112
22 काशी स्या0पा089/2 पूना पा01201आदि
23 मूडविद्री जैनमठ पा0122 205
24 वही 418,670 274 बाहुवली
पा043 2409 63
25 मूडविद्री जैनमठ पा0122
26 श्रवणवे0शि0जैनशि0स0भाग 1
पृष्ठ 24 25
27 वन्द्योभस्मकमात्मसात्कृतिपटु
पद्मावती देवता
दत्तोदात्तपदत्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभ।
आचार्यत्व समन्तभद्रगणभृदेनेह काले कलौ
जैनवर्त्मसमन्तभद्रमभवद् भद्र समन्तान्मुहु ।।

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काचीपुरे वैदिशे
प्राप्तोह करहाटक बहुभट विद्योत्कट सकट।
वादार्थी विचराम्यहम्नरपते शार्दूलविक्रीडितम।।

- जैशिoसoभाग 1 पृ0102
28 वही पृ0196–98
29 वहीं पृ0209–211
30 जैनशिoसo भाग 2पृ0294
31 पृ0 303
32 वही भाग 3 पृ0 518
33 वही पृ0 7
34 वही पृ0 571
35 भाग 4 पृ0 344 516
36 वही भाग 2 पृ0 263
37 वहीं भाग 1 पृ0 398
38 वही भाग 2 पृ0 316
39 वहीं भाग 3 पृ0 122
40 वहीं पृ0 148
41 वही पृ0 205
42 वहीं भाग 2पृ0387 405
43 वहीं भाग 3 पृ0 283
44 वहीं भाग 2 पृ0 441
45 वहीं भाग 3 पृ0 62
46 अ, वहीं पृ0 31
ब वही भाग 4 पृ048,51
47 वही , पृ0 401
48 वही , पृ0 330
49 वही पृ0 332,334
50 वहीं पृ0 336
51 जैनए वाल्यू.13पृ 04,1945
52 त0 प0 6/70
53 वही वृत्ति 71
54 वहीं पृ0 80
55 वहीं पृ0 79
56 वहीं पृ0 80
57 जै व्या 5/4/10 जै महावृत्ति पृ 67
58 वहीं पृ067एव 4
59 आदिपुराण 1 43
60 हरिवशपुराण 1 29
61 पा0च0 1 17 18 19
62 ग0चि0 1 5
63 यशोधरचरित्र 1 3
64 न्यायवि0 1 2
65 उद्धृत, जैनसि0भाग12 2पृ080
– धर्मामृत, 1 5 आदि
66 स्तुतिकारोप्याह- सि0 श0 पृ09
67 मुख्तार, जु0कि0 रत्न0प्राक्कथन पृ067
68 कल्याण कारक पृ0 /20 86
69 सिद्धान्तसार सग्रह 1 17
– चन्द्रप्रभचरितम 1 6
70 अ0 चि0 1 3,4 315 5 156
71 कर्णाटककविचरिते भाग 1पृ01-5
72 स0भा0स्तोत्र पद्य 108
73 शा0प्र0 743एव 746
74 वि0 वा0 12पृ0 9
75 वरागचरित 1 7
76 श्र0च0 1 3
77 वि0कौ0 पृ0 1
78 सगृहीत तत्त्वानुशासन
79 सिद्धान्तसारादि सग्रह पृ0 118
80 रत्नमाला 4
81 मध्यानन्द 3 4
82 हनुमच्चरित 1 18
83 पाण्डवपुराण 1 15
- ज्ञानार्णव 1 14
84 रामपुराण 1 4
85 जिनसहस्रनाम 10 2
86 पार्श्वनाथचरित, 1 4
87 क0को0 पृ010–14
88 आ0क0को0 समन्तभद्रकथा
89 रा0क0 समन्तभद्र कथा 8 10
90 क0को0 4 13 एव 4 13
91 जैन, डॉ न0कु0 स0दा0स0 पृ037
92 रघुवश 6 59
93 एपिग्राफिका इण्डिका 10 102

94 अनकान्त किरण 11 12 1957पृ0324
95 जैनशि0स0भाग 3 क0 189 192
202 214 215,216 आदि
96 श्रुतावतार 10
97 जैनशि0स0भाग 4 कम 55
98 वही भाग 1 कम 137 286 भाग 3
कम 322,538 611 आदि
99 देवसेन दर्शनसार 25–8
जैनशि0स0 भाग 5 कम 14 15
वही भाग 2 कम 178
100 जैनशि0स0 भाग 3 प्रस्ता0 पृ035
101 युक्त्य0 पद्य सख्या
102 दे0वृत्ति 1 2, 114 एव 115
103 स्वय0टीका 112 रत्न0टीका 1 1 5 29 1
104 जिन0टीका 1और 2
105 जिन0116 एव टीका 116
मूड0जैनमठ पा0676 471 334 218
106 वही पा0 218,334 471 एव 676
काल्हापुर ल0सेन भ0पा030 9 31 1
बाहुवली ग्र0पा081 2445 पृ
भा0पा0991 1887 91 आदि
107 जैनशि0स0भाग 1 40 105 108भाग
2 सख्या 213 214भाग 3 स0326
667 भाग 3 स0305 723भाग 4 स
515 516 भाग 2 स0 207भाग1स0
493 भाग 2 स0217 आदि
108 चतुष्टय समन्तभद्रस्य जैनेन्द्र या
करण 514 / 140
109 मुख्तार जु0कि0रत्न0प्रा0पा058
110 वही पृ054
111 कोठिया द0लाल जैनदर्शन प्रमाण
शास्त्र परिशीलन पृ0141
112 वही पृ0231
113 स0 ता0 पृ0 141 से उद्धृत

परिच्छेद द्वितीय

समन्तभद्र का समय एवं उनकी कृतिया

विभिन्न विद्वानो ने उपलब्ध साक्ष्यो के आधार पर समन्तभद्र के समय निर्धारण के प्रयत्न किये है। आर एस नरसिहाचार्य, बी लेविस राईस, एडवर्ड पी राईस, आर जी भाण्डारकर ,के बी पाठक एस एस रामस्वामी आयगर ,सतीशचन्द्र विद्याभूषण ,सुखलाल सघवी, प० जुगलकिशोर मुख्तार, नाथूराम प्रेमी, डॉ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, प० ज्योति प्रसाद जैन, डॉ दरबारीलाल कोठिया, मुनि जिनविजय, प० दलसुख मालवणिया, प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रो० ए० एन० उपाध्ये और डॉ हीरालाल जैन आदि विद्वानो ने अपने तर्कों से विभिन्न निष्कर्ष निकाले हैं, जिनमे प० जुगलकिशोर मुख्तार और डॉ ए० एन० उपाध्ये के सन्दर्भ विशेष उल्लेखनीय हैं। हमारे द्वारा यहा मात्र उपर्युक्त विद्वानो के विचारो का पुनरीक्षण किया गया है।

ईसा द्वितीय शती

आर एस नरसिहाचार्य,[1] बी लेविस राईस[2], एडवर्ड पी राईस,[3] आर जी भाण्डारकर,[4] प० ज्योति प्रसाद जैन,[5] मुनि जिनविजय[6], प० नेमिचन्द्र शास्त्री[7] आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी मानते हैं।

ईसा द्वितीय एव तृतीय शती

प० जुगलकिशोर मुख्तार,[8] प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य[9], डॉ दरबारी लाल कोठिया,[10] प० कैलाश चन्द्र शास्त्री,[11] डॉ ए०एन० उपाध्ये,[12] डॉ हीरा लाल[13] आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय ईसा की द्वितीय एव तृतीय शताब्दी स्वीकार करते हैं।

चौथी शती

डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल समन्तभद्र का समय ई० की चौथी शती मानते है।[14]

पांचवीं और छठी शताब्दी

सतीश चन्द्र विद्याभूषण[15] नाथूराम प्रेमी[16], दलसुख मालवणिया[17] आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय ईसा की पाचवी और छठी शती अनुमान करते हैं।

सातवीं आठवीं शती

के वी पाठक[18], एम एस स्वामी आयगर,[19] प0 सुखलाल सघवी[20] आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी अनुमान करते हैं।

डॉ. ए. एन उपाध्ये और डॉ हीरालाल जैन का मत

डॉ0 ए एन उपाध्ये और डॉ हीरा लाल जैन ने पूज्यपाद द्वारा जैनेन्द्र व्याकरण मे उल्लिखित, समन्तभद्र को आप्तमीमासा , स्वयम्भूस्तोत्र आदि तार्किक कृतियो के लेखक के रूप मे माना है। उन्होने बताया है कि पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण मे भूतवली , प्रभाचन्द्र, श्रीदत्त, समन्तभद्र, सिद्धसेन और यशोभद्र नाम के आचार्यों का उल्लेख किया है। पूज्यपाद द्वारा लिखे गये[21] **चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**' की महावृत्ति मे समन्तभद्र को तार्किक[22] समन्तभद्र कहकर उन्ही समन्तभद्र का उल्लेख किया गया है, जिनके आप्तमीमासा, स्वयम्भूस्तोत्र आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है।[23]

इस सम्बन्ध मे कतिपय विद्वानो द्वारा यह सन्देह व्यक्त किया जाता है कि समन्तभद्र जैन हैं या बौद्ध, क्योकि वादन्याय मे **नम· समन्तभद्रस्य** पद आया है। अवगत हो कि बुद्ध का नाम भी समन्तभद्र पाया जाता है। इसलिए आप्तमीमासाकार समन्तभद्र की इस नाम से सगति बैठाना असगत है। पूज्यपाद के द्वारा उल्लिखित सभी आचार्य, जैन आचार्य है, ये हमारा सुपरिचित तथ्य है। इसलिए जबतक इसके विरूद्ध कोई सबल प्रमाण नही मिल जाता तबतक समन्तभद्र को एक जैन आचार्य के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए।[24]

स्व0 प0 सुखलाल सघवी और बी जे दोषी ने यह सिद्ध करने कि कोशिश की है कि समन्तभद्र चन्द्रकीर्ति की व्याकरण का नाम है।[25]यह सिद्ध करने के लिए अधोलिखित तर्क दिए गये हैं–

1 यह निश्चित प्रमाण नही है कि समन्तभद्र द्वारा कोई व्याकरण लिखा गया है।

2 समन्तभद्र की उपलब्ध कृतियो मे 'चतुष्टये' पाये जाने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

3 बुदोन्न के इतिहास मे बुद्ध समन्तभद्र व्याकरण का उल्लेख किया गया है।

4 समन्तभद्र द्वारा लिखी गयी कोई व्याकरण होती तो शाकटायन या हेमचन्द्र अपने सूत्रो अथवा व्याख्याओ मे उसके उल्लेख करने की भूल न करते।

डॉ ए एन उपाध्ये ने उपर्युक्त तर्कों को निराधार सिद्ध करते हुए बताया है कि –

1 यह दलील ठीक नही है कि समन्तभद्र द्वारा व्याकरण लिखी ही गयी है तथा यह अनुमान करना असगत है कि पूज्यपाद ने आवश्यक रूप से वैयाकरणो का ही नामोल्लेख किया है। उदाहरण के लिए यदि सिद्धसेन का कोई व्याकरण था, तो वह अभी तक प्रकाश मे नही आया, जो कुछ भी सिद्धसेन से जोडा जाता है वह उनकी द्वात्रिशिकाओ मे से एक मे खोजा जा सकता है। अन्य भी अनेक नाम जैनेन्द्र व्याकरण मे ऐसे हैं, जो सभी वैयाकरण नहीं थे।

2 द्वितीय तर्क एक विपरीत प्रमाण है, जिससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता क्योकि समन्तभद्र की सभी कृतिया उपलब्ध नही होती। अत उक्त तथ्य की खोज की सम्भावनाये तो असम्भाव्य नही हैं।

3 **'समन्तभद्रस्य'** इस पद मे षष्ठी एक वचन के प्रयोग से स्पष्ट है कि यह सन्दर्भ एक लेखक का है न कि कृति का यदि यह कृति

का नाम होता तो सप्तमी अथवा पचमी का होना चाहिए था। क्योकि इस नियम से सभी सस्कृतज्ञ सहमत है कि बुद्ध के नाम पर बौद्ध लेखक चन्द्रकीर्ति का समन्तभद्र नाम का सस्कृत व्याकरण हो सकता है। बुद्ध के नाम पर एक व्याकरण होना स्वाभाविक है। जैसे शिवसूत्र और स्वय ब्रह्म से उत्पन्न हुए बहुत ग्रन्थ देखे जाते हैं। इसी तरह जैनेन्द्र व्याकरण स्वय महावीर द्वारा निर्मित करने का प्रयत्न किया गया था किन्तु वह प्रयत्न असफल रहा। इसके अतिरिक्त चन्द्रकीर्ति कृत व्याकरण भी उपलब्ध नही है। अत पूर्वोक्त कल्पना निराधार है। यहा एक बात उल्लेखनीय है कि अभयनन्दि, समन्तभद्र की व्याख्या **समन्तभद्राचार्यस्य** करते है।

4 इस सम्बन्ध मे डॉ उपाध्ये ने डॉ आर एन दाण्डेकर से प्राप्त एक प्रसग की चर्चा की है कि जल्हण की सूक्तिमुक्तावली के पृष्ठ 39,40,65,68,88,124,184 और 369मे आठ श्लोक मालती माधवस्य करके आये है। इनका उस नाम के नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्व0 आर जी भाण्डारकर ने उसे उस नाम के कवि का बतलाया है।[26]इससे इस बात का पूर्ण समर्थन होता है कि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग ग्रन्थकार को सूचित करता है, ग्रन्थ को नही। जल्हण ने जहा कही किसी ग्रन्थ का उद्धरण दिया है, वहा पचमी विभक्ति का प्रयोग किया है।

5 अत समन्तभद्र कृत जैनव्याकरण की कल्पना साधार नही है। इसलिए अधिक आलोचनीय है। यद्यपि एक प्राकृत व्याकरण को समन्तभद्र का कहा जाता है, किन्तु वह हेमचन्द के प्राकृत व्याकरण के बाद रचा गया है। यह तर्क निराधार है कि शाकटायन और हेमचन्द के द्वारा उसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था, किन्तु उन्होने उसका उल्लेख क्यो नहीं किया। प्रथम यह एक निषेधात्मक तर्क है। दूसरे यह नहीं कहा जा सकता कि शाकटायन और हेमचन्द ने अपने सभी स्रोतो का नामोल्लेख किया है। यह सत्य है कि हेमचन्द ने प्रकृत विषय के पूर्व ग्रन्थो का उल्लेखनीय

आलोडन किया है, किन्तु उन्होने उन सबका नामोल्लेख किया हो ऐसी बात नही है। उन्होने अपने प्राकृत व्याकरण की रचना मे वररूचि के प्राकृत व्याकरण का उपयोग किया है, किन्तु वररूचि के नाम का उल्लेख नही किया । अत इस तरह के तर्क प्रभाव हीन हैं।

समन्तभद्र पूज्यपाद के बाद नहीं

पूज्यपाद द्वारा समन्तभद्र का स्पष्ट उल्लेख किये जाने के बाद भी स्व0 प0 सुखलाल सघवी[27], बी एस अग्रवाल[28], नाथूराम प्रेमी[29] आदि विद्वान् समन्तभद्र को पूज्यपाद से पहले का नहीं मानते। उनका कहना है कि विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री मे स्पष्ट लिखा है कि समन्तभद्र ने पूज्यपाद के द्वारा स्तुत आप्त की मीमासा से ही आप्तमीमासा रची है।

डॉ उपाध्ये ने इन तर्कों को निराधार बताते हुए लिखा है कि विद्यानन्द ने कहीं पर भी पूज्यपाद का नामोल्लेख नहीं किया है। विद्यानन्द ने मात्र इतना ही लिखा है कि उन्होने उसकी स्तुति अथवा स्तोत्र की व्याख्या की है, जो तत्त्वार्थसूत्र के आदि मे शास्त्रकार द्वारा लिखा गया है और स्वामी द्वारा मीमासित है। यहा उनका स्वामी से समन्तभद्र और मीमासा से आप्तमीमासा लक्ष्य है।

'मोक्षमार्गस्य' आदि श्लोक तत्त्वार्थसूत्र के लेखक द्वारा रचा गया है अथवा तत्त्वार्थशास्त्र या सूत्र पर टीका लिखने वाले पूज्यपाद द्वारा यह एक विवाद का विषय रहा है।

यिद्यानन्द ने स्पष्ट रूप से शास्त्र के लेखक को ही सूचित किया है। पूज्यपाद को नहीं। अगर यह कहा जाये कि पूज्यपाद ने उस पर व्याख्या नहीं लिखी तो उक्त तर्क नकारात्मक होता है, जिससे कुछ भी सिद्ध नही होता। अत हमे भ्रमित करने वाली प्रति पर ध्यान नही देना चाहिए। यह पता लगाना कठिन है कि पूज्यपाद के सामने कौन सी पाण्डुलिपिया थी और उनके समय मे मौखिक या परम्परा से कैसे मूलग्रन्थ प्राप्त किया

जाता था। दक्षिण के वीरसेन जैसे समर्थ लेखक ने तत्त्वार्थसूत्र के लेखक के रूप मे गृद्धपिच्छ का उल्लेख किया है।

सम्भवतया इसका आधार सूत्रो का एक सशोधित सस्करण है, जिसमे एक श्लोक पाया जाता है, जो गृद्धपिच्छाचार्य को उसका कर्ता बतलाया है। यह अवश्य ही उस श्लोक का पूर्वज होना चाहिए, जो कुछ प्रतियो मे इस प्रकार पाया जाता है।

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गव्रीन्द्र संजातमुमास्वामी मुनीश्वरम्।।

यह अनुमान एक दूसरे अनुमान की ओर ले जाता है। कुछ सूत्र पाठो के प्रारम्भ मे मगल रूप मे एक श्लोक लिखा है –

मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम्।
ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये।।

इस प्रकार उपस्थित मगल मे नमस्कार और वस्तु निर्देश दोनो ही प्रसगानुसार हैं। मगलाचरण मोक्षमार्गस्य से प्रारम्भ होता है और प्रथम सूत्र मोक्षमार्ग क्या है, यह ठीक रीति से बतलाता है।

तत्त्वार्थसूत्र के दो अन्य विषय हैं कर्म और ज्ञान। अत विद्यानन्द की दृष्टि मे उक्त मगल श्लोक तत्त्वार्थसूत्र के लेखक का है, पूज्यपाद का बिलकुल नहीं।

समन्तभद्र की शैली आदि उत्तरकालीन है यह विध्यात्मक होने पर भी अत्यन्त धुधला है। भारत मे दार्शनिक विचारो और परिभाषाओ के प्रवाह को दृष्टि मे रखते हुए सम्बद्ध काल निर्णय के लिए उसका उपयोग तर्क के रूप मे नही किया जा सकता है। इन सबसे सिद्ध होता है कि जैनेन्द्र व्याकरण मे उल्लिखित समन्तभद्र देवागम या आप्तमीमासा तथा अन्य ग्रन्थो के लेखक तार्किक समन्तभद्र ही है।

आचार्य समन्तभद्र की रचनाओ का अन्त परीक्षण करके यह निश्चित करना कठिन नही है कि उनकी क्या समयावधि है। इसमे कोई सन्देह नही है कि आचार्य पूज्यपाद पाचवी शताब्दी के विद्वान् हैं।पाचवीं शताब्दी के पूर्व और पश्चात बौद्ध दार्शनिको ने जैनदर्शन की कई मान्यताओ का विरोध व खण्डन करने का प्रयत्न किया है। नागार्जुन एक ऐसे ही विद्वान् हैं, जिन्होने आचार्य कुन्दकुन्द उमास्वामी जैसे दार्शनिक विद्वानो के सिद्धान्तो का विरोध करते हुए अभाव या शून्यवाद की स्थापना की। ये माध्यमिक दर्शन के पुरस्कर्ता कहे जाते है। उनके विचार मे ससार अवास्तविक और शून्य है। वास्तव मे भाव और अभाव के बीच की स्थिति मानने से वे शून्यवादी है। उनका कथन है कि जितनी वस्तुसत्ता है, जितना भाव है, सब क्षणिक है। जैसे हम बादल की घटा देखते हैं और वह क्षणमात्र मे विनष्ट हो जाती है। उसी प्रकार सम्पूर्ण सत् पदार्थ क्षणिक है। नागार्जुन ने 'विग्रहव्यावर्तिनी' मे सत् का प्रतिषेध किया है और बताया है कि असत् का प्रतिषेध नही किया जाता।[30]

आचार्य समन्तभद्र ने भी 'आप्तमीमासा' मे जैनदर्शन की दृष्टि से अपने ढग से यह सिद्धान्त स्थापित किया है और स्पष्ट किया है कि पर द्रव्यादि चतुष्टय से सत पदार्थ का ही प्रतिषेध किया जाता है, असत् का नही, क्योकि भाव, विधि और निषेध का स्थान होता है।[31]इस आधार पर कुछ विद्वानो द्वारा यह माना जाता है कि समन्तभद्र पर नागार्जुन का प्रभाव पडा[32], परन्तु इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि समन्तभद्र का प्रभाव नागार्जुन पर पडा और यह सत्य भी है।

आचार्य समन्तभद्र ने अपनी रचनाओ मे, प्रत्यक्ष लक्षण मे जिन शब्दो एव पदो का प्रयोग किया है वही दिग्नाग की रचनाओ मे भी उपलब्ध होता है। न्याय वैशेषिक, मीमासा और बौद्ध किसी भी परम्परा ने अज्ञान के नाश को प्रमाण का फल नही माना हैं। अज्ञान के नाश को प्रमाण का फल मानने वाली जैन परम्परा है और जिसके पुरस्कर्ता आचार्य समन्तभद्र हैं। बौद्ध आचार्य दिग्नाग ने इस मान्यता का खण्डन किया है। इस कारण यह निश्चित होता है कि वे समन्तभद्र के उत्तरवर्ती थे। दिग्नाग के खण्डन का

सबल तथा सप्रमाण उत्तर आचार्य अकलक देव ने दिया, जिससे स्पष्ट होता है कि समन्तभद्र दिग्नाग से पूर्ववर्ती थे। भारतीय व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र मे यह प्रसिद्ध तथ्य है कि भतृहरि, शब्दाद्वैत के प्रतिष्ठापक और स्फोटवाद के पुरस्कर्ता हुए। उत्तरवर्ती दार्शनिको मे कुमारिल, धर्मकीर्ति, अकलक, विद्यानन्द आदि ने अपने प्रबल तर्कों से श्ब्दाद्वैत और स्फोटवाद का खण्डन किया। यदि समन्तभद्र भतृहरि के उत्तरवर्ती होते तो निश्चय ही वे शब्दाद्वैत और स्फोटवाद का खण्डन करते परन्तु समन्तभद्र की रचनाओ मे कही भी उनका उल्लेख नहीं है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि समन्तभद्र भतृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती थे।[33]

नि सन्देह आचार्य समन्तभद्र की प्राप्त रचनाओ मे आप्तमीमासा बेजोड है। इस रचना मे उन्होने आप्त की सिद्धि के लिए सर्वज्ञता की प्रस्थापना को तार्किक कसौटी पर कसकर प्रकट किया है। उन्होने दोष ओर आवरणो से रहित होने के लिए नियामक रूप से वीतरागता की सिद्धि की है। प्रसिद्ध मीमासक एव तार्किक कुमारिल भट्ट ने तत्त्वसग्रह मे सर्वज्ञता की आलोचना की है और उसे व्यर्थ बताया है। वस्तुत कुमारिल से पूर्व समन्तभद्र के अतिरिक्त किसी भी दार्शनिक ने सर्वज्ञता की स्थापना नही की थी। अत इससे स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी के विद्वान् कुमारिल भट्ट से समन्तभद्र पूर्ववर्ती है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र को दिग्नाग और धर्मकीर्ति का उत्तरवर्ती सिद्ध करने के लिए कुछ हेतु प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु उनकी पर्यालोचना करने पर यह निश्चित हो जाता है कि दोनो ही विद्वान् आचार्य समन्तभद्र के उत्तरवर्ती थे। अतएव समन्तभद्र के समय के सम्बन्ध मे पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ ए एन उपाध्ये और डॉ हीरालाल जैन आदि की जो मान्यता है कि समन्तभद्र का जन्म शक् सवत् 60 अर्थात् ईसा की दूसरी शताब्दी मे हुआ था, वही प्रमाणिक प्रतीत होता है।[34]

आचार्य समन्तभद्र के विषय मे जो उपर्युक्त मतभेद की चर्चा की गयी है, उनकी दो कोटिया बनायी जा सकती है। प्रथम कोटि के अन्तर्गत वे विद्वान् आते है, जो समन्तभद्र को पूज्यपाद का पूर्ववर्ती मानते हैं। द्वितीय

कोटि के अन्तर्गत वे विद्वान् आते हैं, जो उन्हे पूज्यपाद के बाद का मानते हैं। प्रथम कोटि पर विचार करने वाले इतिहास के अन्वेषक स्व प जुगलकिशोर मुख्तार प्रमुख है, जिन्होने समन्तभद्र के समय आदि पर विस्तार से विचार किया है तथा इस विषय मे अन्य विद्वानो के विचारो की समीक्षा करके समन्तभद्र का समय ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शती निर्धारित किया है।

स्व0 प0 जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा समन्तभद्र के काल निर्णय ईसा की प्रथम द्वितीय शती का सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किये गये हैं।

1 श्रवणवेलगोल शिलालेख सख्या 40 मे महान् आचार्यों की परम्परा मे समन्तभद्र का नाम उमास्वामी के शिष्य बलाकपिच्छ के बाद लिया गया है।

2 डॉ भाण्डारकर द्वारा सन् 1883–84 मे हस्तलिखित सस्कृत ग्रन्थो की अनुसन्धान विषयक रिपोर्ट मे प्रकाशित दिगम्बर पट्टावलि मे 60 शक् राज्ये दिगम्बराचार्य श्री समन्तभद्रसूरि, उल्लेख प्राप्त होता है। इसी पट्टावलि का उल्लेख लेविस राईस, नरसिहाचार्य तथा ए पी राईस ने किया है।

3 श्वेताम्बर पट्टावलि मे सामन्तभद्र नामक एक आचार्य के पट्टारम्भ की तिथि का वी नि स 643 तथा उनके पट्ट शिष्य द्वारा एक प्रतिष्ठा कराने की विधि का वी नि स 695 मे उल्लेख किया गया है।

4 लेविस राईस के द्वारा ईसा की दूसरी शती के लगभग गग राज्य की स्थापना करने वाले आचार्य सिहनन्दि का समन्तभद्र के बादमे होना अनुमान किया गया है।

5 श्रवणवेलगोल के शिलालेख सख्या 54 मे समन्तभद्र का स्मरण सिहनन्दि के पहले है।

6 शिमोगा ताल्लुक के हुमच से प्राप्त ग्यारहवी बारहवी शताब्दी के तीन शिलालेखो मे गगराज्य सस्थापक सिहनन्दि का समन्तभद्र के अन्वय मे होना सूचित किया गया है।

7 नजूनगढ ताल्लुक से प्राप्त और एपिग्राफिया कर्णाटिका की जिल्द 3सख्या 110पर प्रकाशित वह शिलालेख जिसमे प्रथम गग नरेश द्वारा शक् स0 25–सन 103 मे किसी के दान मे दिये जाने का उल्लेख है।

8 श्रवणवेलगोल के शिलालेख सख्या 40 मे समन्तभद्र के परिचयात्मक श्लोक के बाद तत करके 'यो देवनन्दि प्रथमाविधान इत्यादि श्लोको के द्वारा पूज्यपाद का परिचय दिया गया है।

9 जैनेन्द्र व्याकरण मे पूज्यपाद द्वारा 'चतुष्टय समन्तभद्रस्य' सूत्र के द्वारा समन्तभद्र के नाम का उल्लेख किया गया है।

10 विबुध श्रीधर ने तुम्बूलाचार्य को षटखण्डागमादि सिद्धान्त ग्रन्थो का टीकाकार नहीं माना है और श्रुतावतार मे कुन्दकीर्ति के बाद श्यामकुण्ड को और श्यामकुण्ड के बाद समन्तभद्र को और समन्तभद्र के बाद वप्पदेव को टीकाकार माना है।

11 द्वितीय कोटि के विद्वानो मे प0 सुखलाल सघवी प्रमुख हैं। स्व0 सघवी जी ने समन्तभद्र को पूज्यपाद के बाद का सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं।

क. समन्तभद्र पूज्यपाद के आप्तस्तोत्र के मीमासाकार है।

ख. अकलक ने सर्वप्रथम समन्तभद्र की कृति पर व्याख्या लिखी है। अत समन्तभद्र और अकलक के बीच साक्षात् गुरू शिष्य का सम्बन्ध रहा है।

ग. समन्तभद्र के अन्तरग विवेचन निरूपण का ढग और विचार विकाश आदि पूज्यपाद के पहले का नहीं माना जा सकता।

स्व0 प0 जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ उपाध्ये और डॉ कोठिया आदि विद्वानो ने द्वितीय कोटि के विद्वानो द्वारा दिये गये तर्कों की विस्तृत समीक्षा

की है तथा अपने निष्कर्ष दिये है कि समन्तभद्र पूज्यपाद के बाद किसी भी प्रकार सिद्ध नही हो सकते। इन विद्वानो का प्रमुख तर्क पूज्यपाद के द्वारा समन्तभद्र का उल्लेख किया जाना है।

अकलक द्वारा समन्तभद्र की कृति पर सर्वप्रथम टीका लिखी गयी है, मात्र इतने से यह निष्कर्ष निकालना कि इन दोनो आचार्यों के बीच गुरू—शिष्य सम्बन्ध रहा है, उचित प्रतीत नही होता, क्योकि यह आवश्यक नही है की मूल कृति के लेखक की उपस्थिति मे ही टीकाकार टीका लिखे।इस सम्बन्ध मे यह प्रतीत होता है कि समन्तभद्र की कृतियो की विषयवस्तु निरूपण का ढग इतना पर्याप्त था कि उसमे और बढाने और टीका लिखने की अकलक तक के लम्बे समय तक कोई जरुरत नही पडी। जब तर्क युग मे दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ तब अकलक को उसपर टीका लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई और उन्होने उस पर टीका लिखी। स्मरणीय है कि अकलक के उल्लेखानुसार सम्भवतया उनके पूर्व भी आप्तमीमासा पर कोई टीका लिखी गयी थी।[35] इस स्थिति मे अकलक को प्रथम टीकाकार मानना और समन्तभद्र के साथ उनका गुरु शिष्य सम्बन्ध प्रतिपादित करना उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिए टीकाकारो द्वारा विवेचित सिद्धान्तो को समन्तभद्र कृत मानकर प्रमाणशास्त्र के इतिहास के सन्दर्भ मे भ्रममूलक निष्कर्ष निकालना किसी भी दृष्टि से उचित नही माना जा सकता।

समन्तभद्र को पूज्यपाद के बाद मानने का आधार मोक्षमार्गस्य0 आदि वह विवादग्रस्त श्लोक है, जिसे कुछ विद्वान् तत्त्वार्थसूत्र का तथा कुछ विद्वान् सर्वार्थसिद्धि का मगलाचरण मानते हैं और इसी पद्य के आधार पर आप्तमीमासा की रचना की जाना प्रतिपादित करते हैं।

उक्त श्लोक किस ग्रन्थ का मगलाचरण है और क्या वास्तव मे समन्तभद्र की आप्तमीमासा का आधार वही श्लोक है, ये दोनो भिन्न भिन्न विचारणीय विषय हैं और दोनो ही विषयो मे एकमत हो पाना कठिन है, किन्तु पूज्यपाद द्वारा समन्तभद्र का स्पष्ट उल्लेख किये जाने के बाद भी

उसे नकारना हास्यास्पद प्रतीत होता है। पूज्यपाद के द्वारा उल्लिखित समन्तभद्र का अभिप्राय चन्द्र व्याकरण है। इस प्रकार की अटकले ऐतिहासिक गवेषणा के लिए बहुत बडी बाधा है। पूज्यपाद ने जितने भी जैनाचार्यों का उल्लेख किया है, वे सभी दार्शनिक है और एक का भी व्याकरण ग्रन्थ प्राप्त नही होता। इसलिए पूज्यपाद द्वारा समन्तभद्र के उल्लेख पर सशय करने की थोडी भी गुजायश नही हे।

सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन और रत्नकरण्डश्रावकाचार का भी प्रभाव है। अत समन्तभद्र को पूज्यपाद के बाद का मानने का प्रश्न ही नही उठता।

समन्तभद्र के समय विषयक उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्व० प० जुगलकिशोर मुख्तार और डॉ ए एन उपाध्ये आदि विद्वानो ने समन्तभद्र को सप्रमाण पहली– दूसरी शताब्दी का सिद्ध किया है, जिसके विरुद्ध अब तक कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए। अतएव समन्तभद्र का समय पहली दूसरी शताब्दी मानना ही उचित है।

समन्तभद्र की कृतिया

समन्तभद्र द्वारा रचित 11कृतियो के उल्लेख पाये जाते हैं जो निम्न हैं[36] –

1 देवागम या आप्तमीमासा
2 स्वयम्भूस्तोत्रम्
3 युक्त्यनुशासनम्
4 स्तुतिविद्या
5 रत्नकरण्डश्रावकाचार
6 जीवसिद्धि
7 तत्त्वानुशासन
8 प्राकृत व्याकरण
9 प्रमाण पदार्थ
10 कर्मप्राभृत टीका
11 गन्धहस्तिमहाभाष्य

उपर्युक्त कृतिया मे आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या और रत्नकरण्डश्रावकाचार उपलब्ध है एव शेष 6 कृतिया अनुपलब्ध हैं।

आप्तमीमासा · देवागम

आप्तमीमासा एक गूढ दार्शनिक कृति है। इसका दूसरा नाम देवागम स्तोत्रम् भी है।[37] इसमे आप्त की मीमासा होने के कारण इसको आप्तमीमासा कहा जाता है। स्वय समन्तभद्र ने भी इसको इसी नाम से अभिहित किया है।[38] यह ग्रन्थ स्वयम्भूस्तोत्रम् की तरह देवागम पद से प्रारम्भ होने के कारण देवागम स्तोत्रम् कहा जाता है।

इस ग्रन्थ मे 114 कारिकाए हैं। कन्नड लिपि मे लिखी ताडपत्रीय पाण्डुलिपियो मे जयतिजगति आदि एक पद्य पाया जाता है। इस सम्बन्ध मे पाण्डुलिपियो के परीक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि दक्षिण भारत मे ताडपत्रो पर कन्नड लिपि मे लिखी हुई जो मूलग्रन्थ की प्रतिया उपलब्ध होती हैं, उनका मूल स्रोत अकलक या विद्यानन्द के टीका ग्रन्थ हैं। उन्ही मे से बाद मे मूल ग्रन्थ की पाण्डुलिपिया तैयार की गयी। यही कारण है कि सभी प्रतियो मे विद्यानन्द द्वारा उल्लिखित जयतिजगति' आदि पद्य उपलब्ध होता है तथा ग्रथ का दश परिच्छेदो मे वर्गीकरण भी प्राप्त होता है। दक्षिण भारत से कन्नड लिपि की जो ताडपत्रीय प्रतिया उत्तरभारत आयी अथवा उनके आधार पर देवनागरी लिपि मे जिनका कागज पर लिप्यन्तरण किया गया है, उनमे भी यह परम्परा स्पष्ट परिलक्षित होती है। अकलक ने 114 कारिकाओ पर ही व्याख्या लिखी है। 'जयतिजगति आदि पद्य इनकी टीका की पाण्डुलिपियो मे प्राप्त नही होता। वसुनन्दि ने 114 कारिकाओ की तरह 'जयतिजगति' आदि पद्य की भी वृत्ति लिखी है। विद्यानन्द ने अष्टसहस्री मे **'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिद मंगलवचनमनुमन्यन्ते[39]** लिखकर उक्त पद्य दिया है। इसप्रकार अष्टशती की पाण्डुलिपियो से ज्ञात होता है कि जयति जगति आदि पद्य आप्तमीमासा का नही है। इसका समर्थन विद्यानन्द के केचिदिद0 इत्यादि वाक्य से भी होता है, फिर भी विद्यानन्द के उल्लेख से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि उनके मूलग्रन्थ की कुछ ऐसी भी प्रतिया प्राप्त थी, जिनमे यह पद्य उपलब्ध था। परिमाण के विषय मे एक बात और विचारणीय है कि इस ग्रन्थ मे विरोधान्नो[40] आदि कारिका दश बार आयी है। इस दृष्टि से

ग्रन्थ का वास्तिविक परिमाण 105 कारिका ठहरता है। अन्तिम कारिका समाप्ति सूचक या अन्त्यमगल के रूप मे है इससे प्रतीत होता है कि समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ की रचना एक शतक के रूप मे की थी।[39]

यह ग्रन्थ 10 परिच्छेदो मे विभक्त है। ये परिच्छेद उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की तरह स्वय समन्तभद्र के द्वारा निर्धारित किये गये हैं। प्रथम परिच्छेद मे 1 से 23 कारिकाये है, जिनके द्वारा भाव और अभाव के सम्बन्ध मे उन एकान्तवादो की समीक्षा की गयी है, जो ग्रन्थकार के समय चर्चित थे तथा उनका नय विवक्षा से समाधान देकर अनेकान्त की स्थापना की है। द्वितीय परिच्छेद मे 24 से 26 तक 13 कारिकाऐ है। इसमे अद्वैतैकान्त आदि एकान्तवादो की समालोचना करके उनका अनेकान्त दृष्टि से समाधान प्रस्तुत किया है। तृतीय परिच्देद मे 37 से 60 तक 24 कारिकाऐ हैं, जिनमे साख्य दर्शन के एकान्त नित्यवाद की आलोचना करके वस्तु मे नित्यता और अनित्यता दोनो को प्रतीति सिद्ध बतलाया गया है। चतुर्थ परिच्छेद 61 से 72 तक 12 कारिकाओ मे निबद्ध है। जिसमे भेद अभेद को लेकर विभिन्न वादियो द्वारा मान्य भैदैकान्त, अभैदैकान्त आदि एकान्तो की आलोचनापूर्वक उसका स्याद्वाद और नय दृष्टि से अनेकान्तात्मक व्यवस्था दी गयी है। पचम परिच्छेद मे 73 से 75 कारिकाओ मे जैनदृष्टि से उन एकान्तवादियो की समीक्षा की गयी है जो सर्वथा अपेक्षा या सर्वथा अनपेक्षा से वस्तु स्वरूप की सिद्धि मानते है। षष्ठ पच्छिेद 76 से 78 कारिकाओ द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि वस्तु सिद्धि का अग उपायतत्त्व हेतुवाद और अहेतुवाद भी अनेकान्तात्मक है। सप्तम परिच्छेद मे 79 से 87 तक 9 कारिकाओ द्वारा अनेकान्त और बाह्यार्थैकान्त आदि एक एक एकान्तो के स्वीकार करने मे आने वाले दोषो को दिखलाते हुए निर्दोष अनेकान्त की स्थापना की गयी है। अष्टम् परिच्छेद मे 88 से 91 तक 4 कारिकाओ के द्वारा देवैकान्त, पौरुषैकान्त आदि एकान्तो को त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए उनमे स्याद्वाद से वस्तुसिद्धि की व्यवस्था की गयी है तथा सप्तभगी की योजना को सिद्ध किया गया है। नवम् परिच्छेद मे 92 से 95 तक चार कारिकाओ के द्वारा दैवकारकोपाय तत्त्वके पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी

स्थिति पर विचार किया गया है। पुण्य पाप के सम्बन्ध मे व्याप्त एकान्त मान्यताओ के खण्डन पूर्वक स्याद्वाद से उसका समाधान दिया गया है। दशम परिच्छेद मे 96 से 114 तक 19 कारिकाओ मे यह बतलाया गया है कि सभी वस्तुए प्रमाण, प्रमेय, वाच्य वाचक आदि स्वभावत स्याद्वाद मुद्राकित हैं। विभिन्न एकान्तवादो की समीक्षा के प्रसग मे अनेकान्त, स्याद्वाद, प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण के भेद, फल, प्रयोजन, सप्तभगी, प्रमाणाभास, हेतु आदि पर भी विचार किया गया है।

युक्त्यनुशासन

युक्त्यनुशासन आचार्य समन्तभद्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को वीरजिन स्तवन भी कहा जाता है। इसमे 64 कारिकाए है। भगवान महावीर और उनके द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद शासन की स्तुति करने के उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इस स्तुति ग्रन्थ की टीका से अवगत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ दो प्रस्तावो मे विभक्त है। प्रथम प्रस्ताव कारिका 1 से 39 तक तथा द्वितीय प्रस्ताव 40 से 64 पद्य तक है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने स्वय ग्रन्थ के प्रस्तावो का विभाजन नही किया है। व्याख्याकार आचार्य विद्यानन्द ने भी प्रथम तथा द्वितीय के रूप मे प्रस्तावो का उल्लेख नही किया है, परन्तु ग्रन्थ के मध्य मे उन्होने स्पष्टतया प्रथम प्रस्ताव समाप्ति का उल्लेख किया है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शेष भाग द्वितीय प्रस्ताव ही है। ग्रन्थकार ने प्रथम 39 कारिकाओ मे एकान्तवादियो की समीक्षा की है तथा द्वितीय प्रस्ताव मे उत्तरपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद या वीरशासन का निरूपण किया है।

स्वयम्भूस्तोत्र

स्वामी समन्तभद्र की कृति स्वयम्भूस्तोत्र हृदयहारिणी एक अपूर्व स्तोत्र ग्रन्थ है। इसमे ऋषभदेव से महावीर तक चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति विभिन्न छन्दो मे की गयी है। यह ग्रन्थ मात्र स्तुति ग्रन्थ नहीं है, वल्कि इसमे जैनशासन का सार भरा हुआ है। इस ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है— नि शेषजिनोक्तधर्मविषय । अर्थात् इस ग्रन्थ मे धर्म,

दर्शन, इतिहास, पुराण काव्य आदि सभी विषयो पर प्रकाश डाला गया है। यह स्तोत्र अद्वितीय है। इसके प्रत्येक पद को सूक्तार्थ अमल, स्वल्प और प्रसन्न विशेषण देकर यह बतलाया गया है कि वे सूक्त रूप मे सटीक अर्थ का प्रतिपादन करने वाले है, निर्दोष है, अल्पाक्षर है और प्रसाद गुण युक्त हैं। इस स्तोत्र का एक एक पद बीज पद जैसा है। स्वय ग्रन्थकार ने इसे आगम दृष्टि के अनुरूप कहा है।

यह ग्रन्थ भक्तियोग ज्ञानयोग और कर्मयोग की त्रिवेणी है। इसमे स्नान करने से अनिर्वचनीय ज्ञानानन्द एव सुखशान्ति प्राप्त होनी है। इस ग्रन्थ मे 24 स्तवन है प्रत्येक एक एक तीर्थंकर से सम्बन्धित है। प्रत्येक स्तवन मे पद्य सख्या समान नही है। कुल मिलाकर 143 पद्य है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे 13 प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया गया है।

स्तुतिविद्या या जिनशतक

स्तुतिविद्या आचार्य समन्तभद्र का एक स्तुतिपरक कलात्मक ग्रन्थ है। इसमे चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति अलकृत भाषा मे की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे कुल 116 श्लोक है, जो विभिन्न छन्दो मे रचे गये है। इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता यह है कि कही श्लोक के एक चरण को उलट कर रख देने से दूसरा चरण,[40] पूर्वार्द्ध को उलटकर रख देने से उत्तरार्द्ध[41] और सम्पूर्ण श्लोक को उलटकर रख देने से दूसरा श्लोक बन जाता है।[42] कही कही चरण के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध मे भी यही कम रखा गया है और कही कही एक चरण मे कमश जो अक्षर है, वे ही दूसरे चरण मे है। पूर्वार्द्ध मे जो उपर हैं वे ही उत्तरार्द्ध मे है।[43] पूर्ववर्ती श्लाक मे जो उपर है वही उत्तरवर्ती श्लोक मे है परन्तु अर्थ सबका एक दूसरेसे भिन्नहैऔर वह अक्षरो को जोड या तोडकर भिन्न भिन्न शब्दो तथा पदो की कल्पना द्वारा सगठित किया गया है।[44] ग्रन्थ मुरज मुरज बन्ध अर्द्ध भ्रम आदि विभिन्न प्रकार के चित्रालकारो तथा शब्दालकारो, अर्थालकारो के भेद प्रभेदो से अलकृत है। यही कारण है कि टीकाकार ने इस कृति को समस्तगुणगणोपत एव सर्वालकारभूषिता लिखा है। यह ग्रन्थ ग्रन्थकार के पाण्डित्य एव शब्दाधिपत्य

को सूचित करता है। ग्रन्थ दुर्बोध है। अत योगिनामपि दुष्करा विशेषण द्वारा अभिहित किया गया है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार

रत्नकरण्डश्रावकाचार आचार्य समन्तभद्र की श्रावकधर्म का प्रतिपादन करने वाली एक अनूठी कृति है। इसमे आचार्य ने ससार के दु ख से पीडित प्राणियो को ससार से छुडाने का उपाय बताया है। ससार से छूटने के लिए सम्यग्दर्शन की प्रधानता है। सम्यग्दर्शन के आश्रय से ही ससार को पारकर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

इस ग्रन्थ मे 150 श्लोक है, जो विभिन्न छन्दो मे रचे गये है। आचार्य समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ को निम्न प्रकार सात अधिकारो मे विभक्त कियाहै–

अधिकार सख्या	विषय	श्लोक सख्या
प्रथम	सम्यग्दर्शनाधिकार	41
द्वितीय	सम्यग्ज्ञानाधिकार	5
तृतीय	अणुव्रताधिकार	20
चतुर्थ	गुणव्रताधिकार	24
पचम	शिक्षाव्रताधिकार	31
षष्ठ	सल्लेखनाधिकार	14
सप्तम	प्रतिमाधिकार	15
	योग	150

सन्दर्भ

1 उदधृत मुख्तार जु कि रत्न प्राक्क पृ 118
2 इण्ट्रो इस्कि श्रव 1889
3 उदधृत मुख्तार जु कि रत्न प्राक्क पृ 119
4 अने वर्ष 14 कि 1 1956पृ 31
5 वही कि 11 12 1957पृ 324
6 जैन साहित्यसशाधक समिति 1977 पृ 6
7 ती आ प भाग 2पृ 184
8 रत्न प्राक्क पृ 196
9 सि वि टीका प्र पृ 17
10 आ प भूमिका पृ 20
11 जैनन्याय पृ 9
12 शा व्या जनरल एडीटोरियल पृ 1
13 वही पृ 9
14 जै महा वृत्ति पृ 7
15 ए हिस्ट्री आफ इडि लाजिक पृ 183
16 जै महावृत्ति भूमिका प्रस्तावना पृ31
जैन साहित्य और इतिहास पृ 45 46

17 जैन दार्शनिक साहित्य का सिहा पृ 1
18 उद्धृत मुख्तार जु कि समन्तभद्र का समय निर्णय अनेकान्त वर्ष14कि 1 1956 पृ 6
19 वहीं रत्न प्राक्क पृ 119
20 न्यायकु भाग2 प्राक्क पृ 17 -20 आदि
21 जै व्या 5 4 140
22 जै महावृत्ति पृ 67
23 उपाध्ये ए एन और जैन,हीरालाल शा व्या जनरल एडीटोरियल पृ 9
24 वही पृ 9
25 स प्र प्रस्तावना पृ 47 48
26 देखे मालतीमाधव प्राक्क पृ 9
27 अ ग्र प्राक्क पृ 8
28 जै महावृत्ति भूमिका पृ 7
29 वहीं पृ 30
30 विग्रहव्यावर्तिनी 11
31 आप्त कारिका 47
32 तत्त्वसग्रह भूमि पृ 73
33 जै प्र प पृ 112से118
34 द्रष्टव्य भाण्डारकर रिपार्ट 1883पृ 320
35 कोठिया द लाल,आप्त प्रस्तावना पृ 25
36 मुख्तार रत्न प्रा 197से
37 आप्त भा 1 2 अ स पृ 2पा पु 1 15एव पाण्डुलिपि
38 आप्त भाष्य 114
39 अ स पृ 294
40 द्रष्टव्य श्लोक स 10 83 88 95
41 वही 57 96 98
42 वही 86 87
43 वही 95 93 94
44 वहीं 5 15 25 11 12 16 17 37 38 46,47 76 आदि

❑❑❑

द्वितीय अध्याय

समन्तभद्र के स्तोत्र साहित्य का अनुशीलन

परिच्छेद प्रथम

स्तोत्र साहित्य का प्रादुर्भाव

भारत के प्राचीन साहित्य मे स्तोत्र साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण स्तोत्र साहित्य धार्मिक भावनाओ से ओतप्रोत है। प्रत्येक धर्म मे आराध्य की भक्ति करने के लिए स्तोत्रो या स्तुतियो का आश्रय लिया गया है। इस दृष्टि से स्तोत्र साहित्य के प्रादुर्भाव पर विचार करते ही स्वत ध्यान भारत के प्राचीनतम साहित्य की तरफ चला जाता है। वैदिक और श्रमण साहित्य मे वह दो भागो मे विभक्त है। वैदिक साहित्य पूर्णरूपेण धार्मिक है। इसमे प्रकृति की शक्तियो जैसे अग्नि, वायु, वरूण, मित्र, द्यावा पृथ्वी आदि को देवता मानकर उनकी वन्दना, स्तुति और प्रार्थना सूक्तो या कथाओ के रूप मे की गयी है। इस प्रकार स्तोत्र साहित्य का उद्गमस्थान वेद मे निबद्ध विभिन्न देवी देवताओ की गेय के रूप मे की गयी विभिन्न प्रार्थनाओ और स्तुतियो मे देखा जा सकता है। श्रमण आगमो मे भी गेय रूप मे विभिन्न कथानको आदि के माध्यम से किये गये तत्त्व विवेचन मे देखा जा सकता है।

धार्मिक साहित्य की ये परम्परा अविच्छिन्न रूप से आगे बढती रही। वैदिक परम्परा मे ब्राह्मण ग्रन्थो और सूत्र ग्रन्थो आदि तक आते आते वह आध्यात्मिक चिन्तन मे बदल गयी, किन्तु देवी देवताओ के अर्चन एव स्तवन से सम्बन्धित रचनाए भी होती रही। वाल्मीकि कृत रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थो मे भी भगवान राम और कृष्ण आदि के पौराणिक, ऐतिहासिक और उपदेशात्मक विवेचन के साथ किसी न किसी रूप मे उनका विभिन्न विशेषणो से युक्त उनके गुणो की उत्कर्षता का वर्णन किया गया है। जिसको हम स्तुति कह सकते है। पूर्व परम्परा से चले आये, यही आधार बाद मे स्तोत्र ग्रन्थो के आधार बने। वैदिक परम्परा के अतिरिक्त अन्य

श्रमण–जैन और बौद्ध आदि परम्पराओ मे भी अपने इष्ट की आराधना के फलस्वरूप अनेक स्तोत्र ग्रन्थो का सृजन हुआ।[1]

जैन स्तोत्रकाव्य रचना की परम्परा

जैन साहित्य मे प्रारम्भ से लेकर अब तक स्तोत्र काव्य सृजन की परम्परा विशाल है, जिसका उद्‌गम स्थल वेदो की तरह जैन आगमो मे देखा जा सकता है। इसके बाद हम समझते है जैन परम्परा मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शताधिक स्वतन्त्र स्तोत्र ग्रन्थ रचे गये होगे । जैन अनुश्रुतियो से एव स्तोत्र साहित्य के आलोडन से पता चलता है कि जैन साहित्य मे स्तात्र या स्तुति साहित्य का प्रादुर्भाव तीर्थंकरो के जन्मोत्सव के समय इन्द्र के द्वारा की गयीं स्तुतियो से है।[2] सौधर्मेन्द्र ने प्रत्येक तीर्थकर के जन्मोत्सव पर स्तुति की थी तथा तीर्थंकरो के अन्य कल्याणको पर भी पूर्ण श्रुतज्ञानी परमभक्त देवराज भगवान की भावभीनी स्तुति करता है। अत उक्त शक्रोत्सव ही मानव भक्तो के लिए प्रेरणास्रोत रहा या आदर्श रहा है।[3] एक ऐतिहासिक दृष्टि यह भी है कि जैन मुनियो के लिए जिन छह आवश्यक क्रियाओ का विधान किया गया है, उनमे चतुर्विंशति स्तव भी एक है। जिसके द्वारा गुणानुराग की वृद्धि द्वारा गुणो को प्राप्त करना है, जो कर्म निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का साधन बनता है। इसलिए चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी जैनसघ की सुव्यवस्था।[4] चतुर्विंशति स्तव – चौबीस तीर्थंकर जो सर्वगुण सम्पन्न आदर्श हैं, उनकी स्तुति करने रूप है। इसके द्रव्य और भाव के रूप मे दो भेद माने गये हैं। पुष्प आदि सात्त्विक वस्तुओ के द्वारा तीर्थंकरो की पूजा करना द्रव्य स्तव है और उनके वास्तविक गुणो का कीर्तन करना भाव स्तव है।[5]

स्तुतिया पूर्व मे भक्त्यात्मक विचारो के प्रकाशन द्वारा की जाती थी, जिसका स्पष्ट रूप से कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्राकृत भक्तियो मे देखा जा सकता है। विभिन्न समयो मे प्रतिभाशाली स्तुतिकारो ने अनेक स्तोत्र लिखे, जिनके विविध रूप पाये जाते है। सामान्य रूप से हम इनको निम्न रूपो मे विभक्त कर सकते हैं –

1 स्वतत्र स्तुति ग्रन्थ लिखे जाने के पूर्व लिखे गये स्तोत्र।

2 परिचयात्मक एव गुणात्मक स्तोत्र।

3 गुणात्मक एव दार्शनिक स्तोत्र।

4 साहित्यिक स्तोत्र।

आगमो एव कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित दशभक्त्यादि मे निबद्ध भक्त्यात्मक विचारो को हम स्वतत्र स्तुतिग्रन्थ लिखे जाने के पूर्व लिखे गये स्तुति साहित्य मे समाहित कर सकते है। ,परन्तु विशेष बात यह है कि चौबीस तीर्थंकरो का रस, छन्द, अलकार व लालित्य से युक्त भक्तिभावपूर्ण गुणानुवाद भद्रबाहु कृत **'उवसग्गहर' स्तोत्र** मे किया गया है जो अत्यन्त पूजयनीय है। उसे हम साहित्यक स्तोत्र के अन्तर्गत रख सकते हैं। इस दृष्टि से यह न केवल जैन स्तोत्र साहित्य की प्राचीनता को सिद्ध करता है, वल्कि जैन साहित्य मे गीतकाव्य का भी अनुपम उदाहरण है। स्तुति ग्रन्थो के रचने का एक आधार गुणात्मक विशेषणो की योजनात्मक स्तुतिया भी रही हैं, जिनका रूप पूजाओ और जयमालाओ मे प्राप्त होता है।[6]

कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् बुद्धिवादि जैन नैयायिको ने ऐसी स्तुतिया लिखी, जिनमे अन्य देवो की अपेक्षा तीर्थंकरो की उत्कृष्टता एव गुणात्मक विशेषता स्थापित की गयी है। इसके अन्तर्गत समन्तभद्र कृत आप्तमीमसा, युक्त्यनुशासन आदि स्तोत्र एव सिद्धसेन कृत द्वात्रिशकाए आदि आते है। स्तोत्र सृजन से सम्बन्धित एक विधा ऐसी भी चली जिसमे तीर्थंकरो के विभिन्न विशषणो पर्यायवाची नामो एव अन्य धर्मो के देवताओ जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बृहस्पति आदि की विशेषताओ और गुणो के आधार पर आत्मसात् कर लिए गये। इस दृष्टि से समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र जिनसेन कृत जिनसहस्रनाम आदि स्तोत्र कृतिया प्रमुख है। परिचयात्मक एव गुणात्मक स्तोत्रो के अन्तर्गत समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र, धनपाल कृत ऋषभपचासिका आदि स्तोत्र ग्रन्थो को इसके अन्तर्गत रख सकते हैं।[7] विभिन्न कालो मे उपर्युक्त दृष्टि से अनेक काव्य लिखे गये, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं।

ऐतिहासिक क्रम मे सृजित स्तोत्र ग्रन्थों के नाम

जैनधर्म मे सर्वप्रथम स्तोत्रो की रचना प्राकृत भाषा मे उपलब्ध होती हैं।परन्तु जब ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग जैनेतर धर्मों मे सस्कृत भाषा मे स्तोत्रो की रचना होने लगी तब जैनाचार्यों ने भी सस्कृत भाषा मे स्तोत्र रचना प्रारम्भ कर दी थी। ऐसा माना जाता है कि केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी भगवान महावीर की दिव्यध्वनि नहीं खिरी अर्थात् धर्मोपदेश नही हो सका क्योकि उन्हे सुयोग्य गणधर नही मिल पाया।[8] तब इन्द्र एक विद्यार्थी का रूप बनाकर मगध के महान् विद्वान् इन्द्रभूति के पास पहुचा और उनसे कई प्रश्न किये। इन्द्रभूति जब प्रश्नो का उत्तर नही दे पाया तब उसने इन्द्र से कहा, चलो तुम्हारे गुरू के पास ही चलकर शास्त्रार्थ करेगे। जब इन्द्रभूति महावीर के समक्ष पहुचा तब उसने **जयतिहुअण** नामक स्तोत्र का पाठ करते हुए भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार किया था।[9]

1 विक्रम की प्रथम श्ताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने **तित्थयर शुद्धि** स्तोत्र की रचना की थी, जो प्राकृत भाषा मे है तथा उसमे आठ गाथाए हैं। इसके अलावा उन्होने प्राकृत भाषा मे ही सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारिभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और निर्वाणभक्ति की भी रचना की है, जो एक प्रकार से स्तोत्र ही हैं।

2 श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न भद्रबाहु द्वारा भी उवसगहर स्तोत्र की रचना मानी गयी है, जिसमे 5 ही पद्य हैं, जो भावपूर्ण हैं और उन पर कई टीकाए भी लिखी गयीं हैं।

3 विक्रम की दूसरी शती मे आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, युक्त्यनुशासन आदि स्तोत्र बनाये हैं।

4 ईसा के तीसरी शती के आचार्य मानदेव ने शान्तिस्तव नामक स्तोत्र की रचना की है।

5 चौथी शती के आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने महावीर द्वात्रिशका एव अन्य कई द्वात्रिशकाओ की रचना की है।

6 पाचवी शती के आचार्य पूज्यपाद ने शान्त्यष्टक, सरस्वती स्तोत्र, जैनाभिषेक, दशभक्ति की सस्कृत भाषा मे रचना की है।

7 छठी शती के आचार्य पात्रकेशरी ने सस्कृत मे पात्रकेशरी स्तोत्र की रचना की है।

8 ईसा के छठी शती के श्री बज्रनन्दि ने नवस्तोत्र की रचना की है।

उपर्युक्त के साथ साथ काल निर्देश के अनुसार निम्न आचार्यों ने भी विभिन्न प्रकार के स्तोत्र रचे हैं, जिनकी तालिका निम्न प्रकार है –

स्तोत्रकार आचार्य	रचना काल	स्तोत्र का नाम
9 मानतुग	7 वीं शती ई0	भक्तामरस्तोत्र या आदिनाथ स्तोत्र
10 भट्टाकलक देव	7 वीं शती ई0	अकलकाष्टक
11 जिनसेन प्रथम	7 वी शती ई0	जिनेन्द्रगुणस्तुति
12 धनजय	7 वी शती ई0	विषापाहार
13 वप्पभट्टि	8 वीं शती ई0	चतुर्विंशतिजिनस्तुति सरस्वतीस्तोत्र
14 विद्यानन्द	8 वीं शती ई0	श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्र
15 जिनसेनस्वामी	9 वीं शती ई0	श्रीजिनसहस्रनामस्तोत्र
16 नन्दिषेण	9 वीं शती ई0	अजितशान्तिस्तव,प्राकृत
17 जम्बूसूरि	948 ई0	जिनशतक
18 पुष्पदन्त	959–79 ई0	शिवमहिम्निस्तोत्र
19 पोन्न	960–90 ई0	जिनाक्षर भक्ते (कन्नड)
20 शोभनमुनि	970 ई0	शोभनस्तुति
21 धनपाल कश्यप	970–1015 ई0	ऋषभपचासिका
22 गोल्लाचार्य भूपाल	975 ई0 लगभग	भूपाल चतुर्विंशति
23 अमितगति	975–1020 ई0	भावना द्वात्रिंशिका
24 वादिराज	1025 ई0	एकीभाव, कल्याणकल्पद्रुम

स्तोत्रकार आचार्य	रचना काल	स्तोत्र का नाम
25 दामनन्दि	1025 ई0	जिनशतक
26 मल्लिषेण	1047 ई0	ऋषिमडलस्तोत्र, पद्मावती,स्तोत्र
27 इन्द्रनन्दि	1050 ई0	पार्श्वनाथस्तोत्र
28 अभयदेवसूरि	ई0 1063– 78	जयतिहुअणस्तोत्र– प्राकृत
29 जिनचन्द्रसूरि	1068 ई0	सवेगरगशाला
30 पम्पादेवी	1075 ई0	चतुर्भक्ति–कन्नड
31 माघनन्दि मुनि	1100 ई0	अर्हन्नुतिमाला, चतुर्विशति स्तुति
32 हेमचन्द्राचार्य	1109–72ई0	वीतराग, महादेवस्तोत्र, दो महावीर द्वात्रिशकाये
33 जिनब्रह्मसूरि	1110 ई0	अजितशान्तिलघुस्तवन, भावारि वारणस्तोत्र, वीरस्तव,जिनकल्पा वभाषकस्तोत्र (जिनकल्याणक स्तोत्र)
34 मुनिचन्द्रसूरि	1111–19ई0	प्राभातिक स्तुति
35 मौक्तिक	1120 ई0	चन्द्रनाथाष्टक–कन्नड
36 ब्रह्मशिव	1125 ई0	त्रैलोक्य चूणामणिस्तोत्र
37 जिनदत्तसूरि	1125 ई0	सर्वार्थाधिष्ठायी स्तोत्र एव विघ्नविनाशी स्तोत्र
38 धर्मघोषसूरि	1125 ई0	ऋषिमण्डलस्तोत्र
39 कुमुदचन्द्राचाय	1125 ई0	कल्याणमन्दिरस्तोत्र
40 भानुकीर्ति	1139–77ई0	शख देवाष्टकस्तोत्र
41 वाग्वल्लकी वैधिक	1143 ई0	चन्द्रप्रभस्तुति–कन्नड
42 राजसेन	1150 लग0	पार्श्वनाथाष्टक
43 विष्णुसेन	1150 ई0	समवसरणस्तोत्र

स्तोत्रकार आचार्य	रचना काल	स्तोत्र का नाम
44 श्रीपालकवि	1152 ई0	शतार्थी
45 पद्मप्रभमलधारिदेव	1167—1217	पार्श्वनाथ एव लक्ष्मीस्तोत्र
46 रामचन्द्रसूरि	1175—1200	षोडशस्तवन, आदिनाथस्तोत्र
47 विद्यानन्दि	1181 ई0	पार्श्वनाथस्तोत्र
48 आसड	1200 लग0	जिनस्तोत्र
49 सिद्धसेन	1200 लग0	शक्रस्तव
50 शुभचन्द्रयोगी	1200 ई0	जनिपतिस्तवन
51 वादिराज—द्वितीय	1200 ई0	नवग्रहस्तोत्र
52 धर्मवर्द्धन	1200 ई0	षड्भाषानिर्मित पार्श्वजिनस्तव
53 हस्तिमल्ल	1200—25	समवसरण एव सजीवनस्तोत्र
54 आशाधर	1200—50 ई0	सहस्रनामस्तव सिद्धगुणस्तोत्र सरस्वतीस्तोत्र, महावीरस्तुति
55 सोमदेव	1205 ई0	चिन्तामणिस्तवन
56 देवनन्दि	1225 ई0	सिद्धिप्रियस्तोत्र, स्वयम्भूपाठलघु चतुविंशतिजिनस्तवन
57 गुणवर्म	1235 ई0	चन्द्रनाथाष्टक— कन्नड
58 महेन्द्रसूरि	1237 ई0	तीर्थमाला स्तोत्र एव वीरावल्ली पार्श्वस्तोत्र
59 पद्मप्रभ	1237 ई0	पार्श्वस्तव, भुवनदीपक
60 वाग्भट्	1250 लग0	सुप्रबोधनस्तोत्र
61 नरचन्द्र	1250 ई0	चतुर्विंशतिजिनस्तुति
62 चारुकीर्ति	1250 ई0	गीतवीतरागप्रबन्ध
63 रत्नकीर्ति	1275 ई0	शम्भूस्तोत्र

स्तोत्रकार आचार्य	रचना काल	स्तोत्र का नाम
64 जिनप्रभसूरि	1295 1333	पचस्तोत्र
65 धर्मघोष	1300 लग0	यमकस्तुति चतुर्विशतिजिनस्तुति
66 रत्नाकर	1300 ई0	रत्नाकरपचविशतिका
67 वीरगणि	1300 ई0	अजितशान्तिस्तव– प्राकष्त
68 जयशेखर	1300 ई0	अजितशान्तिस्तव
69 शुभचन्द्र अध्यात्मि	1313 ई0	मदालसा स्तोत्र
70 जिनपद्म	1325–44	षड्भाषाविभूषित– शान्तिनाथस्तव
71 जयतिलक	1359 लग0	चतुरहारावलि चित्र स्तव
72 पद्मनन्दिभट्टारक	1360–95	अनेकस्तोत्र
73 मुनिसुन्दर	1379 ई0	जिनस्तोत्ररत्नकोष
74 मेरूविजय	1500 ई0	चतुर्विशतिस्तव
75 देवविजयगणि	1600 ई0	जिनसहस्रनाम
76 विनयविजय	1700 ई0	जिनसहस्रनाम
77 भागेन्दु	1900 ई0	महावीराष्टक
78 प पन्नालाल जी साहित्याचार्य	2000 ई0	महावीर स्तवनम् महावीरस्तोत्रम् आदि
79 प0 गोपीलाल अमर	2000 ई0	अनेक स्तोत्र

उपर्युक्त स्तोत्रों की सूची से स्पष्ट है कि लगभग आधा दर्जन जिनसहस्रनामस्तोत्र और एक दर्जन से अधिक जिनचतुर्विशतिकाए रची गयीं हैं। अनेक अजित और शान्तिस्तव भी हैं। एकाकी तीर्थकरो मे ऋषभ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के स्तोत्र ही मुख्यतया लिखे गये हैं। कल्याणक समवसरण आदि विषयो को लेकर भी कुछ स्तोत्र रचे गये हैं। कुछ स्तोत्रो मे दार्शनिकता, आध्यात्मिकता तथा कुछ मे हितोपदेशिता का प्रभाव परिलक्षित होता है परन्तु अधिकाश भक्तिपरक है। तीर्थकरो के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओ मे सरस्वती के स्तोत्रो की

प्रथा चौथी पाचवीं शती से मिलने लगती है। दशवी शती से चकेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती आदि विशिष्ट प्रभावशाली शासन देवियो के भी स्तोत्र रचे जाने लगे। कई स्तोत्र मन्त्र भूतप्रेत अथवा मान्त्रिक शक्ति से युक्त माने जाते हैं। इनके साथ सम्बद्ध चमत्कारो की कथायो भी लोक प्रसिद्ध हुई। ऐसे चमत्कारी स्तोत्रो मे द्वितीय शती के समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र, मानदेव का शान्तिस्तव, सिद्धसेन की महावीर स्तुति पूज्यपाद का शान्त्यष्टक, पात्रकेशरी का पात्रकेशरी स्तोत्र, मानतुग का भक्तामर, धनजय का विषापाहार, वादिराज का एकीभाव, मल्लिषेण का ऋषिमण्डल तथा कुमुदचन्द्र का कल्याणमन्दिर विशेष रूप से ख्याति प्राप्त हैं। पचस्तोत्र तो अत्यधिक ख्याति प्राप्त है। जैनियो के स्तोत्र साहित्य की विपुलता, भव्यता, भावप्रवणता और माधुर्य की अनेक पौर्वात्य और पाश्चात्य जैनेतर मनीषियो ने भूरि भूरि प्रशसा की है।

यदि हम स्तोत्र साहित्य का काल विभाजन करे तो निम्न निष्कर्ष पर पहुचते हैं –

आदिकाल – आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पूर्व का स्तोत्र साहित्य

मध्यकाल – 100 ई0 से 800 ई0 तक

अर्वाचीन काल – 800 ई0 से 2000 ई0 तक

स्तोत्रो की भाषा

स्तोत्र साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुख्य रूप से स्तोत्र सस्कृत मे ही रचे गये है, परन्तु जैन स्तोत्र साहित्य प्राकृत, अपभ्रश, सस्कृत और कन्नड भाषा मे अधिक प्राप्त होते हैं।

स्तोत्र साहित्य के रचना के आधार

स्तोत्र रचना आराध्यदेव के प्रति बहुमान प्रदर्शन एव अतिशय का प्रतिफल है, फिर भी जैन स्तोत्रो के निम्न आधार भी हैं।

1 जैन स्तोत्र आगमगत रचना है।

2 तीर्थंकर वर्णनो के माध्यम से।

3 अध्यात्म की प्रधानता लेकर।

4 न्याय विवेचन के लिए।
5 धर्म के विषय का विवेचन के लिए।
6 सिद्धान्त निर्णय के लिए।
7 भक्ति प्रधानता।
8 नीति निर्णय।
9 समाजदर्शन।
10 राजनीति।
11 आचारदर्शन
12 साहित्यक विकास

समन्तभद्र के स्तोत्रो का स्तोत्र काव्य की दृष्टि से विवेचन

स्तोत्र साहित्य का उद्भव और विकास पर विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत भाषा मे निबद्ध उपलब्ध स्तोत्रो की दृष्टि से समन्तभद्र जैनधर्म के आद्य स्तुतिकार है। उनकी उपलब्ध रचनाओ मे भी अधिकतर स्तोत्र कृतिया ही हैं।

उनकी रचनाओ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मूलत वे स्तोत्र साहित्य के प्रणेता थे। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि उनके युग मे तीव्रता से सस्कृत भाषा मे साहित्य का प्रणयन हो रहा था। जैन साहित्यकार प्राकृत की लीक से हटकर सस्कृत रचना की ओर उन्मुख हो रहे थे। दूसरा कारण यह है कि स्तोत्र गेय होते हैं। अत आराधना व भक्तिसाधना के प्रचार और प्रसार के लिए उनसे बढकर अन्य माध्यम नही था। गेय रचनाओ से जनमानस अधिक आकर्षित होता है। भक्त की भक्ति भावाभिव्यक्ति का वह सबसे सरल तथा बाह्य आलम्बन है। इन सभी कमियो की पूर्ति का सर्वप्रथम जैनधर्म मे सस्कृत भाषा मे स्तोत्र लिखने का प्रयत्न समन्तभद्र ने किया। उनकी स्तोत्र रचनाए है –

1 स्वयम्भूस्तोत्र
2 युक्त्यनुशासनम

3 देवागम अपरनाम आप्तमीमासा

4 स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतकम्

समन्तभद्र कृत उपर्युक्त स्तोत्रो मे स्तोत्र व स्तुति का लक्षण, स्तोत्र रचना का उद्देश्य, स्तुति करने का प्रयोजन, स्तुति का रूप, स्तोत्र का महत्त्व, स्तुत्य का लक्षण, स्तुति करने का फल, स्तवन का कारण आदि से सम्बन्धित विभिन्न विन्दुओ पर प्रकाश डाला गया है। इससे यह पता चलता है कि समन्तभद्र के बाद रचित काव्य लक्षण ग्रन्थो को रचने के लिए आचार्यों को समन्तभद्र के स्तुति ग्रन्थ एक प्रमुख आधार रहे होगे। प्रस्तुत उप शीर्षक समन्तभद्र के स्तोत्रो का स्तोत्रकाव्य की दृष्टि से विवेचन करना इसलिए भी आवश्यक है कि काव्य लक्षण ग्रन्थो एव स्तोत्रो के इतिहास के सन्दर्भ मे समन्तभद्र के योगदान की भूमिका भी स्पष्ट हो सके।

स्तोत्र की व्युत्पत्ति और अर्थ

स्तोत्र, स्तुति, स्तव आदि एक ही भाव को सूचित करने वाले शब्द हैं, परन्तु कालक्रम से निरन्तर बढते हुए स्तोत्र काव्य रचनाओ के बाद काव्य लक्षण ग्रन्थकारो ने उपर्युक्त शब्दो के सूक्ष्म अन्तर का विवेचन किया है। सामान्य रूप से स्तोत्र शब्द **स्तु** धातु से **ष्ट्रन** प्रत्यय जुडने के बाद बना है अर्थात् **स्तूयते अनेन इति स्तोत्रम्** स्तोत्र से सम्बन्धित शब्दो के पारस्परिक अन्तर एव विभिन्न पक्षो पर विचार करने के साथ स्तोत्र के सम्बन्ध मे समन्तभद्र के मन्तव्य यहा प्रस्तुत हैं।

समन्तभद्र ने अपनी भक्तिपरक रचनाओ को स्तुति कहा है। उनके अनुसार –

गुणस्तोक सदुल्लघ्य तद् बहुत्व कथा स्तुति ।
आननत्या ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्।।[10]
याथात्म्यमुल्लघ्य गुणो यथाख्या
लोके स्तुति भूरि गुणो दधेस्ते।[10क]

अर्थात् विद्यमान गुणो की अल्पता का उल्लघन करके जो उनके बहुत्व की कथा की जाती है, लोक मे उसे स्तुति कहते हैं। समन्तभद्र के परवर्ती आचार्यों ने स्तुति स्तव आदि मे अन्तर को स्पष्ट किया है। हलायुध मे कहा गया है –

अर्थवाद· प्रशसा च स्तोत्रकीडा स्तुतिनुति·।
विकत्थनं स्तव श्लाघा वर्णना च निगद्यते।।[11]

तात्पर्य यह कि सार्थक प्रशसा का नाम स्तोत्र है, कीडापूर्वक नमस्कार को स्तुति कहते हैं एव विशेष प्रशसापूर्ण वर्णन को स्तव कहते हैं।[12]

प्राकृत के प्रसिद्ध आचार्य मलयगिरि ने भी स्तव एव स्तुति मे अन्तर बताते हुए लिखा है – **एक दुगति तिलोआ थुतिओ अन्नेसिं होई जा रूज देविदत्थयमादि तेण तु पर यथा होई।**

एकश्लोक: द्विश्लोक: त्रिश्लोका वा स्तुतिर्भवति। परतश्चतु. श्लोकादिक स्तव.। अन्येशां आचार्याणां मतेन एकश्लोकादि सप्तश्लोक पर्यन्ता स्तुति· तत· परमष्टश्लोकादिका स्तवा:।

एक श्लोक से तीन श्लोक पर्यन्त स्तुति और उसके अनन्तर चार श्लोकादि स्तव हैं। अन्य आचार्यों के मत से एक श्लोक से सात श्लोक पर्यन्त स्तुति और आठ श्लोक अथवा इससे अधिक श्लोक स्तव कहलाते हैं।

स्तव शब्द के साथ साथ सस्तव और स्तवन शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। **सस्तवन संस्तव:** अर्थात् सम्यक् प्रकार से स्तवन करना ही सस्तव कहलाता है। यद्यपि सस्तव शब्द **वातुर्गुण विकत्थने तेन सह आत्मन: सम्बन्ध विकत्थने परिचये प्रत्यासतो स्नेहे** आदि अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होता है किन्तु उसका सम्बन्ध परिचय और श्लाघा से ही है।[13]

अमरकोश मे **सस्तव स्यात् परिचय** कहकर सस्तव को केवल परिचय रूप मे स्वीकार किया गया है।[14] सस्तव शब्द का परिचय् वाला अर्थ केवल चौवीस तीर्थंकरो से सम्बन्धित है किसी लौकिक पुरूष से नहीं।

भक्त की आराध्य से घनिष्ठता ही सस्तव है। सस्तव का श्लाघा वाला रूप सर्वत्र आया है, किन्तु उसमे भी जिनेन्द्र के अनन्त चतुष्टय की श्लाघा ही अभीष्ट है। **वट्टकेर** ने **मूलाचार** मे तीर्थंकर के असाधारण गुणो की प्रशसा करने को स्तव स्वीकार किया है।[15] **षड्आवश्यकसूत्र** मे भी चौवीस तीर्थंकरो की प्रशसा करने को ही स्तव कहा है।[16]

श्रीशान्तिसूरि ने स्तव और स्तोत्र मे भेद बतलाते हुए लिखा है कि स्तव गम्भीर अर्थवाला और सस्कृत भाषा मे निबद्ध किया जाता है तथा स्तोत्र की रचना विभिन्न छन्दो द्वारा प्राकृत भाषा मे होती है अर्थात् स्तव सस्कृत भाषा मे और स्तोत्र प्राकृत भाषा मे रचा जाता है।[17] इस परम्परा का यह विभेद कब तक चला या नही चला , यह नही कहा जा सकता परन्तु **भद्रबाहु** का **उवसग्गहरस्तोत्र** प्राकृत भाषा मे ही है और समन्तभद्र के स्तोत्र सस्कृत भाषा मे ही रचे गये हैं, स्वय उन्होने स्तुति कहा है। धर्मविधान का **जस्सासी चवण चउत्थिदिवं** वाला चतुर्विंशतिका स्तवन प्राकृत भाषा मे है। **सिद्धसेन** कृत **कल्याणमन्दिर** सस्कृत मे है और **पचकल्याण** स्तवन प्राकृत मे है।

पाश्चात् विद्वान् एम विण्टरनित्ज ने स्तोत्र को हिम कहकर लिखा है – The word " Hymn" is ambiguous It has been defined as 'song of praise a religious ode' a sacred lyric a poem is the stanea written to be aung [18]

असीरिया तथा बेबिलोनिया के अति प्राचीन स्तोत्र सुमेरिन भाषा मे प्राप्त हैं, जिनमे केवल देवी देवताओ की ही स्तुतिया नही हैं वल्कि वीरो की भी स्तुतिया है।[19] सुमेरिन भाषा मे प्राप्त स्तोत्रो से यह ज्ञात होता है कि स्तुति के समय मनुष्य तथा देवता का सम्बन्ध अति घनिष्ठ रहता है।

The body of this literature comprising, the vedic Hymns claims a very high place in the history of civilization for it Aryan life with its most ancient date [20]

समन्तभद्र की कृतिया · स्तोत्र, स्तुति या स्तव

पूर्व मे जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि सार्थक प्रशसा का नाम स्तोत्र, कीडा पूर्वक नमस्कार करना स्तुति, विशेष प्रशसा पूर्वक वर्णन को स्तव तथा परिचयात्मक जिनेन्द्र के गुणो की प्रशसा करना सस्तव कहलाता है। समन्तभद्र के उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा किये गये उक्त स्तोत्र आदि के लक्षण के अनुसार यद्यपि समन्तभद्र ने अपने काव्य ग्रन्थो की रचना नहीं की है, फिर भी उनकी कृतियो मे स्तोत्र, स्तुति या स्तव के लक्षण घटित हो जाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि परवर्ती स्तुति आदि काव्य लक्षणकार आचार्यों को समन्तभद्र के स्तुति ग्रन्थ आधार बने।

समन्तभद्र कृत ग्रन्थो मे आप्तमीमासा और युक्त्यनुशासन ग्रन्थ *विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, समालोचनात्मक* एव *समीक्षात्मक शैली* मे रचे गये है तथा उनमे विभिन्न दार्शनिक मान्यताओ के खण्डन पूर्वक अनेकान्त की स्याद्वाद पद्धति से स्थापना की गयी है। अत इन ग्रन्थो को स्तोत्र या स्तव के नाम से भले ही अभिहित किया जाये, पर उन्हे स्तुति आदि के लक्षण के आधार पर उस कोटि मे रखना विचारणीय अवश्य है। रत्नकरण्डश्रावकाचार श्रावक के आचार का प्रतिपादन करने वाला उनका आचार प्रधान ग्रन्थ है।

स्वयम्भूस्तोत्रम एव स्तुतिविद्या नि सन्देह स्तुति ग्रन्थ हैं, जिनमे विविध छन्दो मे चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति की गयी है। इनमे कितने छन्दो मे किस तीर्थंकर की स्तुति की गयी है, इसका विवरण यहा प्रस्तुत है, जिससे यह ज्ञात करने मे सरलता होगी कि सम्बन्धित रचनाए स्तुति, स्तव आदि किस श्रेणी मे रखे जा सकते हैं।

	तीर्थंकर का नाम	स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक सं0	स्तुतिविद्या श्लोक सं0
1	ऋषभनाथ	5	15
2	अजितनाथ	5	2
3	सम्भवनाथ	5	3

तीर्थंकर का नाम	स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक सं0	स्तुतिविद्या श्लोक सं0
4 अभिनन्दननाथ	5	4
5 सुमतिनाथ	5	2
6 पद्मप्रभ	5	2
7 सुपार्श्वनाथ	5	1
8 चन्द्रप्रभ	5	7
9 पुष्पदन्त	5	4
10 शीतलनाथ	5	2
11 श्रेयासनाथ	5	5
12 वासुपूज्य	5	2
13 विमलनाथ	5	5
14 अनन्तनाथ	5	1
15 धर्मनाथ	5	11
16 शान्तिनाथ	5	14
17 कुन्थुनथ	5	4
18 अरहनाथ	20	5
19 मल्लिनाथ	5	1
20 मुनिसुव्रतनाथ	5	2
21 नमिनाथ	5	4
22 नेमिनाथ	10	2
23 पार्श्वनाथ	5	3
24 महावीर	8	15
	143	116

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र ने स्तुति, स्तव, स्तोत्र, सस्तव आदि सभी लिखे। वस्तुत वे क्रान्तिकारी, सत्यदृष्टा, सत्यान्वेषक, दार्शनिक होने के साथ साथ महान् स्तुतिकार कवि भी थे। उन्हे आद्य सस्कृत स्तुतिकार भी कहा जाता है क्योकि उन्होने ही सर्वप्रथम सस्कृत

भाषा मे स्तोत्र ग्रन्थो की रचना की। उनसे पहले स्तोत्र ग्रन्थो की रचना प्राकृत मे होती थी। समन्तभद्र के ग्रन्थो से प्रतीत होता है कि स्तुति, सस्तव स्तव आदि के समग्र रूप का नाम स्तोत्र है।

स्तुति के कारण

समन्तभद्र ने स्तुति के कारणो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि हे, वीर जिन, आप पाप रूपी शत्रुओ की सेना को पराजित करने मे वीर है। मोक्ष को अधिगत करने से महावीर हैं और देवेन्द्रो मुनीन्द्रो जैसे स्तुत्यो के द्वारा स्वय एकाग्र मन से स्तुत्य है। इसी से मैंने अपनी शक्ति के अनुसार आपकी स्तुति की है। अत आप अपने ही मार्ग मे लगकर मेरी भक्ति को विशेष रूप से चरितार्थ करो।[21]

स्तोत्र रचना का उद्देश्य

समन्तभद्र कृत स्तोत्रसाहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनके स्तोत्र रचना के उद्देश्य निम्नलिखित थे –

1 स्वान्त सुखाय[22]
2 अर्हत्पद प्राप्ति[23]
3 कैवल्यप्राप्ति[24]
4 अष्टकर्मनाश के लिए।[25]
5 पापमुक्ति[26]
6 भय हरण[27]
7 निर्वाण प्राप्ति[28]
8 चित्त को पवित्र करने के लिए[29]
9 न्यायान्याय की पहचान के लिए।
10 वस्तु के गुण दोषो के ज्ञान के लिए।[30]
11 हितान्वेषण के लिए।[31]
12 कुशल परिणामो के लिए।[32]
13 कल्याण के लिए।[33]

आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि हे, प्रभु आप पुण्यकीर्ति और मुनियो के इन्द्र हो । यदि आपके नाम का उच्चारण कर लिया जाये तो वह हमे पवित्र बना देता है, यही आपके स्तवन का प्रयोजन है।[34]

अन्य विद्वानो का मत है कि पूजा करने की अपेक्षा स्तोत्र पाठ करने मे करोड गुणा फल प्राप्त होता है। यथा – **पूजा कोटि सम स्तोत्र**[35] क्योकि

पूजा करने वाले का मन पूजन सामग्री या अन्य वस्तुओ पर रहता है, परन्तु स्तोत्रपाठ करने वाले का मन भगवान के गुणो पर सलग्न रहता है। अत पूजा की अपेक्षा स्तोत्र अधिक लाभप्रद हैं।

स्तोत्र का महत्त्व

मेरु पर्वत हर एक दिशा से उत्तर दिशा मे पडता है। इसलिए जो मेरु पर्वत को प्रत्येक तरफ से देखता है, वह दिशा नहीं भूलता उसी तरह आचार्य समन्तभद्र कहते है कि जो पुरुष शान्तिनाथ के गुण रूप मेरु पर्वत की स्तुति करेगा, वह ससार की अन्य उलझनो मे उलझ जाने पर भी अपने कर्तव्य मार्ग को नहीं भूलेगा। सबसे श्रेष्ठ मार्ग को अनायास ही प्राप्त करेगा।[36] उत्तराध्ययन मे भी स्तोत्रो की महत्ता बतलाते हुए लिखा है[37] कि स्तव स्तुति मगलपाठ से जीव, दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करता है। अनन्तर ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करने वाला जीव अन्तकिया व कल्पविमानो मे उत्पत्ति को प्राप्त करता है।[38]

स्तवन करने का फल

आचार्य समन्तभद्र ने स्तवन करने का फल बताते हुए कहा है कि हे, स्तुत, आपकी स्तुति करने वाला पुरुष पृथ्वी पर उन समवसरण सभाओ को पाकर अत्यन्त शोभित होता है, जो सभाए अष्टप्रातिहार्य रूप महालक्ष्मी से शोभित हैं। सगीतमय स्तोत्रो से जिनका वर्णन किया जाता है, श्रेष्ठ पुरुषो के नमस्कार से जो पूज्य हैं और जिन्होने अपने वैभव से अन्य सभाओ को तिरस्कृत कर दिया है।[39] आगे स्तवन का फल बताते हुए कहा गया है कि जो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव को नमस्कार करता है वह समस्त कष्टो को मिटाकर अन्त मे जन्म मरण के कष्ट को भी दूर कर अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त करता है।[40]

अन्य दर्शनो मे स्तवन व भक्ति से भगवान प्रसन्न होकर भक्त को कोई न कोई फल अवश्य देता है, परन्तु जैनदर्शन मे ऐसी मान्यता है कि जिनेन्द्र की भक्ति भक्त को कुछ भी देती या लेती नही है क्योकि जिनेन्द्र देव स्वय परम वीतरागी हैं। उन्हे न किसी से राग है और न द्वेष। द्वेष का अभाव होने

से वीतरागी किसी की निन्दा से अप्रसन्न या क्षुभित नही होते है और न किसी को किसी भी प्रकार का दण्ड देने की व्यवस्था रखते हैं। निन्दा स्तुति और भक्ति ईर्ष्या दोनो के प्रति वह उदासीन हैं। परन्तु विचित्रता यह है कि स्तुति और निन्दा करने वाला स्वत अभ्युदय और दण्ड को प्राप्त कर लेता है।[41]

समन्तभद्र के स्तोत्र और भक्तितत्व

आचार्य समन्तभद्र वाग्मि नैयायिक और दार्शनिक पडित थे। भगवद् भक्ति मे लीन होकर चौवीसो तीर्थकरो के गुणो का गान करने के लिए उन्होने विभिन्न स्तोत्रो की रचना की है। जिनमे स्वयम्भूस्तोत्रम् एव स्तुतिविद्या दोनो स्तोत्र भक्तितत्व से परिपूर्ण एव असीम आनन्दोत्पादक है। अत हम आचार्य समन्तभद्र को एक सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि के रूप मे भी देखते हैं।

भक्ति शब्द भज्+क्तिन् से बना है। **स्त्रिया क्तिन्**[42] के अनुसार स्त्रीलिग बनाने के लिए क्तिन् प्रत्यय का विधान आचार्य पाणिनी ने किया है। क्तिन् प्रत्यय भाव अर्थ मे होता है, किन्तु वैयाकरणो के यहा कृदन्तीय प्रत्ययो के अर्थ परिवर्तन एक प्रकिया के अग हैं। अत वही क्तिन् प्रत्यय अर्थान्तर मे भी हो सकता है। इस प्रकार भक्ति शब्द की **भजनं भक्ति, भज्यते अनया इति भक्ति भजन्ति अनया इति भक्ति** इत्यादि व्युत्पत्तिया भी की जा सकती हैं। भक्ति शब्द का प्रयोग सेवा, श्रद्धा, अनुराग, पूजा, स्तुति, स्तवन आदि के रूप मे भी होता है।

भक्ति और सेवा

भज् धातु का अर्थ सेवा भी होता है।[43] **अभिधानराजेन्द्र** कोष मे **सेवाया भक्तिर्विनय** लिखकर भक्ति का अर्थ सेवा के साथ विनय भी किया गया है।[44] **आचार्य उमास्वामी** ने तत्त्वार्थसूत्र मे विनय के चार भेद किये हैं। उसमे उपचार विनय का सेवा से मुख्य सम्बन्ध है।[45] **आचार्य पूज्यपाद** ने उपचार विनय, आचार्यों के पीछे चलना, सामने आने पर खडे हो जाना और अजलि बाधकर नमस्कार करने को कहा है।[46] **निशीथचूर्णि** मे भी कहा है कि आचार्यों के सम्मान मे खडे हो जाना, दण्ड ग्रहण करना, पाव पौंछना,

आसन देना आदि जो सेवा है वह ही भक्ति है।[47] **आचार्य शान्तिसूरि** लिखते है कि सुर और सुरपति भक्तिवश से अजलिबद्ध होकर जो भगवान महावीर को नमस्कार करते हैं, वही सेवा है।[48]

विक्रम की प्रथम शताब्दी के **आचार्य कुन्दकुन्द** ने वैयावृत्य को भी भक्ति कहा है। उनका कथन है कि हे मुने, भक्तिपूर्वक अपनी शक्तिभर जिनभक्ति मे तत्पर हो दशभेद वाले वैयावृत्य को सदा करो।[49] यह वैयावृत्य भगवान की सेवा ही है। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि गुणानुराग से सयमियो की आपत्तियो को दूर करना, उनके चरणो को दबाना और जो भी उनका उपग्रह हो सके सब वैयावृत्य कहलाता है।[50] उन्होने वैयावृत्य मे ही देवाधिदेव चरणे परिचरण को भी लिया है। **आचार्य शिवार्य** ने भी भगवती आराधना मे लिखा है कि अरहन्त भक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्य उपाध्याय, सर्वसाधुभक्ति एव निर्मल धर्म मे भक्ति ये सम्पूर्ण भक्ति के अन्तर्गत है। इसलिए रत्नत्रय धारको की भक्ति करना सभी धर्म साधको की भक्ति करना है।[51]

भक्ति और स्तुति

जहा भक्ति का अर्थ सेवा वैयावृत्य आदि है, वही स्तुति आराध्य के गुणो की, लघुता पूर्वक प्रशसा करने मे पूर्ण होती है। लोक मे अतिशयोक्ति पूर्ण गुणो की प्रशसा को ही स्तुति कहा गया है। यह परिभाषा जिन मे अनन्त गुण पाये जाने से अपूर्ण सी दिखती है, पर इसका समाधान देते हुए **समन्तभद्र** ने लिखा है कि थोडे गुणो का उल्लघन करके बहुत्व कथा वाली स्तुति भगवान जिनेन्द्र पर नही घटती है, क्योकि गुण बहुत हैं, जिनको कहना मात्र भी सम्भव नही है। इससे स्पष्ट है कि अपनी लघुता दिखाते हुए भगवान की प्रशसा करना स्तुति है।[52]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिनेन्द्र भगवान भक्ति से प्रसन्न और भक्ति न करने वाले से नाराज नही होते क्योकि वे वीतरागी है। वीतरागी देव की चाहे भक्ति की जाये या वैयावृत्य अथवा स्तुति उन्हे कोई राग नहीं होता फिर भी भक्त की सभी मनोकामनाए पूर्ण हो जाती हैं। इस रहस्य को स्पष्ट

करते हुए **आचार्य समन्तभद्र** कहते हैं – भगवान जिनेन्द्र के गुणो का सतत स्मरण और आराध्यमय हो जाने की चाह हृदय मे पवित्रता का सचार करती है और उस पवित्रता से पुण्य प्रसाधक परिणाम बढते हैं।[53] पुण्य प्रकृतिया चक्रवर्ती तक की विभूति देने मे समर्थ हैं, फिर भक्त की कामनाए कितनी हैं। वीतराग भगवान भले ही कुछ न देता हो किन्तु उसके सान्निध्य मे वह प्रेरक शक्ति है जिससे भक्त स्वय सब कुछ पा लेता है।

भक्ति और श्रद्धा

भक्ति के पर्यायवाची शब्दो मे श्रद्धा को प्रथम स्थान प्राप्त है। **हेमचन्द्राचार्य** ने प्राकृत व्याकरण मे भक्ति को श्रद्धा भी कहा है।[54] आचार्य समन्तभद्र ने **रत्नकरण्डश्रावकाचार** मे श्रद्धान और भक्ति को एक ही अभिप्राय मे प्रयोग किया है । सम्यग्दर्शन का महत्त्व बताते हुए उन्होने लिखा है कि जिनेन्द्र के भक्त अप्सराओ की परिषद् मे चिरकाल तक रमण करते हैं एव जिनेन्द्र भक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है इत्यादि।[55] आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। [56] आचार्य समन्तभद्र आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[57] आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मदर्शन को ही सम्यग्दर्शन कहा है।[58]

आचार्य समन्तभद्र ने आप्तादि की सच्ची श्रद्धा को सम्यग्दर्शन अवश्य कहा है, पर मात्र श्रद्धा को ही श्रद्धा नहीं माना क्योकि श्रद्धा, अन्ध श्रद्धा भी हो सकती है। लौकिकता को श्रद्धा न मानकर उन्होने परमार्थभूत सच्चे, देव, शास्त्र गुरू के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, वही सुश्रद्धा है। अत उन्होने श्रद्धा के स्थान पर सुश्रद्धा का प्रयोग किया है।[59] क्योकि सुश्रद्धा से ज्ञान चक्षु सदैव खुले रहते हैं। वैसे श्रद्धा ज्ञानपूर्वक होती है, परन्तु सुश्रद्धा एक विशिष्ट ज्ञानपूर्वक होती है। आचार्य समन्तभद्र ने सर्वज्ञ की परीक्षा मे इसी विशिष्ट ज्ञान का परिचय दिया है।[60] समन्तभद्र परीक्षा करने के उपरान्त ही भगवान जैनेन्द्र के भक्त बने थे। वस्तुत भक्ति मे दृढता सुश्रद्धा से आती है। वे जिनेन्द्र देव के ऐसे भक्त थे कि उन्होने जिन भगवान को छोडकर अन्य किसी देव को नमस्कार नही किया। उन्होने उसी को प्रज्ञ माना जो भगवान जिनेन्द्र का स्मरण करे और उसी को

उत्तम, पवित्र तथा पण्डित स्वीकार किया जो भगवान जिनेन्द्र के चरणो मे सदैव नत रहे।[61] उनका विचार था कि वे तपस्वी, सुजन, सुकृति और तेजपति, भगवान जिनेन्द्र की भक्ति से ही बन सके।[62]

भक्ति और अनुराग

आचार्यों ने अनुराग को भी भक्ति के अन्तर्गत माना है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है – अरहन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन मे भाव विशुद्धि युक्त अनुराग ही भक्ति है।[63] आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि जिनागम, जिन, तप और श्रुत मे परायण आचार्य मे सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग भक्ति है।[64] यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि राग ससार का कारण है। भगवान जिनेन्द्र राग से छूटने का उपदेश देते हैं। वे स्वय वीतरागी हैं। इसलिए उनके प्रति राग करना कहा तक हितकर है। आचार्य समन्तभद्र इसका उत्तर देते हुए लिखते है कि पूज्य जिनेन्द्र की पूजा करते हुए अनुराग के कारण जो लेशमात्र पाप का उपार्जन होता है वह बहुपुण्य राशि मे उसी प्रकार दोष का कारण नही बनता जिस प्रकार बिष की एक कणिका शीत शिवाम्बु राशि को अर्थात् ठण्डे जल से भरे हुए समुद्र को दूषित करने मे समर्थ नही होती है।[65] अर्थात् जिनेन्द्र मे अनुराग करने से लेश मात्र ही सही पाप तो होता है किन्तु पुण्य इतना अधिक होता है कि वह थोडा सा पाप उसको दूषित करने की सामर्थ्य नहीं रखता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतरागियो मे अनुराग करने वाले को सच्चा योगी कहा है।[66] उन्होने यह भी लिखा है कि आचार्य, उपाध्याय और साधुओ मे प्रीति करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है।[67] अर्थात् उनकी दृष्टि मे वीतरागी मे किया गया अनुराग पाप का कारण नहीं है। पर मे होने वाला राग ही बन्ध का हेतु है, वीतरागी परमात्मा पर नहीं हैं। निश्चय से स्व आत्मा ही है। आचार्य योगेन्दु ने कहा है कि मोक्ष मे रहने वाले भगवान सिद्ध और देह मे तिष्ठने वाले आत्मा मे कोई भेद नही है।[68] आत्मा ही शुद्ध होकर परमात्मा बन जाता है।[69] परमानन्द स्वभाव वाला भगवान जिनेन्द्र ही परमात्मा है और वह ही आत्मा है।[70] जिनेन्द्र मे अनुराग करना अपनी आत्मा मे ही अनुराग करना है। आत्मप्रेम ही आत्मशुद्धि है और आत्मशुद्धि से ही

मोक्ष प्राप्त होता है। जिनेन्द्र देव मे होने वाला अनुराग ही मोक्ष प्रदाता है। अत आचार्य पूज्यपाद ने आठ कर्मों का नाश कर आत्म स्वभाव को साधने वाले भगवान सिद्ध से मोक्ष की प्रार्थना की है।[71] जो राग ससार के सुखो को प्राप्त करने के लिए किया जाता है वह बन्ध का कारण है परन्तु जो अनुराग निष्काम किया जाता है उसमे बन्ध की शक्ति नहीं होती है। वीतरागी की वीतरागता ने ही भक्त को आकर्षित किया है। अत वीतरागता पर आकर्षित होने वाले वीतरागता प्राप्त करेगे, क्योकि वह आकर्षण एकागी होता है। इसलिए वह बन्ध का कारण नहीं हो सकता है, निष्काम भक्ति या अनुराग मुक्ति का कारण है।

निष्काम अनुराग का फल

जिनेन्द्र देव वीतरागी हैं वे भक्त को कुछ नहीं देते पर उनका भक्त सब कुछ पा लेता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं वीतरागी शुद्धात्मा ससार के किसी भी कार्य का कर्ता या भोक्ता नहीं है।[72] आचार्य समन्तभद्र ने भी लिखा है –

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताजनेभ्य ।।

अर्थात् वीतरागी भगवान को पूजा वन्दना से कोई हर्ष विषाद नही है क्योकि वे सभी रागो से रहित हैं। निन्दा से उनका कोई प्रयोजन नही है क्योकि उनमे से वैरभाव निकल चुका है। फिर भी उनके पुण्य गुणो का स्मरण भक्त के चित्त को पाप मलो से पवित्र करता है।[73]

भगवान वीतरागी आत्मस्वरूप मे लीन हैं। उन्हे यह ज्ञात ही नही होता कि कौन उनकी भक्ति कर रहा है किन्तु उन्हीं के गुणो के स्मरण से भक्त का चित्त पवित्र बना और पापमल गले। अत वह तो उन्हे कर्ता कहता है, पर यह सब निमित्तजन्य कर्तृत्व है। आचार्य पूज्यपाद ने भी लिखा है कि जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न तथा कल्पवृक्ष आदि अचेतन हैं फिर भी पुण्यवान् पुरुष को उनके पुण्योदय के अनुसार फल देते हैं। उसी प्रकार सिद्ध भगवान या अरहन्त भगवान रागद्वेष से रहित होने पर भी भक्तो को उनकी भक्ति के अनुसार फल देते हैं।[74]

प्रश्न है कि भगवान के पुण्य गुणो का स्मरण भावो को पवित्र करने मे कारण कैसे हैं, इसका उत्तर जैनधर्म के कर्म सिद्धान्त से प्राप्त होता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं – एक शुभ एव दूसरा अशुभ। दोनो ही आस्रव के कारण है। दोनो का सम्बन्ध मन, वचन और काय से है। जब क्रिया शुभ होती है तब शुभबन्ध होता है और जब अशुभ होती है तब अशुभ बन्ध होता है।[75] भगवान जिनेन्द्र मे अनुराग करना एक शुभ क्रिया है। अत उससे पाप कर्मों का नाश और शुभ कर्मों का उदय होगा ही।

आचार्य समन्तभद्र भी यही लिखते है कि स्तुति के समय स्तुत्य चाहे प्रस्तुत रहे या न रहे, फल की प्राप्ति भी उसके द्वारा होती हो या न होती हो परन्तु साधु स्तोता की स्तुति कुशल परिणाम की कारण अवश्य है। वह कुशल परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेयफल का दाता है।[76] यहा कुशल परिणाम का अर्थ पुण्यसाधक परिणाम हैं अर्थात् भक्तिपूर्वक की गयी स्तुति पुण्यवर्द्धक कर्मों को जन्म देती है। पुण्यवर्द्धक कार्य परम्परा से मोक्ष के कारण होते है ऐसा भी आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है।[77]

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र रचित स्तोत्रो मे काव्य तत्त्वो के साथ साथ भक्ति तत्त्व का भी प्राधान्य है।

सन्दर्भ

1 इन्सा रि ए वाल्यूम 12 1974पृ 3
2 स्वय 35
3 वही 65
4 जैन हीरालाल भा स जै यो पृ 122
5 सघवी सुखलाल द चि 2 177
6 जैन ही ला भा स जै यो पृ 123
7 वही पृ 123
8 शास्त्री, कै च जैन सा इति पृ 263
9 दृष्टव्य सन्दर्भ सूचि
10 स्वय 18 1 10 क युक्त्य. 2
11 हलायुध 145
12 वही 145
13 अ रा भाग 7
14 अ को पृ 224
15 मूला गाथा 24
16 आ सू गुरूवन्दन पृ 3
17 चेइयवदणमहाभास पृ 150
18 History ofIndian literature p 34
19 वही पृ 34 35
20 वही पृ 49
21 युक्त्य 64

22 स्वय 70
23 वहीं 25
24 वही 115
25 वही 5
26 वही 7
27 वही 105
28 वही 128
29 वही, 80
30 वहीं 27
31 युक्त्य 63
32 स्वय 116
33 वहीं, 70
34 वही 2
35 अनेकान्त वर्ष,14 किरण 7पृ 193
36 स्तु 67
37 उत्तराध्ययन सूत्र
38 वही, अ 29 सूत्र 14
39 स्तु 10
40 वही 11 12
41 स्वय 14 4
42 अष्टाध्यायी सूत्रपाठ 3 3 94
43 पाइअसद्दमहण्णव, पृ079644 पा भा पृ 1365
45 त सूत्र 9 23
46 स सि पृ 442
47 निशीथचूर्णि पृ 130
48 चेइयवदणमहाभास पाद टिप्पण
49 अष्टपाहुड
50 स ध पृ 148
51 भगवती आराधना भाष्य 22
52 स्वय 18 1
53 वही 116
54 प्राकृत व्याकरण 2 159
55 स ध 41
56 त सूत्र 1 2
57 स ध 4
58 समयसार गाथा,
59 स्तु 11
60 स्वय 130
61 स्तु 113
62 वही 114
63 स सि 6 24
64 यशस्तिलकचम्पू 19 215
65 स्वय 12 3
66 अष्टपाहुड गाथा 52
67 समयसार गाथा 235
68 परमात्म प्रकाश 26
69 वही 174
70 वही 197
71 वही 197
72 समयसार गाथा 2 65
73 स्वय 12 2
74 दशभक्त्यादि सग्रह पृ 59
75 त सूत्र 6 3
76 स्वय 21 1
77 स्तु 116

❑❑❑

परिच्छेद द्वितीय
आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्रों का परिचय

समन्तभद्र की उपलब्ध कृतियो मे प्रमुख रूप से स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुतिविद्या ये दो पूर्ण स्तोत्र कृतिया हैं, क्योकि इनमे स्तुति के लक्षण के अनुसार आदि-से लेकर अन्त तक जिन के गुणो की उत्कर्षता का भक्ति पूर्वक वर्णन किया गया है। युक्त्यनुशासन और देवागम भी स्तोत्र हैं। जैसा कि युक्त्यनुशासन को वीरस्तुति, वीरस्तोत्र,[1] परमेष्ठीस्तोत्र और परमात्मस्तोत्र[2] के नाम से तथा आप्तमीमासा या देवागम को देवागमस्तोत्र[3] के नाम से अभिहित किया है। पर ये कृतिया स्तुति ग्रन्थ होते हुए भी इनमे जिनके गुणो की उत्कर्षता का वर्णन कम तथा दार्शनिक विषयवस्तु अनेकान्त, स्याद्वाद, विभिन्न एकान्तो का समीक्षण, प्रमाण, प्रमेय, नय आदि का विवेचन प्रचुरता एव प्रमुखता से किया गया है।[4] इसलिए इन कृतियो को हम प्रमुख रूप से दार्शनिक कृतिया मानकर उनका विशेष परिचय एव विवेचन दार्शनिक विषयवस्तु के प्रसग मे आगे स्वतत्र अध्यायो मे करेगे।

स्वयम्भूस्तोत्र

स्वयम्भूस्तोत्र समन्तभद्र की एक अनुपम रचना है, उसमे पुराण, इतिहास, दर्शन एव न्याय के जटिल विषयो को स्तुति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ मे जो पौराणिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, वे बाद के पुराणो तथा काव्य ग्रन्थो के आधार बने।

समन्तभद्र की अन्य कृतियो की तरह **स्वयम्भूस्तोत्र** नाम भी स्तोत्र के स्वयम्भू पद से प्रारम्भ होने के कारण पडा है।[5] इस स्तोत्र के बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्[6] और समन्तभद्रस्तोत्रम्[7] नाम भी प्राप्त होते हैं। ग्रन्थ मे बृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरो के जीवनवृत्त तथा उनके दार्शनिक चिन्तन को सन्दर्भ में रखकर उनकी स्तुति की गयी है। स्वयम्भूस्तोत्रम् मे 143 पद्य हैं। प्रथम पाच पद्यो मे बृषभनाथ की स्तुति की गयी है। इसके बाद क्रमश पाच पाच पद्यो मे अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, शीतल श्रेयास, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति और कुन्थु जिन की

स्तुति है। तत्पश्चात् बीस पद्यो मे अर, पाच पाच पद्यो मे मल्लि, मुनिसुव्रत और नमिजिन, दश पद्यो मे अरिष्टनेमि, पाच पद्यो मे पार्श्व और अन्तिम आठ पद्यो मे वीर जिन का स्तवन किया गया है।

स्वयम्भूस्तोत्रम् मे वशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र, अनुष्टुप, सुभद्रा, मालतीमिश्र, वनवासिका, वैतालीय, शिखरिणी, उद्गाता और आर्यागीति आदि छन्दो का प्रयोग किया गया है। उपमा, रूपक आदि अर्थालकारो और अनुप्रास, यमक आदि शब्दालकारो का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। विभिन्न स्तुतियो का विवरण अधोलिखित है

बृषभ

इस स्तोत्र के आदि के पाच पद्यो मे बृषभ जिनकी स्तुति की गयी है। प्रथम पद्य मे उन्हे उपदेश के विना ही मोक्षमार्ग जान लेने के कारण स्वयम्भू कहा गया है। उन्होने बिना किसी गुरू के वैराग्य प्राप्त कर अर्हन्त पद की प्राप्ति की थी। वे प्राणियो के हितकारक केवलज्ञान विभूति रूपी नेत्र से युक्त और अज्ञानान्धकार के नष्टकर्ता थे। इस पृथ्वीतल पर वे इस तरह शोभायमान थे, जिसप्रकार अर्थप्रकाशकत्व आदि गुणो से युक्त किरणो के द्वारा अन्धकार को विनष्ट करता हुआ चन्द्रमा सुशोभित होता है। द्वितीय पद्य मे उन्हे प्रजापति कहा गया है। तीन लोक की समस्त प्रजा के स्वामी होने के कारण वे प्रजापति[8] कहलाते थे। उन्होने सर्वप्रथम अपने ज्ञान के बल से जीवित रहने की इच्छुक प्रजा को कृषि आदि आजीविका के उपयोगी कार्यों मे शिक्षित किया था।

तृतीय पद्य मे बृषभ को इक्ष्वाकु कुल[9] का आदि पुरूष तथा प्रभु कहा है। उन्होने समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासन किया। बाद मे धनधान्य से परिपूर्ण वसुधा रूपी स्त्री को पतिव्रता स्त्री के समान त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। इस पद्य मे ऋषभ को अच्युत, मुमुक्षु आत्मवान् और सहिष्णु विशेषण दिये गये हैं। चतुर्थ पद्य में बताया गया है कि उन्होने दीक्षा लेने के उपरान्त अपनी योगविद्या – समाधि के तेज से समस्त दोषो को समूल

नष्ट कर दिया था। पश्चात् तत्त्वज्ञान के इच्छुक व्यक्तियो के लिए तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया । अन्त मे वे ब्रह्मपदामृतेश्वर मोक्ष पद के स्वामी हुए। पचम पद्य मे उनको विश्वचक्षु, समग्रविद्यात्मवपु, नाभिनन्दन, जिन आदि कहकर चित्त की पवित्रता की कामना की गयी है।

अजित

अजित जिन को स्वर्ग से अवतीर्ण बताते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि अजित के प्रभाव से उनका बन्धुवर्ग भी सदा अजेय रहता था इसलिए उनके प्रभाव के अनुरूप ही अजित यह सार्थक नाम रखा गया। यही कारण है कि मगल के रूप मे आज भी उनका स्मरण किया जाता है। 6,7 महामुनि अजित भव्य जनो के हृदयमे सलग्न अज्ञान रूप कलक की शान्ति के लिए प्रभुत्व शक्ति की प्रचुरता से इस तरह प्रगट हुए थे जिस प्रकार मुक्तघनोपदेह–मेघ रूप आच्छादन से मुक्त सूर्य, कमलो के अभ्युदय के लिए प्रकट होता है।तथा सूर्य के आताप से पीडित बडे बडे हाथी चन्दन के द्रव की तरह शीतल गगाह्रद के जल मे अपने सताप को दूर करते है।उसी प्रकार धर्मतीर्थ के प्रवर्तक अजित भी भव्य जीवो के ससार के दु ख को दूर करने वाले है। अन्त मे अजित की ब्रह्मनिष्ठ सममित्र–शत्रु आत्मा रूपी लक्ष्मी के प्राप्त कर्ता अजित, जितात्मा और भगवान बताया गया है।– 8 – 10

सभव

सभव जिनस्तवन मे सभव नाम की सार्थकता बताते हुए कहा गया है कि वे श– शान्ति अथवा सुख के भव उत्पादक हैं। सासारिक भोग तृष्णा रूप रोगो को दूर करने के लिए वैद्य तथा स्याद्वाद अनेकान्त मत का निरूपण करने वाले होने के कारण वे ही शास्ता हैं। इसलिए इनके मत मे ही बन्ध मोक्ष और बन्ध और मोक्ष के हेतु बद्ध और मुक्त आत्मा तथा मुक्ति फल बन सकते हैं, अन्य के मत मे नही। इस प्रकार सभवनाथ के महत्त्व के प्रतिपादन के बाद स्तवन के अन्त मे बताया है कि इन्द्र भी जब आपकी स्तुति करने मे असमर्थ रहा है, तो मेरा जैसा अज्ञानी पुरूष स्तवन करने

मे कैसे समर्थ हो सकता है। इसलिए स्तोता के लिए सुख सतति को प्रदान करे।–11 –15

अभिनन्दन जिन

अभिनन्दन यह नाम गुणो की अभिवृद्धि होने के कारण अपने नाम की सार्थकता को लिए हुए है। अभिनन्दन ने क्षमा रूपी सखी सहित दयारूपी वधु का आश्रय लिया तथा समाधि को प्रधान लक्ष्य बनाकर अन्तरग और बहिरग परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रन्थ वृत्ति को धारण किया। इसी स्तवन मे बताया गया है कि अभिनन्दन का मत यह प्रतिपादित करता है कि आसक्तपना मनुष्य को ताप उत्पन्न करने वाला है तथा वैषयिक सुख से तृष्णा की वृद्धि होती है। इसलिए अभिनन्दन जिन का मत ही लोक कल्याणकारी है।–16–20

सुमति

सुमति जिनस्तवन मे कहा गया है कि सुमति यह नाम उत्तम बुद्धि होने के कारण सार्थक है। मुनि होने के कारण और भी इस नाम की सार्थकता है, क्योकि आपने स्वय ऐसे मत का प्रतिपादन किया है जिसमे समस्त किया, कारको आदि की सिद्धि बन जाती है। अन्य मतो मे किया कारक आदि की सिद्धि सम्भव नहीं है। – 21 सुमति का सुयुक्ति नीतितत्त्व एक तथा अनेक रूप है, सत् तथा असत् रूप है एव विधि निषेध रूप है। सत् कथचित् असत् है जैसे पुष्प का अस्तित्व वृक्ष पर है, परन्तु आकाश मे पुष्प का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार पदार्थ मे परस्पर विरोधी सत् और असत् रूपता स्वभाव विद्यमान है। सतासत् दोनो प्रकार के स्वभाव से तत्त्व को च्युत मानना अप्रमाण है। – 22, 23 सर्वथा नित्य पक्ष मे उत्पाद और व्यय तथा किया और कारक की व्यवस्था नहीं बन सकती क्योकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती और न सत् का विनाश। यह कहना भी नितान्त गलत है कि जलता हुआ दीपक बुझा देने पर उसमे कुछ भी शेष नहीं रहता। इसलिए सत् का नाश होता है, क्योकि इसका समाधान यह दिया गया है कि दीपक अन्धकार रूप पुद्गल द्रव्य के रूप मे अवस्थित रहता है। विधि और निषेध कथचित दोनो इष्ट हैं। वक्ता की इच्छा से उनमे मुख्य और

गौण की व्यवस्था होती है। इस प्रकार यह सुयुक्तिनीतितत्त्व की पद्धति सुमतिजिन की बतायी गयी है। – 24, 25

पद्मप्रभ

पद्मप्रभ यह नाम उनके शरीर का वर्ण कमल के समान होने के कारण पडा है। अन्तरग और बहिरग लक्ष्मी से युक्त होने के कारण पद्मप्रभ की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर थी। सर्वज्ञावस्था से पूर्व उन्होने सरस्वती और लक्ष्मी को धारण किया था। पश्चात् कर्मो का विनाश कर सर्वज्ञता की प्राप्ति की थी। जिसप्रकार पद्मराग मणि के पर्वत की प्रभा अपने पार्श्वभाग को आलिप्त कर रखती है उसी प्रकार पद्मप्रभ के शरीर सम्बन्धी किरणो के समूह ने मनुष्य और देवो से व्याप्त सभा को आलिप्त कर रखा था। – 26, 28 इनके विहार के समय का अतिशय महान् था। उन्होने कामदेव के दर्प को दूर करने वाले तथा सहस्रदल कमलो पर चलने वाले अपने चरणकमलो के द्वारा आकाश को पल्लव बनाकर प्रजा की विभूति हेतु ही विहार किया था। ऐसे अतिशय युक्त जिनकी स्तुति करने के लिए जब इन्द्र भी असमर्थ रहा तब मुझ – स्तोता जैसा अल्पज्ञ उनकी स्तुति करने मे कैसे समर्थ हो सकता है।– 29, 30

सुपार्श्व

आत्यन्तिक स्वास्थ्य से युक्त होने के कारण सुपार्श्व नाम सार्थक हुआ। सच्चा स्वास्थ्य वही है जो अन्त रहित हो । भोग एव स्वार्थ स्वास्थ्य नहीं हैं क्योकि वह नश्वर है। जीव के द्वारा धारण किया शरीर जड है, दुर्गन्ध युक्त है और विनश्वर है। अत शरीर मे अनुराग करना व्यर्थ है। – 31, 32 अन्तरग और बहिरग कारणो से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिग है ऐसी भवितव्यता की शक्ति अलघ्य है। अहकारी व्यक्ति इस भवितव्यता की उपेक्षा कर तथा अन्य सहकारी कारणो से मिलकर भी इसकी शक्ति को टाल नहीं सकता। जीव मरण से डरता है पर उससे छुटकारा नहीं मिलता , मोक्ष चाहता है पर उसकी प्राप्ति नहीं होती। इस सबका कारण भवितव्यता है। फिर भी यह जीव निष्प्रयोजन दु खी रहता हैं। समन्तभद्र लिखते हैं कि हे, सुपार्श्व, आप सर्वज्ञ हैं, प्रमाता हैं, भव्यो के

नेता हैं एव माता की तरह उपदेश देने वाले हैं। अत मैं आपकी स्तुति करता हू।– 33, 34 एव 35

चन्द्रप्रभ

चन्द्रमा की किरणो की तरह गौरवर्ण, सुन्दर तथा कान्ति के धारक होने के कारण चन्द्रप्रभ नाम को सार्थक करने वाले बडे जनो से अभिवन्द्य हैं। ऋषियो के स्वामी होने के कारण ऋषीन्द्र हैं तथा कर्मों के जीतने वाले होने के कारण जिन है। उन्होने अग रूपी लक्ष्मी के परिवेश से बाह्य अन्धकार और ध्यान रूपी अग्नि से अन्तरग अन्धकार नष्ट कर दिया है।–36, 37 जिसप्रकार सिह की गर्जनाओ से मतवाले दिग्गज भी मद रहित हो जाते हैं उसी प्रकार चन्द्रप्रभ के वचन रूपी सिहनादो के द्वारा अपने मत को सिद्ध करने वाले प्रवादी भी गर्व रहित हो जाते हैं।–38 वे केवलज्ञानरूपी चक्षु से युक्त थे। उनका शासन समस्त दु खो का क्षय करने वाला है एव उनके वचन समस्त दोष रहित न्यायरूप किरणो की माला से युक्त पवित्र है।–39, 40

सुविधिनाथ

सुविधि द्वारा प्रतिपादित तत्त्व तत् अतत् स्वभाव से युक्त, कथचित् तद् अतद् रूप विधि निषेध रूप प्रमाण से सिद्ध है। अन्यत्व या अनन्यत्व रूप मे सर्वथा एकान्त मानने पर शून्यता का दोष आता है। गौण और मुख्य अर्थ के प्रतिपादन के लिए नित्य अनित्य आदि के साथ स्यात् निपात् का प्रयोग करना चाहिए। यही कर्म रूप शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने वाले सुविधि जिन के वाक्य का लक्षण है।–41–45

शीतलनाथ

शीतल जिन के वचन शीतल–शान्ति स्वरूप होने के कारण शीतल नाम को सार्थक करते हैं। उन्होने वैषयिक सुखो की अभिलाषा रूप अग्नि की दाह से मूर्च्छित अपने मन को ज्ञानामृत रूप जल के द्वारा शान्त किया था। –46, 47 ये अन्य लौकिक प्राणियो की अपेक्षा विशिष्ट हैं। लौकिक जन तो

दिन मे काम करके रात्रि मे सोते हैं, आप अप्रमत्त हो आत्म साधना के मार्ग मे जागृत रहते हैं। आप केवलज्ञान से युक्त जन्म मरण से रहित हैं। इसके विपरीत अन्य देव अशमात्र ज्ञान होने पर विनाश को प्राप्त हुए हैं।–48–50

श्रेय

श्रेयस्तवन मे श्रेय नाम की सार्थकता बताते हुए कहा गया है कि नाम के अनुरूप श्रेय ने प्रजा को कल्याणकारी मोक्षमार्ग मे हितकारी उपदेश दिया है और इस प्रकार मेघो के आवरण से रहित सूर्य के समान प्रकाशवान वे अकेले ही हैं। प्रमाण और नय रूप उनका मत है। कथचित् विधिरूप और कथचित् तादात्म्य से प्रतिषेधरूप प्रमाण का विषय है। इन विधि और प्रतिषेध मे एक प्रधान और दूसरा गौण होता है। मुख्य के नियम का हेतु नय है और वह नय दृष्टान्त का समर्थन करने वाला है।–51, 52 विवक्षित पदार्थ मुख्य और अविवक्षित पदार्थ गौण कहलाते है, अविवक्षित अभाव रूप नहीं होता। मुख्य और गौण की इस विधि से पदार्थ शत्रु मित्र और अनुभव शक्तियो से युक्त होते है। वादी और प्रतिवादी के विवाद मे दृष्टान्त की सिद्धि होने पर साध्य सिद्ध हो जाता है परन्तु दृष्टान्त भूत ऐसी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नही होती जो सर्वदा एकान्तवाद का नियमन करे क्योकि अनेकान्त मत मे सभी साध्य, साधन और दृष्टान्त समाहित हैं। एकान्त दृष्टि के निषेध की सिद्धि न्याय रूप वाणो के द्वारा होती है। अर्हन्त स्तुति करने योग्य इसलिए है कि वे मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर कैवल्य रूप विभूति के सम्राट हो गये है।– 53–55

वासुपूज्य

कल्याणकारी अभ्युदय क्रियाओ मे पूज्य होने के कारण वासुपूज्य कहलाते हैं। इनके वीतराग होने के कारण पूजा या निन्दा कोई अर्थ नही रखते, फिर भी पुण्य गुणो का स्मरण मन को पाप रूपी अजन से पवित्र रखता है। पूजन मे होने वाली अल्प हिसा दोष का कारण नही है, क्योकि वह अल्प मात्रा का पाप बहुत बडी पुण्य राशि मे उसी प्रकार दोष मे समर्थ नहीं हो सकती जिस प्रकार कि बिष की एक कणिका शीतल और आहलादकारी

जल से युक्त समुद्र मे दोष उत्पन्न नही कर सकती ।–57–58 अन्तरग कारण की समर्थता बताते हुए कहा गया है कि बाह्य वस्तु पुण्य पाप आदि रूप उपकार अपकार की उत्पत्ति का निमित्त होती है। वह अन्तरग मे वर्तने वाले गुण दोषो की उत्पत्ति के अभ्यन्तर मूल हेतु की सहकारी कारणभूत होती है। केवल अन्तरग कारण भी अकेला जीवादि किसी द्रव्य का परिणाम भी गुण दोष की उत्पत्ति मे समर्थ नही है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणो की पूर्णता द्रव्यगत स्वभाव है अन्य प्रकार से घटादि विधि भी घटित नही होती है।–59–90

विमल जिन

विमल स्तवन मे बताया गया है कि परस्पर निरपेक्ष नित्य क्षणिकादि नय स्व और पर का नाश करने वाले होते हैं। यही नय परस्पर सापेक्ष होकर स्व और पर का उपकार करते है। जिस प्रकार एक एक कारक अपने सहायक अन्य कारको की अपेक्षा करके कार्य की सिद्धि के लिए समर्थ हाते हैं। उसी प्रकार सामान्य और विशेष से उत्पन्न तथा गौण एव मुख्य से कल्पित नय अर्थ की सिद्धि के लिए समर्थ होते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी पर स्व और पर को प्रकाशित करने वाला ज्ञान रूप लक्षण से युक्त प्रमाण होता है। उसी प्रकार परस्पर अपेक्षा रखने वाले अभेद और भेद ज्ञान से प्रसिद्ध सामान्य और विशेष की समग्रता विद्यमान है।–61–63 विशेषण विशेष्य का स्वरूप बताते हुए स्तुतिकार कहते हैं कि वाच्यभूत विशेष्य का वह वचन जिससे विशेष्य नियमित होता है विशेषण कहलाता है और जो नियमित होता है उसे विशेष्य कहते है। यहा विशेषण और विशेष्य मे, सामान्य के प्रसग से वचने के लिए स्यात पद का प्रयोग किया जाता है, जिससे विवक्षित विशेषण विशेष्य से अविवक्षित विशेषण विशेष्य का परिहार हो जाता है। प्रस्तुत स्यात् पद का फल कहा गया है कि स्यात्पदरूपी सत्य से चिह्नित विमल द्वारा प्रतिपादित नय रस से अनुलिप्त लोह धातुओ के समान इष्ट गुणो से युक्त होते हैं।–64,65

अनन्तजिन

अनन्त रागादि के कारण मोह को जीतने के कारण अनन्तजिन् कहे जाते हैं। कामदेव के दर्प को विनष्ट कर इन्होने सर्वज्ञ पद की प्राप्ति की थी।

उनके प्रभाव से भक्त जनो को सुभगत्व की प्राप्ति होती है तथा उनके दोषी व्यक्तियो का क्विप प्रत्यय की तरह विनाश हो जाता है।–66–70

धर्मजिन

निर्दोष धर्म रूपी तीर्थ का प्रवर्तन करने के कारण विद्वानो द्वारा इन्हे सार्थक धर्म नाम से अभिहित किया गया । उन्होंने तप के द्वारा कर्मरूपी वन को नष्ट कर एव शाश्वत सुख को प्राप्त कर शकर नाम को प्राप्त किया था। वे देह के ममत्व से रहित देव और मनुष्यो को मोक्षमार्ग के उपदेष्टा थे। उनके द्वारा देव मानव आदि को उपदेश एव अन्य प्रवृत्तिया, विहार आदि विना इच्छा के ही हुए थे। उनका स्वभाव मानवातिकान्त था इसलिए ये परम देवता और सभी के कल्याणकर्ता थे।–71–75

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ के इस स्तवन मे उनके गृहस्थ जीवन से लेकर दीक्षोपरान्त तक के जीवनवृत्त का सकेत प्राप्त होता है कि वे शत्रुओ के विजेता, प्रजा के रक्षक और अतुल पराक्रमी राजा थे। वे कल्याणको की परम्परा से युक्त थे। उन्होने शत्रुओ को भय उत्पन्न करने वाले चक्र से समस्त राजाओ को जीतकर चक्रवर्ती पद की प्राप्ति की थी। पश्चात् समाधि चक्र से दुर्जय मोह चक्र को जीता था।–76, 77 जो शान्तिजिन गृहस्थावस्था मे राजाओ मे श्रेष्ठ सभी राज वैभव का सुखोपभोग करने वाले तथा राजलक्ष्मी से युक्त थे, वही वीतराग अवस्था मे आत्माधीन होते हुए देव और असुरो की महती सभा मे अर्हन्त लक्ष्मी से सुशोभित हुए। शान्तिजिन के राजा होने पर राज समूह बद्धाजलि हुआ, मुनि होने पर धर्मचक्र अधीन हुआ, पूज्य होने पर देवचक्र अधीन हुआ तथा उनके ध्यानोन्मुख होने पर क्षय को प्राप्त कृतान्तचक्र – कर्मो का समूह, नत हुआ था। इस प्रकार शान्तिजिन जिन्होने शान्ति प्राप्त कर ली है, वे शान्तिविधाता, कर्मशत्रुअ। ५, जता– जिन, भगवान और शरण प्रदाता हैं।–78–80

कुन्थुजिन

कुन्थु – सूक्ष्म प्राणी आदि समस्त जीवो पर एक मात्र दया का ही विस्तार होने के कारण उनको कुन्थुजिन कहा गया है। गृहस्थावस्था मे चक्रवर्ती थे

पश्चात् जन्म, जरा और मरण के विनाशभूत मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए उन्होने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। सासारिक भोगा को क्षणभगुर तथा मिथ्या समझकर ही उन्होने त्यागा था। बाद मे आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को छोडकर आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिए अत्यन्त कठिन अनशन आदि बाह्य तप का आचरण कर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान मे लीन हुए। परिणामस्वरूप रत्नत्रय रूपी अग्नि से घातिया कर्म की चार कर्म प्रकृतियो का विनाश कर अनन्तचतुष्टय और अनन्तवीर्य से युक्त लोकालोक के ज्ञाता तथा परमागम के विनेता हुए। उनकी विद्या विभूति इतनी विशाल थी कि लोक पितामह आदि उसकी एक कणिका को भी प्राप्त नही कर सकते।यही कारण हे कि आर्य, जन्म से रहित अपरिमित स्तुति के योग्य आपकी स्तुति करते है।–81–85

अरजिन

अरजिन की स्तुति मे समन्तभद्र लिखते हैं कि अल्प गुणो का उल्लघन कर उनका अधिकता से कथन करना स्तुति है। यद्यपि अर जिन के गुणो की स्तुति करना अशक्य है तथापि पुण्यकीर्ति के धारक मुनीन्द्र के नाम का उच्चारण मात्र भी जब पवित्र करता है तब मैने भी उनके सम्बन्ध मे कुछ कहने का साहस किया है। चक्रवर्ती होते हुए भी उन्होने सम्पूर्ण राज्य को मोक्ष प्राप्ति के लिए त्याग दिया था। उनके सौन्दर्य को देखने के लिए इन्द्र ने भी सहस्र नेत्र बनाये थे। उनहोने मोह और काम को जीतकर तृष्णारूपी नदी निर्दोष ज्ञान रूपी नौका के द्वारा पार किया था। मोह के विनष्ट होने पर उनकी शरीर की कान्ति से बाह्य अन्धकार और ध्यान के तेज से अन्तरग तम दूर हुआ था।–86–95 अरजिन की पूजा और वचनो के अतिशय के वर्णन मे बताया गया है कि उनकी केवलज्ञानरूपी ज्योति प्राणियो को नम्रीभूत कर देती है। उनके वचन सभी भाषाओ मे परिणमनशील स्वभावी होने के कारण समवसरण मे व्याप्त होने वाला उनके वचन रूपी अमृत सभी को सन्तुष्टि प्रदान करता है। उनका प्रतिपादन अनेकान्त दृष्टि से युक्त होने के कारण यथार्थ है। सर्वथा एकान्त रूप से स्वीकृत तत्त्व सदोष है।–96–101

स्यात् निपात का अर्थ और महत्त्व का कथन करते हुए स्तुतिकार ने लिखा है कि सर्वथा रूप नियम का त्यागी और यथास्वरूप दृष्टि का अपेक्षक स्यात् शब्द अनेकान्त मत के प्रवर्तक के मत को छोडकर अन्य किसी एकान्त मत मे नही है। अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनो से युक्त होने के कारण अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त स्वरूप और विवक्षित नय से अनेकान्त एकान्त स्वरूप है। इस तरह अरजिन दमतीर्थ के नायक और वरद हैं। उनकी स्तुति पापो को नष्ट करने वाली है।–102–105

मल्लिजिन

मल्लिजिन महर्षि थे।उन्हे समस्त पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। उनका शरीर स्वर्णमय था। स्यात् शब्द से युक्त उनकी वाणी भव्यो को प्रसन्न करने वाली है। उनके विहार के समय निर्मद हुए एकान्तवादी विवाद नही करते थे एव पृथ्वी विकसित कमलो से युक्त हरी भरी हो जाती थी। उनके चारो तरफ हमेशा शिष्य समुदाय विद्यमान रहता था।उनके शुक्ल ध्यान रूप परम तप की अग्नि से अनन्त अष्टकर्म रूप पाप दग्ध हो गये थे। इसलिए वे जिनसिह, कृत्यकृत्य और अशल्य कहे जाते हैं।–106–110

मुनिसुव्रत

मुनियो के उत्तम व्रतो की स्थिति को प्राप्त कर लेने के कारण वे मुनिसुव्रत कहलाये और मुनियो मे श्रेष्ठ होने के कारण मुनि बृषभ कहे जाते हैं। तप के कारण उनके शरीर की आभा अत्यधिक बढ गयी थी उनका शरीर चन्द्रमा की कान्ति की तरह निर्मल रज रहित तथा सुगन्धित एव श्वेत वर्ण के रक्त से सुशोभित था। उन्होने बताया है कि ससार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाला है और यही सर्वज्ञता का चिह्न है। आठ कर्मो को नष्ट कर उन्होने अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति की थी। अत मुनिसुव्रत जिन ही ससार से पार कराने मे सहायक हो सकते हैं।–111–115

नमिजिन

इस स्तवन मे स्तुति, स्तोता आदि पर प्रकाश डालते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि स्तुति, स्तोता के कुशल परिणाम के लिए होती है। इसलिए

स्तुति के समय स्तुत्य न भी रहे तो भी कल्याण के मार्ग मे कोई अन्तर नही पडता। नमि श्रीमन्, शुद्ध आत्मस्वरूप मे स्थिर चित्त वाले सासारिक बन्धनो के नष्ट कर्ता, मोक्षपद के प्राप्त कर्ता तथा केवलज्ञान के धारण कर्ता होने से स्तुत्य हैं। वे ससार के ज्येष्ठ गुरू हैं उनके द्वारा सापेक्षदृष्टि से प्रतिपादित सप्तभग रूप तत्व की सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है। उसमे बताया गया है कि अनेक नयो की विवक्षा और अविवक्षा से, नियम का त्याग नहीं करने वाले, सदा एक दूसरे की अपेक्षा से रहने वाले अपरिमित विशेषो से युक्त तत्त्व विधि, निषेध, अवक्तव्य, विधि अवक्तव्य, निषेध अवक्तव्यरूप से सात प्रकार का है।–116–118 नमि को सच्चा अहिंसक सिद्ध करते हुए बताया गया है कि ससार मे अहिसा ही परब्रह्म है। वह अहिसा आश्रम विधि मे सम्भव नहीं है क्योकि किचित् भी आरम्भ पाया जाता है वहा अहिसा की सिद्धि नही हो सकती। अन्तरग और बहिरग परिग्रह का त्याग करने के कारण नमि जिन अहिसा के सच्चे पालन कर्ता हैं। इस प्रकार नमि जिन पूर्ण अहिसक, यथाजातलिग के विरोधी वेष मे अनासक्त, शान्ति के निलय और शरणभूत हैं।–119, 120

अरिष्टनेमि

अरिष्टनेमि ऋषि, कर्मों के भेत्ता खिले हुए कमलो के समान विशाल नेत्र वाले तथा हरिवश के प्रधान थे। निर्दोष, दमतीर्थ के नायक शील के समुद्र, अजर, जिनकुजर, लोकालोक के प्रकाशक उन्होने केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष को प्राप्त किया था। मुमुक्षुओ, सुधी, मन्त्रमुखर आदि महर्षियो द्वारा पूज्य उनके शरीर, पाद, नख और अगुलि आदि का सौन्दर्य अनुपम था। चक्र और चक्र की कान्ति से शोभित स्कन्ध वाले उनके शरीर का वर्ण नील मेघ के समान और व्यक्तित्व समुद्र की तरह गम्भीर था।–124, 125

बान्धव गरुडकेतु और हलभृत ने अपने भाइयो के साथ अरिष्टनेमि के चरणो मे प्रणाम किया था। जिस स्थान पर उन्होने प्रणाम किया था, वह उर्जयन्त पर्वत पृथ्वी का ककुद, विद्याधरो की स्त्रियो से सेवित शिखरो से अलकृत एव तट भाग मेघो से घिरा हुआ था। यह पर्वत इन्द्र के द्वारा लिखे गये अरिष्टनेमि के चिह्नो को धारण करने से तीर्थ स्थान है। आज भी वह पर्वत ऋषियो के द्वारा सेवित है। अरिष्ट नेमि के केवलज्ञान से युक्त होने

पर उन्हे बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रिया अलग अलग और दोनो प्रकार से न बाधक हैं और न उपकारक। इस प्रकार नमिजिन की स्तुति कर, स्तोता स्वय को प्रसन्नचित्त मानता है।–126–130

पार्श्वनाथ

समन्तभद्र ने पार्श्वके इस स्तवन मे उनकी योगावस्था से लेकर दीक्षा पर्यन्त तक का वर्णन किया है। इसमे उन घटनाओ का भी सकेत है, जो पार्श्व के तपस्या काल मे घटी थीं और अन्त मे उनके उग्र वश का भी उल्लेख किया गया है। पार्श्व जब योगावस्था मे लीन थे, उस समय उनके शत्रु ने – जिसने मेघो को वश मे कर रखा था–तमाल वृक्ष के समान नील वर्ण, इन्द्र धनुषो रूपी डोरियो से युक्त भयकर आधी और वर्षा के साथ मेघो से उपद्रव करवा दिया था। इस भीषण स्थिति मे भी महामना पार्श्व विचलित नहीं हुए थे। पार्श्व पर उपसर्ग समाप्त नहीं हुआ था कि इसी बीच धरणेन्द्र नामक नागकुमार ने विजली के समान चमकते हुए बृहद् पीले फणामण्डल रूपी मण्डप से इस तरह वेष्टित कर दिया था, जिस तरह कि काली सन्ध्या के समय बिजली से युक्त मेघ पर्वत को वेष्टित कर लेता है।–131, 132 पार्श्व ने अपने योग बल से मोह का नाश कर अर्हन्त पद को प्राप्त कर लिया था। इस तरह पार्श्व के समस्त कर्मों का नाश और उन्हे ईश्वर के रूप मे देखकर वनवासी तपस्वी अपनी साधना को छोडकर धर्मोपदेशक पार्श्व की शरण मे आ गये थे। इस प्रकार प्रभाव से युक्त पार्श्व सत्यविद्याओ तथा तपस्याओ के प्रणेता केवलज्ञान के धारक, उग्रवशरूपी कुल के चन्द्रमा और मिथ्यामार्गियो कुदृष्टियो के विभ्रम के नष्टकर्ता थे।–133–135

वीरजिन

इस स्तवन मे सर्वप्रथम वीर की कीर्ति का उपमालकार से वर्णन करते हुए बताया गया है कि जिस प्रकार आकाश मे नक्षत्र समूह मे स्थित चन्द्रमा कुन्द पुष्प की शोभा की तरह सफेद कान्ति से सुशोभित होता है उसी प्रकार वीर, गुणो से उत्पन्न कीर्ति के द्वारा पृथ्वी पर सुशोभित हुए। उनका शासन भव को नष्ट करने वाला होने से इतना प्रभावशाली है कि इस कलिकाल मे भी जयवन्त होकर कुशासनो का नष्टकर्ता है। उन मुनीश्वर

का समग्र प्रतिपादन स्यात् पद से युक्त, दृष्ट और इष्ट प्रमाणो से विरोध रहित निर्दोष होने के कारण स्याद्वाद कहलाता है। इसके विपरीत जितने भी मत स्यात् पद से रहित– अस्याद्वाद है। वीरजिन ग्रन्थिक सत्वो के नमन से रहित, तीनो लोको के हितकारक केवलज्ञान आदि गुणो से युक्त थे। इनके विहार के वर्णन मे कहा गया है कि जिस प्रकार पराक्रमी हाथी कठिन मार्ग से भी बलशाली होता हुआ बिना रुकावट के बढता जाता है, उसी प्रकार दोषोपशमन कर्ता, शास्त्रो के रक्षक वीर ने भी अभयदान से युक्त विहार किया था। अन्त मे वीर शासन का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि वीर का शासन एकान्तवादो को विकल करने वाला तथा नयो और स्यात् अस्ति आदि आभूषणो से युक्त सभी ओर से कल्याणकारक है।–136–143

जिनशतक का परिचय

जिनशतक[10] अपरनाम स्तुतिविद्या[11] या जिनशतकालकार[12] समन्तभद्र का एक श्रेष्ठ काव्य कौशल से परिपूर्ण स्तुति ग्रन्थ है। इसमे चित्रकाव्य और बन्ध रचना का अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया गया है। यह शतक काव्य शैली का एक उत्कृष्ट काव्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे चौबीस जैन तीर्थंकरो की स्तुति चित्रबन्धो के माध्यम से की गयी है। यह कृति कला एव भाव पक्ष दोनो ही दृष्टियो से अपूर्व है। मुरजादि चक्रबन्ध की रचना के कारण चित्रकाव्य का उत्कर्ष इस स्तोत्र काव्य मे पूर्णतया वर्तमान है।

सस्कृत साहित्य के समीक्षको की मान्यता है कि चित्रकाव्य का विकास महाकवि माघ से प्रारम्भ हुआ है परन्तु जिनशतक के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि चित्रकाव्य का उद्भव एव विकास महाकवि माघ से सैकडो वर्ष पूर्व हो चुका था। चित्र, श्लेष और यमक का समावेश वाल्मीकि रामायण मे भी पाया जाता है।[13]अत यह सम्भव है कि दाक्षिणात्य भाषाओ के विशिष्ट सम्पर्क के कारण समन्तभद्र ने चित्र, श्लेष और यमक का पर्याप्त विकाश कर उक्त काव्य की रचना की हो ।

जिनशतक मे कवि ने अपने काव्य रचना कौशल अर्थात काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए काव्य रचना के इच्छुक आचार्यो को विविध आयाम

प्रस्तुत किये है। इस स्तुति ग्रन्थ के आधार पर यदि यह कहा जाये कि समन्तभद्र चित्रालकार के जनक थे तो अत्युक्ति नही होगी।

इस कृति मे 116 अनुष्टुप पद्य है। इसमे लगभग अट्ठारह पद्य अर्द्ध या एक पाद अथवा पूर्ण पद्य के रूप मे दुहराये गये हैं। इस प्रकार इसके पद्यो की सख्या एक शतक के लगभग शेष रह जाती है। इसलिए आप्तमीमासा की तरह इस ग्रन्थ की रचना भी एक शतक के रूप मे की गयी जान पडती हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम पन्द्रह श्लोको मे बृषभ जिन की स्तुति की गयी है। पश्चात् दो श्लोको मे अजित, तीन मे सम्भव, चार मे अभिनन्दन क्रमश दो दो मे सुमति और पद्मप्रभ, एक मे सुपार्श्व, सात मे चन्द्रप्रभ, चार मे पुष्पदन्त, दो मे शीतल, पाच मे श्रेयास, दो मे वासुपूज्य, पाच मे विमल, एक मे अनन्त, ग्यारह मे धर्म, चौदह मे शान्ति, चार में कुन्थु, पाच मे अर, एक मे मल्लि, दो मे मुनिसुव्रत, चार मे नमि, दो मे नेमि, तीन मे पार्श्व और अन्तिम पन्द्रह श्लोको मे वर्द्धमान जिन की स्तुति की गयी है। ये स्तुतिया मुरजबन्ध, अर्द्धभ्रम, युग्मकयमक आदि विभिन्न चित्रालकारो मे की गयीं है। इस ग्रन्थ का महत्त्व मात्र चित्रालकारो के माध्यम से की गयी स्तुतियो के ही कारण नहीं है वल्कि दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी है। सभी दृष्टियो से इसका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायो मे किया जायेगा।

अलकृत भाषा मे रचे गये इस ग्रन्थ मे तीर्थकरो की बढे ही कलात्मक ढग से स्तुति की गयी है। कही श्लोक के एक चरण को उलट कर रख देने से दूसरा चरण[14] पूर्वार्द्ध को उलट कर रख देने से उत्तरार्द्ध[15], पूरे श्लोक को उलट कर रख देने से दूसरा श्लोक[16] बन जाता है। कहीं कही चरण के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध मे भी ऐसा ही क्रम रखा गया है।[17] कहीं एक चरण मे कमश दो अक्षर हैं वे ही दूसरे चरण मे हैं। पूर्वार्द्ध मे जो अक्षर हैं वे ही उत्तरार्द्ध मे है और पूर्ववर्ती श्लोक मे जो अक्षर हैं वे ही उत्तरवर्ती श्लोक मे है परन्तु अर्थ उन सबका एक दूसरे से प्राय भिन्न है और उन अक्षरो को सटाकर तथा अलग से रखकर भिन्न भिन्न शब्दो तथा पदो की कल्पना द्वारा सगठित किया गया है।[18] कितने ही श्लोक ऐसे हैं जिनमे पूर्वार्द्ध के

विषम सख्याक अक्षरो को उत्तरार्द्ध के समसख्याक अक्षरो के साथ कमश मिलाकर पढने से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के विषम सख्याक अक्षरो को पूर्वार्द्ध के समसख्याक अक्षरो के साथ कमश मिलाकर पढने उत्तरार्द्ध हो जाता है। ये श्लोक मुरज या मुरज बन्ध कहलाते है कयोकि इनमे मृदग के बन्धनो जैसी चित्राकृति को लिए हुए अक्षरो का बन्धन रखा गया है। ये चित्रालकार थोडे अन्तर के कारण अनेक भेदो को लिए हुए हैं और अनेक श्लोको मे समाविष्ट किये गये हैं। कुछ श्लोक तो ऐसे भी कलापूर्ण हैं जिनके प्रथमादि चार चरणो के चार आद्य अक्षरो को अन्तिमादि चरणो के चार अन्तिम अक्षरो के साथ मिलाकर पडने से प्रथम चरण बन जाता है। इसी तरह प्रथमादि चरणो के द्वितीयादि अक्षरो को अन्तिमादि चरणो के उपान्त्यादि अक्षरो के साथ साथ कमश मिलाकर पढने से द्वितीयादिक चरण बन जाते हैं, ऐसे श्लोक अर्द्धक्रम कहलाते हैं।[19] कुछ श्लोक चकाकृति के रूप मे अक्षर विन्यास सहित हैं। उनके कोई कोई अक्षर चक मे एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढने मे आते हैं।[20] उनमे से कुछ मे ऐसी विशेषता है कि चक के गर्भवृत्त मे लिखा जाने वाला जो आदि अक्षर है, चक की चार महा दिशाओ मे स्थित चारो आरो के अन्त मे पडता है।[21]

श्लोक सख्या 111 और 112 मे यह विशेषता और अधिक है। उनकी छह आरो और नव वलयो वाली चक रचना करने पर गर्भ मे अथवा केन्द्रवृत्त मे स्थित जो एक अक्षर– न या र हैं, वही छहो आरो के प्रथम चतुर्थ तथा सप्तम वलय मे भी पडता है। इसलिए चक मे 19 बार लिखा जाकर 28 बार पढा जाता है। श्लोको मे भी वह दो दो अक्षरो के अन्तराल से 28 बार प्रयुक्त हुआ है। कुछ चकवृत्त ऐसे भी हैं जिनमे आदि अक्षर को गर्भ मे नहीं रखा गया है बल्कि गर्भ मे वह अक्षर रखा गया है जो प्रथम तीन चरणो मे से प्रत्येक के मध्य मे प्रयुक्त हुआ है।[22] इन्हीं मे कवि और काव्य के नामो को अकित करने वाला 116 वा चक्रवृत्त श्लोक है। कुछ श्लोक ऐसे भी हैं जो एक से अधिक अलकारो को साथ मे लिए हुए हैं। जैसे 84 श्लोक आठ प्रकार के चित्रालकारो से अलकृत है।[23]

इस ग्रन्थ मे कुछ श्लोक ऐसे हैं जो दो दो अक्षरो से बने है– दो व्यजनाक्षरो से ही सारा शरीर निर्मित हुआ है।[24] एक श्लोक मे प्रत्येक पाद भिन्न प्रकार के एक एक अक्षर से बना है और वे अक्षर हैं कमश य, न, म, त।[25] एक अन्य श्लोक मे एक मात्र तकार व्यजन से ही बना है।[26] इस प्रकार यह ग्रन्थ शब्दालकार, अर्थालकार और चित्रालकार के अनेक भेद प्रभेदो से अलकृत है। इस ग्रन्थ के टीकाकार नरसिह ने इस ग्रन्थ को **समस्तगुणगणोपेता सर्वालकारभूषिता** कहकर **योगिनामपि दुष्करा** कहा है।[27]

स्तुतिविद्या का अन्तरग परिचय

समन्तभद्र कहते है कि स्तुतिविद्या की सिद्धि से पापो पर विजय प्राप्त होती है। अत वीतराग प्रभु के चरणो के सम्मुख होकर स्तुति करने मे प्रवृत्त हू। जिनेन्द्रदेव गुणो के समुद्र हैं। वे अत्यन्त ही पवित्र गम्भीर एव श्री सम्पन्न ससार के सार स्वरूप हैं। अत उनके गुण रूपी समुद्र मे स्नान करो और उनके गुणो को पूर्णतया अपनाओ तभी आत्मकल्याण होगा।–1, 2

भक्त और भगवान

अनन्तसुख, अनन्तज्ञान सहित इन्द्रादिक से सेवित समस्त कर्ममल रहित, कृतकृत्य, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, सिद्धपद को प्राप्त करने वाले भगवान भक्ति से सम्मुख आये हुए का कल्याण करते हैं अर्थात् उनके सम्मुख पहुचा हुआ भक्त आराधना से आत्मविकास करने मे समर्थ होता है। अत समन्तभद्र भी भगवान की भक्ति से आत्म विकास करने की इच्छा करते है।–3, 4

ऋषभजिन

हे, ऋषभ, आपका हृदय लोककल्याण की भावना से पूर्ण, शोक रहित एव नम्रीभूत भक्त के सासारिक कष्टो का नाश करने वाला है। अत केवलज्ञान सयुक्त समवसरण मे विराजमान, अष्टप्रातिहार्यों से युक्त, देवेन्द्र विद्याधर एव चकवर्तियो के साथ विराजते हुए गमन के समय आकाश मे अधर विहार करते ह।–5,6 निर्विकार जितेन्द्रिय ऋषभजिन के सम्मुख भक्तिवश

उपस्थित हुई मनोहर नारिया निर्विकार हो जाया करती है। वे तीनो लोको, तीनो कालो के समस्त ज्ञेयो को अलोकाकाश सहित जानते है। यद्यपि वे उदासीन हैं, रागद्वेष रहित हैं, फिर भी जो आपकी सेवा या ध्यान विशुद्ध मन से करता है, वह अनन्त मगल को प्राप्त करता है। जो अहकारी, रागीद्वेषी कुदेवादि की सेवा करता है, उसका अमगल होता है। अत आप ही पूज्य ईश्वर हैं।–7,8,9 समन्तभद्र लिखते हैं कि हे, स्तुत, आपके स्तवन से मनुष्य तीर्थंकर होता है। आपके ही समान समवसरण सभा को पाकर सुशोभित होता है अन्य कुदेवादिक की आराधना से उक्त फल प्राप्त नही हो सकता क्योकि तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव केवली या श्रुतकेवली के पादमूल मे ही होता है। जो भक्तिपूर्वक आपको नमस्कार करता है वह समस्त कष्टो को जीतकर अन्त मे जन्म मरण के कष्टो से रीहत मोक्ष पद को प्राप्त करता है। जिन जीवो ने पुण्यबन्ध कर लिया है या पुण्यबन्ध करने मे लगे हुए है वे ही मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकते है। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद समवसरण सभा मे आप चार मुखो से सुशोभित होते हैं। जो व्यक्ति आपकी स्तुति करता है, उसे ऐसी वाक्शक्ति प्राप्त होती है, जिसके बल से वह दिव्यध्वनि खिराने मे समर्थ होता है। इसलिए मैं भी आपकी स्तुति करने मे प्रवृत्त हुआ हू।–10–15

अजितजिन

समन्तभद्र ने अजितजिन की इस स्तुति मे उन्हे अविनाशी, अजर, क्षमादि गुणो से युक्त बताया है।–16, 17

सम्भवजिन

चक्रवर्तियो आदि प्रधान नायको द्वारा पूज्य, जिनेन्द्र, आप अपने दिव्य तेज से मेरी रक्षा कीजिए। मेरा आधार पवित्र एव उत्कृष्ट है। मैं ससार से भयभीत होकर आपकी शरण मे आया हू। मुझे कभी अन्त को प्राप्त न होने वाला तेज प्रदान कीजिए।- 18 19 20

अभिनन्दनजिन

इस स्तवन मे भी स्तोता ने प्रभु से अपने समान भगवान बनाने की प्रार्थना की है।–21–25

सुमतिजिन

स्तुतिकार प्रार्थना करता है कि जो व्यक्ति कर्मों के नाश करने के इच्छुक हैं वे आपकी उपासना करते हैं और आप उनका हित करते हैं। अत हे दाता मुझे भी मोक्ष लक्ष्मी प्रदान कीजिए। आप आर्जव धर्म से युक्त हैं, तपाये हुए सुवर्ण के समान गौरवर्ण है आप मेरे दु खो का नाश कीजिए।–26

पद्मप्रभजिन

पद्मप्रभजिन को विभिन्न विशेषणो से सम्वोधित करते हुए समन्तभद्र लिखते है कि आपकी पूजा बडे बडे गणधर, देवादि नहीं कर पाये हैं, पर मैं जो नमस्कारादि क्रिया कर रहा हू वह धृष्टता मात्र है।–27, 28

सुपार्श्वजिन

आप स्तुति करने वाले एव निन्दा करने वाले दोनो को समान रूप से पवित्र बनाते हैं। अत आप ही आश्रयणीय हैं।

चन्द्रप्रभजिन

चन्द्रप्रभ सबके रक्षक, अजेय, अति विशाल, अक्षय, अमेय एव प्रमाण के विषय हैं। सूर्य के प्रकाशमान रहते हुए भी प्रकाशित रहते है। अत चन्द्रमा की अपेक्षा विशिष्ट हैं। चन्द्रप्रभ अर्द्धचन्द्र चिह्न से विभूषित होने पर भी चन्द्रमा इनसे हीन है। ये सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान हैं क्योकि सूर्य का प्रकाश अन्य कारणो से ढक जाता है परन्तु प्रभु का सिद्धान्त रूपी सूर्य का प्रकाश किसी भी प्रवादी से आच्छादित होने वाला नही है।–30- 36

शीतलजिन

विरोधाभास अलकार मे शीतलनाथ जिन की स्तुति करते हुए समन्तभद्र ने उन्हे ज्ञानावरणादि कर्मों का घातक होकर भी सबका रक्षक तथा शीतल होकर भी सभी को अग्नि की तरह पवित्र करने वाला बताया है।–41, 42

श्रेयोजिन

श्रेयोजिन ससार के नेता हैं क्योकि जरा रहित है। मन, वचन, काय से भक्ति करने वालो का कल्याण करते हैं। एकान्तवादो के समीक्षक और सुन्दर होने के कारण तीनो लोको की जनता उन्हे नमस्कार करती थी।–43–47

वासुपूज्य

वासुपूज्य जिन का देवो ने अभिषेक किया था, तीनो लोको के जीवो ने उनकी सेवा की थी। अत वे ईश्वरो मे श्रेष्ठ ईश्वर है, हमारी रक्षा करे। जो उनको नमस्कार करता है वह पुण्यवान, उच्च, एव सौन्दर्यवान् होता है।वे जिन एकमुख होकर भी चतुर्मुख हैं। 48,49

अनन्तजिन

अनन्तजिन समस्त एकान्त और असत्यवादो के नाशक है। चकवर्ती इन्द्र आदि के द्वारा सहज स्वाभाविक रूप से पूज्य हैं।–55

धर्मनाथ

धर्मनाथ जिन के जन्म के समय इन्द्र ने मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक किया था, उनका शरीर दुग्ध के समान शुभ्र वर्ण था। वे सर्वार्थसिद्धि विमान से चयकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए थे। उन्होने कर्मों का नाश कर अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी को प्राप्त करने के बाद मोक्ष प्राप्त किया था और भक्ति करने वालो को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर मोक्ष प्रदान किया।–56–66

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ जिन ने चकवर्ती पद पाकर षट्खण्ड भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की , फिर समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर रूप धारण कर वन में तपस्या करने चले गये। यद्यपि शान्तिनाथ का शरीर परमौदारिक था फिर भी क्षमावान थे। उनकी सुन्दरता एव सौम्यता गौरान्वित करने वाली थी। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद साढे चार योजन समवसरण मे विराजमान उन शान्तिनाथ ने कोटि सूर्यो से भी अधिक प्रकाशमान होकर समस्त प्रकार

के ऋतु सम्बन्धी, प्राणी सम्बन्धी, नय सम्बन्धी विरोधो को नष्ट कर दिया था एव समस्त प्राणियो को ससार से छूटने का उपदेश दिया था।67–80

कुन्थुजिन

जन्म मरण से रहित, अत्यन्त शुद्ध, सभी रोगो से रहित कुन्थु जिन की वृद्धावस्था मे प्रसन्नता, ज्ञान देने एव मुक्ति के लिए प्रार्थना की गयी है।–81–84

अरजिन

अरजिन कुगति निवारक, भक्तो के रक्षक, इष्टफल प्रदाता सर्वश्रेष्ठ हैं।–85–89

मल्लिजिन

मल्लिजिन भव्यो के जन्ममरणादि रोगो के नाशक अनन्त पदार्थों के ज्ञाता, दिव्यध्वनि एव केवलज्ञान के धारक है। अत उन्हे सभी भव्य नमस्कार करते हैं।–90

मुनिसुव्रतनाथ

मुनिसुव्रतजिन भय रहित है, अनन्तगुणो के धारक है, केवलज्ञान सहित हैं। अत पाप परिणति को दूर करे।–91, 92

नमिजिन

नमिजिन पूर्ण ज्ञानी है, दयालु हैं, अनेकान्त के उपदेष्टा हैं, अजेय है तथा समस्त ससार के असख्यात लोगो से पूज्य हैं। अत वे पूर्ण ज्ञानी एव मोह रहित बनावे।–93–96

नेमिजिन

नेमि जिन उत्कृष्ट एव सम्पूर्ण चारित्र के धारक है, पूज्य एव ज्ञानवान हैं। आर्यों मे श्रेष्ठ हैं। इन्द्र अहमिन्द्र आदि के द्वारा पूज्य हैं। अत आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि वे नेमि जिन मोक्ष सुख प्रदान करे।–97, 98

पार्श्वजिन

पार्श्वजिन समस्त कर्मों के विजेता, सबको विजय प्रदान कराने वाले, पापो के नाशक, अज्ञान रूप अन्धकार को मिटाने वाले, विस्तृत, अपरिमित, अक्षय केवलज्ञान से सयुक्त हैं। अत हमारे अज्ञान अन्धकार का विनाश करें।–99–101

वर्द्धमान

वर्द्धमानजिन की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने उन्हे केवलज्ञान सयुक्त, सभी के द्वारा पूज्य, तीनो लोको का गोष्पद की तरह देखने वाले, शारीरिक मानसिक व्याधियो के नाशक, अनेक गणधरो द्वारा नमस्कृत बतलाते हुए उनसे रक्षा की प्रार्थना की है।–102–116

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतकम् ग्रन्थ मे चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति करके उनसे प्रार्थना की है कि वे ससार से पार उतारे।

सन्दर्भ

1 स्तोत्र युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य। – युक्त्य टीका 19
2 इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठीस्तोत्रे प्रथम प्रस्ताव । - वही, 19
श्रद्धागुणज्ञतयोरेव परमात्मस्तोत्रे प्रयोजकत्वात्। – वही
3 आप्तभाष्य 1 2 अ स पृ 2
4 जैन नरेन्द्रकुमार समन्तभद्र अवदान पृष्ठ 57 – 99
5 स्वय 1
6 आरा–जैन सि भवन, पुष्पिकावाक्य पाण्डुलिपि सख्या क 34
दिल्ली– दि जैन स म पुष्पिकावाक्य पाण्डु स लृ 7 क और लृ 7 ख
7 स्व मुद्रित प्रति– स प पन्नालाल पु वा पृ 154
8 स्वय 1 1 2 पृष्ठ 154
9 दृष्टव्य आदिपुराण 3 191–213
10 वाल्मीकि रामायण
11 स्तुतिविद्या 1
12 वहीं टीका, 116

13 वही 116
14 जिनशतक श्लोक सख्या 10 83 88 95
15 वही 57 96 98
16 वही 86 87
17 वही 85 93 94
18 वही 5 15 25 52, 11 12 16 17 37 38 46 47 79 77 93 94, 106 107
19 वही 3 4 18 19, 20 21 27 36 43 44, 56 90, 92
20 वही, 26 53 54 आदि
21 वही 22 23 24
22 वही 110 113 114 115 116
23 वही 84
24 वही 51 52 55 85 93 94, 97 100 109
25 वही 14
26 वही 13
27 वही टीका 1 3
28 वही 1

❑❑❑

परिच्छेद तृतीय
स्वयभूस्तोत्र और स्तुतिविद्या का काव्यमूल्यों की दृष्टि से विश्लेषण

आचार्य समन्तभद्र ने स्तोत्रो की रचना काव्य कौशल दिखाने के लिए नही की, अपितु भक्ति रस मे निमज्जन कर स्तोत्र रूप मे प्रभु के प्रति उनके भावो की अभिव्यक्ति है। फिर भी उनकी रचनाओ मे काव्यशास्त्र की विधाओ का समावेश पाया जाता है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से अपेक्षित विश्लेषण के लिए उनकी दो कृतिया – स्वयम्भूस्तोत्र और जिनशतक या स्तुतिविद्या विशेष उल्लेखनीय हैं। यहा उनका ही काव्यमूल्यो की दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत है।

काव्य वैभव

रसगगाधर के रचयिता पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्वाचार्यों के काव्य लक्षणो का समन्वय करते हुए काव्य का लक्षण किया है– **रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्**[1] अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द समूह काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलकार से प्रकट हो या शब्द शक्तियो से, मात्र सुन्दर शब्दो से या सुन्दर अर्थ से काव्य, काव्य नही कहलाता है किन्तु दोनो के सयोग से ही काव्य कहलाता है।

समन्तभद्र के काव्य भक्तिपरक होते हुए भी उनके काव्यो मे काव्य वैभव स्वत ही दृष्टिगोचर होता है। स्वयम्भूस्तोत्र मे जहा शब्दालकार की छटा द्रष्टव्य है वही स्तुतिविद्या मे चित्रालकार की योजना आचार्य की अप्रतिम काव्य कौशल का प्रतीक है। अगर आचार्य समन्तभद्र को चित्रालकार का जनक या प्रथम आचार्य कहे तो कोई अतिशयोकित नही होगी।

चित्रालकार के अन्तर्गत मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध अतिबन्ध आदि पर आचार्य समन्तभद्र से पूर्व किसी कवि ने कलम तक नही चलायी। परम्परा के अनुसार छठवी शताब्दी के आचार्य दण्डी ने अपने काव्यालकार मे चित्रालकारो की परिभाषाए एव कुछ उदाहरण अवश्य प्रस्तुत किये हैं।[2]

महाकवि भारवि ने अपने किरातार्जुनीयम् महाकाव्य मे[3] महाकवि माघ ने अपने शिशुपालवधम् महाकाव्य मे[4] तथा महाकवि हरिश्चन्द्र ने अपने धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य मे[5] श्लेष यमक तथा चित्रालकारो मे रचनाए की है परन्तु यह भी सत्य है कि आचार्य समन्तभद्र से पूर्व किसी भी कवि ने स्तुतिविद्या सरीखे चित्रालकार एव शब्दालकार प्रधान काव्यात्मक स्तोत्र की रचना करने का साहस तक नही किया है। यद्यपि इसमे भी सन्देह नही कि समन्तभद्र से पूर्व चित्र, श्लेष, यमक आदि के बीजसूत्र अवश्य ही उपलब्ध थे।

समन्तभद्र के स्तुतिविद्या काव्य मे शाब्दी कीडा की विचित्र रमणीयता समाविष्ट है। कवि ने स्तोत्र काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो की गम्भीरता का अपूर्व समन्वय बनाये रखने की सफल चेष्टा की है। शब्द सहति अलकार वैचित्र्य, कल्पना सम्पत्ति एव तार्किक प्रतिभा का समवाय एकत्र प्राप्त है। प्रबन्धकाव्य न लिखने पर भी कतिपय श्लोको मे वातावरण की अपूर्व सृष्टि समाहित रहने के कारण परिस्थिति की भावमयता अभिव्यक्त हुई है, जिसमे प्रबन्धात्मकता का चमत्कार पाया जाता है।

प्रबन्धात्मकता

समन्तभद्र ने अपने मुक्तको मे उपमानो, शब्द परिच्छित्तियो एव सकेतो द्वारा पौराणिक आख्यानो को उपस्थित कर प्रबन्धात्मकता का समावेश किया है। यथा –

विहाय य सागरवारिवासस
वधूमिवेमां वसुधा वधू सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्
प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत.।।[6]

ससार के दु खों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ऋषभदेव ने निष्ठापूर्वक प्रेम करने वाली लावण्यमयी नायिका के समान समुद्रान्त पृथ्वी का परित्याग किया और अपने व्रत नियमो पर अटल रहे।

उपर्युक्त श्लोक मे भावो को प्रेषणीय बनाने के लिए कवि ने वसुधा को सती वधू का और समुद्र के जल को वस्त्र का जो बिम्ब प्रदान किया है, वह प्राचीन साहित्य मे मार्मिक है। यहा **सहिष्णुरच्युत** पद शब्द परिच्छित्ति है। इस परिच्छित्ति से पौराणिक उपाख्यान निष्पन्न होता है। जब भगवान आदि तीर्थंकर ने दीक्षा ग्रहण की थी उस समय स्वामिभक्ति से प्रेरित नमि, विनमि आदि अनेक राजाओ ने दीक्षाधारण की थी, पर क्षुधा तृषा आदि का कष्ट न सह सकने के कारण वे भ्रष्ट हो गये थे। इस पौराणिक आख्यान की अभिव्यजना **प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत** द्वारा होती है। मुक्तक काव्य का रचयिता यदि सकेतात्मक शैली मे शब्द परिच्छित्तियो का पयोग करना चाहता है, आत्मनिष्ठ होने पर भी उस काव्य मे वास्तविक और व्यक्त जीवन की घटनाए भावात्मक रूप मे अभिव्यक्त हो जाती हैं। तथ्य यह है कि समन्तभद्र ने मुक्तको के भीतर मर्मपूर्ण मानव जीवन का स्वरूप निहित कर काव्य सवेदन के आयाम को विकसित किया है।

इसी प्रकार शान्तिजिनस्तवन मे **विधाय रक्षा परत प्रजाना चक्रेण य: शत्रुभयकरेण एव यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक** पदो से भी पौराणिक आख्यान एव घटनाए निस्सृत होती है।[7] कवि ने उक्त पदो का प्रयोग मुक्तको मे प्रबन्धात्मकता का निर्वाह करने के लिए ही किया है। अत प्राय प्रत्येक तीर्थंकर के स्तवन मे उनके जीवन की प्रमुख घटनाओ का उद्घाटन कर वस्तुवर्णनो के अभाव मे भी इतिवृत्तात्मकता का न्यास किया है। इसका परिणाम यह है कि मुक्तक स्तवनो मे प्रबन्धात्मकता का रस प्राप्त होता है और पाठक वर्ण्य के साथ साधारणीकरण की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि प्रतिभाशाली कवि उपमानो, शब्द परिच्छित्तियो एव साभिप्राय प्रयुक्त पदो मे इतिवृत्तात्मकता सकेतो का व्यवहार करता है। फलत मुक्तक काव्य भी प्रबन्धात्मकता को प्राप्त हो जाता है। यथा– आदिनाथ के जीवन पर प्रकाश डालते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि आदिनाथ ने प्रथम प्रजापति के रूप मे देश, काल और प्रजा की परिस्थिति के तत्त्वो को जानकर जीने की इच्छा रखने वाले प्रजाजनो को असि मसि, कृषि, विद्या वाणिज्य एव शिल्प आदि की शिक्षा दी थी और अन्त मे ममत्व रहित होकर तत्त्ववेत्ताओ मे श्रेष्ठ हुए –

प्रजापतिर्य प्रथमं जिजीविषु शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजा।
प्रबुद्धतत्त्व· पुनरदमुतोदयो ममत्वतो निर्विवदे विदावर·।।[8]

इसी आदिनाथ स्तोत्र मे आये हुए **निर्द्रयमस्मसात्किया** [9] पद से सम्भवत आचार्य ने अपनी भस्मक किया का सकेत किया है। उसी तरह **आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथानाथ रूजां प्रशान्त्ये**[10] द्वारा सम्भवनाथ जिनको वैद्य का रूपक देकर अपनी जीवन की घटनाओ की ओर सकेत किया है। **यस्याग लक्ष्मी परिवेशभिन्न तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्न** [11] पद से राजा शिवकोटि के शिवालय मे घटित हुई घटना का सकेत प्राप्त होता है। **स्वपक्षसौस्थित्य मद्रावलिप्ता वाक्सिहनादर्विमदावभूवु** [12] के द्वारा यह सकेत मिलता है कि समन्तभद्र ने शास्त्रार्थ द्वारा जैनसिद्धान्त का प्रचार किया एव अपनी चातुरी से अन्य वादियो को मद रहित कर दिया था।

चक्रेण य शत्रुभयकेण जित्वा नृप सर्व नरेन्द्रचकम्।[13]
विधाय रक्षा परत· प्रजाना राजा चिर योऽप्रतिमप्रताप·।।[14]

उपर्युक्त द्वारा सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ के चकवर्ती पद का होना, षट्खण्ड पर विजय प्राप्त करना एव राजकाल मे प्रजा की रक्षा करके उसे अत्यन्त सुखी एव समृद्ध बनाने की सूचना मिलती है।

मल्लिनाथ एव अरिष्टनेमि के स्तवन के बीच आए हुए महर्षि या ऋषि शब्द उक्त दोनो तीर्थंकरो का बालब्रह्मचारी होना सिद्ध करते है।[15]

तमालनीलै· सघनुस्तडिद्गुणै प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभि:।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगत·।।
बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिगरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा।।[16]

उक्त पद्यो के द्वारा पार्श्वनाथ के मुनि जीवन की घटना पर स्पष्टत प्रकाश डाला गया है कि जब पार्श्वनाथ मुनि अवस्था मे तप कर रहे थे तब उनके पूर्वभव के बैरी कमठ ने उन पर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये थे। पद्मावती और धरणेन्द्र ने उनके उपसर्ग का निवारण किया था।

इस प्रकार स्तोत्र काव्य मे प्रबन्धात्मक बीजसूत्र सर्वत्र विद्यमान है। आचार्य समन्तभद्र ने वैदिक मन्त्रो के समान ही प्रबन्धगर्भित स्तोत्रो की रचना करके दार्शनिक एव काव्यात्मक क्षेत्र मे नए चरण चिह्न उपस्थित किये हैं।

स्वयम्भूस्तोत्र की अलकार योजना

समन्तभद्र ने जहा भक्तिपरक रचनाए की है वही उन्होने अलकार के क्षेत्र मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलकारो की अनूठी योजना की है। कवि ने विशेषत उपमालकार का व्यवहार प्राय समस्त स्तोत्र मे किया है। भावोत्कर्षव्यजना एव घातुओ मे रूपानुभूति, गुणानुभूति और कियानुभूति के रूप मे भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे इनके उपमान सशक्त है। यह सत्य है कि भाषा मे भावाभिव्यक्ति की क्षमता का आगणन तभी होता है जब उसमे अनेक प्रकार के अलकार मिलकर उसके अग बन जाते है। इस प्रकार भावनाओ की सूक्ष्मता और सश्लिष्टता के साथ भाषा भी स्वत अलकृत और सश्लिष्ट हो जाती है।

उपमा – उपमेय मे उपमान योजना का मनोविज्ञान यह है कि जब कवि अपने मनोगत भाव या आवेग को व्यक्त करना चाहता है तब उसका आलम्बन खोजता है, कभी वह प्रकृति के चेतन रूपो और तत्त्वो मे उसे मिल जाता है और कभी भौतिक जड पदार्थो मे। कोई विषय या भाव ऐसा नही है जो उपमान योजना के द्वारा अधिक प्रभाव और सुन्दरता के साथ ग्रहण न कराया जा सके। काव्य मे उपमान योजना ज्ञानबोध के साथ चारुत्व की भी सृष्टि करती है। यदि उपमान योजना मे सुन्दरता, सरलता, चमत्कार और विषयबोध कराने की क्षमता नही है, तो काव्य मे उसका कोई भी महत्त्व नहीं होता। उपमान योजना का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है –

प्रथम स्तवन मे आदिनाथ के लिए चन्द्रमा का उपमान प्रयुक्त किया है।[17] चन्द्रमा अन्धकार का विनाशक होता है और आदिनाथ अज्ञान के । इस उपमान मे सादृश्य और साधर्म्य दोनो हैं।

1 **विराजितं येन विधुन्वता तम क्षपाकरेणेव गुणोत्करै करै**[18]

कवि अजितनाथ का स्तवन करते हुए उपमानो का प्रयोग कर अपने आराध्य का महत्त्व तो प्रतिपादित करता ही है, साथ ही अप्रस्तुत वर्ण्य विषय का व्याख्यान भी। प्रयुक्त उपमानो मे रूपसाम्य और गुणसाम्य दोनो ही धर्म पाये जाते हैं।

2 **येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं ज्येष्ठ जना प्राप्य जयन्ति दु खम्।**
गांग ह्रद चन्दनपंकशील गजप्रवेका इव घर्मतप्ता.।। [19]

जिन्होने उस महान् और ज्येष्ठ धर्मतीर्थ का प्रणयन किया है। जिसका आश्रय पाकर भव्यजन दु ख सन्ताप पर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते है जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सूर्य सन्ताप से सतप्त हुए बडे बडे हाथी चन्दन लेप के समान शीतल गगाह्रद को प्राप्त कर सूर्य के समान सन्ताप जन्य दु ख को मिटा डालते हैं।

यहा गगा जल का उपमान चन्दन लेप है और धर्मतीर्थ का उपमान गगा जल है। जन का उपमान गज है। इस प्रकार इस श्लोक मे ससार आताप की शान्ति के लिए धर्मतीर्थ का सामर्थ्य विभिन्न उपमानो द्वारा दिखलाया गया है।

प्रयुक्त उपमानो मे प्रभाव साम्य की दृष्टि से अर्थवत्ता निहित है और प्रभाव साम्य की योजना गुण प्रकिया के साम्य के आधार पर की है। जगत् के अनन्त रूपो और व्यापारो के बीच व्याप्त सम्बन्धो का विश्लेषण कर कवि समन्तभद्र ने अप्रस्तुतो का व्यवहार किया है। कवि, अजितनाथ के धर्मतीर्थ को अत्यन्त शान्तिप्रद ससार ताप नाशक सिद्ध करने के लिए गगा जल, चन्दन लेप जैसे सजातीय अनुभूति उत्पादक उपमानो का प्रयोग कर अनिर्वचनीय अनुभूति उत्पन्न करना चाहता है। वह अपने हृदय मे उत्पन्न भावो को पाठको के हृदय मे सक्रमित कर धर्मतीर्थ की यथार्थ अनुभूति जाग्रत करना अभीष्ट समझता है। अतएव इन उपमानो को भावोद्दीपक मानना सगत है।

समन्तभद्र चन्द्रप्रभ की स्तुति करते समय उनकी रूपाकृति की मनोरम झाकी उपस्थित करने के लिए चन्द्रमा का उपनाम प्रस्तुत करते है यथा –

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौर चन्द्र द्वितीय जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्य महतामृषीन्द्र जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम्।।[20]

चन्द्रकिरण के समान गौरवर्ण से युक्त चन्द्रप्रभ जिन जगत मे द्वितीय चन्द्रमाके समान दीप्तिमान है । जिन्होने अपने अन्त करण के कषाय बन्धन को जीतकर अकषाय पद प्राप्त किया है और ऋद्धिधारी मुनियो के स्वामी तथा महात्माओ द्वारा वन्दनीय हैं।

इस श्लोक मे चन्द्रमरीचिगौर उपमान है। इस उपमान द्वारा चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के गौरवर्ण शरीर की आकृति का सुन्दर अकन किया है। इस उपमान द्वारा अभिव्यक्त वाच्य चन्द्रप्रभ के असाधारण गुणो की भी व्यजना करता है। आराध्य के रूप सौन्दर्य के साथ उनके महिमामडित व्यक्तित्व का विश्लेषण भी उक्त उपमान द्वारा सम्भव है। इसी तरह अन्य पद्यो मे भी उन्होने उपमालकार का खुलकर प्रयोग किया है। सम्भवजिन की स्तुति करते हुए कहा है –

त्व शम्भव सम्भवतर्शरोगै सतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथानाथरुजां प्रशान्त्यै।।[21]

हे, शम्भव जिन, सासारिक रोगो से प्रपीडित जनसमूह के लिए आप इस लोक मे उसी प्रकार आकस्मिक वैद्य हुए हो जिस प्रकार कि अनाथो के रोगो की शान्ति के लिए कोई चतुर वैद्य अचानक आ जाता है।

इसी प्रकार पद्माकराणामिव पद्मबन्धु, मातेव बालस्य हितानुशास्ता, तमस्तमोरिवरश्मिभिन्नम्, भवाश्चकाशे भुवनत्रयेस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान्, नयास्तव स्यात्पदसत्य लाछिता रसोपविद्धा इव लौहधातव शिवाय सस्पर्श इवा भूताम्बुधे, व्योमनीव शशलाछनो मत, मुनिद्रया मूर्तिरिवा शान्तिम्, व्यग्रे यथा वियति दीप्तरूचिर्विवस्वान्, साम्राज्य सार्वभौम ते जरत्तृणमिवाभवत्, मुनिपरिषदिनिर्बभो भवानुहुपरिधत्यपरिवीतसोमवत्, त्वमिद तलामलकइवद्विवेदिय, सोमइव व्योम्निकुन्दशोभातिशया आदि पदो मे[22] उपमान योजना के द्वारा कवि ने दार्शनिक तत्त्वो को भी उपमाओ द्वारा सरस बनया है।

रूपक – स्वयम्भूस्तोत्रम् मे उपमा के समान रूपक अलकार की छटा भी द्रष्टव्य है। प्रस्तुत अप्रस्तुत का निषेध रहित आरोप कर इस अलकार की योजना की गयी है। यह सादृश्यगर्भ वर्ग का अभेद प्रधान अर्थालकार है। उपमान उपमेय के परस्पर तिरोभूत हो जाने से या विषयी के द्वारा विषय को रूपवत् स्वीकार करने से चमत्कार उत्पन्न होता है।[23] कवि समन्तभद्र ने जिन के प्रवचन को सिह का रूपक और एकान्तवादियो को मदोन्मत्त गज का रूपक देकर आराध्य के उपदेश की महत्ता प्रदर्शित की है यथा –

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवु ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादै ।।[24]

जिन के प्रवचन रूप सिहनादो को सुनकर के अपने पक्ष की सुस्थिति का घमण्ड रखने वाले प्रवादि जन उसी प्रकार से निर्भय हुए है जिस प्रकार मद झरते उन्मत्त हाथी, केसरी सिह की गर्जना को सुनकर निर्मद हो जाते हैं।

कवि ने मोह योद्धा का ससैन्य वर्णन कर तीर्थकर अरनाथ के साथ उसके युद्ध का वर्णन किया है। इस प्रसग मे रूपक की योजना नैसर्गिक और चमत्कार पूर्ण है। यथा –

मोहरूपो रिपु: पाप· कषायभटसाधन ।
दृष्टिसविदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजित· ।।[25]

क्रोध, मान, माया लोभादि की सेना से युक्त मोहरूपी योद्धा को अरजिन ने रत्नत्रय के दिव्य अस्त्रो द्वारा पराजित कर दिया था। यहा मोह की कषायभटसाधन और सविदुपेक्षास्त्रै मे रूपक की योजना की गयी है। यद्यपि यह रूपक शास्त्रीय है, फिर भी तो शत्रु पराजय के दृश्य को पूर्ण रूप से उपस्थित करता है।

अभिनन्दन जिन की स्तुति आरम्भ करते समय रूपक की योजना सरस रूप मे की है। कवि कहता है कि –

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधू क्षान्तिसखीमशिश्रियत्।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत्।।[26]

अनन्त ज्ञानादि गुणो का अभिनन्दन करने के कारण आप अन्वार्थक नाम वाले हैं। आपने क्षमा सखी से युक्त, दयावधू को आश्रय दिया है। आपने शुक्ल ध्यान की प्राप्ति के लिए अन्तरग और बहिरग परिग्रह का त्याग किया है।

प्रस्तुत पद्य मे क्षान्तिसखि और दयावधू मे रूपक है। इस रूपक द्वारा अभिनन्दन जिन के विवाह का अर्थ प्रस्फुटित होता है। उनका विवाह दया क्षमा के साथ हुआ है। कवि को एक ही नायिका के साथ विवाह करना अभीष्ट है। अत क्षान्ति सखि से युक्त दया के साथ विवाह की बात कही गयी है। दूसरी बात यह है कि क्षमा के अभाव मे दया का कुछ भी महत्त्व नहीं है। अतएव कवि समन्तभद्र ने अपने भावो को प्रेषणीय बनाने के लिए उक्त तर्कों की योजना की है।

इसी प्रकार तर्ष रोग, तृष्णामया, वाग्मृतम्, भव्यपयोरुहाणा, वाक्सिहनादै, भव्यकुमुदवतीनाम्, तृष्णार्चिषा, दोषेश, जन्मज्वरतरु, जन्मनिगल, कलमेषेन्धन, शीलजलधि, जिनकुजर, चरणारविन्दम् आदि पदो मे[27] रूपक की योजना कर कवि समन्तभद्र ने अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। उक्त पदो मे समागत रूपक वर्ण्य विषय का सागोपाग स्वरूप तो उपस्थित करते ही हैं, पर उनके द्वारा रसपेशलता भी उत्पन्न होती है, जहा कवि को अपने आराध्य के सम्बन्ध मे जिस प्रकार के गुणो या तथ्यो की व्यजना करनी होती है, वहा कवि वैसे ही सटीक रूपक प्रस्तुत कर देता है।

उत्प्रेक्षा – भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा' के अनुसार कवि ने उत्प्रेक्षालकार का भी अच्छा गुम्फन किया है। अतिशयोक्तिमूलक उत्प्रेक्षा की योजना करते हुए लिखा है कि –

शरीररश्मिप्रसर प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरारिलेप।
नरामराकीर्णसभा प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणे स्वसानुम्।।[29]

हे, प्रभो, प्रातःकालीन सूर्य किरणो की छवि के समान रक्तवर्ण की आभा वाले आपके शरीर के किरणो के विस्तार ने मनुष्य और देवताओ से युक्त समवसरण सभा को इस प्रकार आलिप्त किया है, जैसे चन्द्रकान्तमणि पर्वत की प्रभा को अपने पार्श्वभाग को व्याप्त करती है।

इस पद्य मे पद्मप्रभ तीर्थंकर की रक्तवर्ण कान्ति द्वारा समवसरण सभाके व्याप्त किये जाने की उत्प्रेक्षा पद्मकान्तमणि के पर्वत की प्रभा से की है। रक्त वर्ण की शरीर कान्ति की वास्तविक अवधारणा करने के लिए कवि ने बालार्करश्मि उपमान की योजना की है। यत प्रातःकालीन सूर्य किरणे लाल होने पर तेजस्वी भी होती हैं और वे दाह उत्पन्न नही करती। पद्मप्रभ के शरीर की कान्ति रक्तवर्ण की होने पर भी तेजस्वी और शन्तिप्रद हैं। आलिलेप कियापद भी साभिप्राय है। दिव्यरक्त कान्ति ने समवसरण सभा को आलिप्त तो किया ही पर उक्त कान्ति से सभा स्थित देव मानवो को चिरशान्ति और सुख प्राप्त हुआ। कवि शरीर कान्ति के कथन द्वारा दिव्यध्वनि की और सकेत करता है।

उन्नीसवे तीर्थंकर मल्लिजिन की स्तुति करते हुए कवि मल्लिनाथ के शरीर के रूप का वर्णन करता हुआ उत्प्रेक्षा करता है।

यस्य च मूर्तिः कनकमयीवस्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा[30]

सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करने वाला भामण्डल बनाए हुए जिन मल्लिनाथ का शरीर ऐसा लगता है मानो सुवर्ण निर्मित ही हो। इस पद्य से कवि ने मल्लिनाथ के शरीर को पीतवर्ण स्पष्ट किया है।

अर्थान्तरन्यास

विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष का समर्थन कर अर्थान्तरन्यास की योजना की गयी है।[31]

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित् कथ सुखे ससजतीति चाब्रवीत्।।[32]

हे, अभिनन्दन जिन, आपने बताया कि अनुबन्ध दोष से अर्थात् परमाशक्तिवश विषय सेवन मे अति लोलुपी हुआ भी मनुष्य इस लोक मे राजदण्डादिक का भय उपस्थित होने पर कुकर्मो मे प्रवृत्त नहीं होता है

फिर भी मनुष्य इस लोक तथा परलोक मे होने वाले विषयासक्ति के दोषो को भले प्रकार जानता है, वह कैसे विषयसुख मे आसक्त हो सकता है। श्री वासुपूज्य जिन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि –

शिवासु पूज्योम्युदयकियासु त्व वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्य·।
मयापि पूज्योल्पधिया मुनीन्द्र दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्य·।।[33]

हे, वासुपूज्य, जिन आप शिव रूप अभ्युदय कियाओ मे पूज्य हैं, त्रिदशेन्द्र पूज्य हैं और अल्प बुद्धि के द्वारा भी पूज्य हैं, क्या दीपशिखा के द्वारा सूर्य की पूजा नहीं होती।

विषमालंकार का उदाहरण

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृत क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः।
तत· स्वनि·श्रेयशभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे।।[34]

हे, शीतलनाथ, जिन, कहा तो आप उत्तम ज्योति, अजन्मा और निर्वृत्त, कहा वे दूसरे तपस्वी लेशमात्र ज्ञान के मद से नाश को प्राप्त हुए हैं। इसलिए अपने कल्याण की भावना मे तत्पर बुद्धिश्रेष्ठो मे पूजे जाते है।

स्वभावोक्ति – जिस वस्तु की जो किया है उसका उसी रूप वर्णन करके स्वभावोक्ति का चमत्कार दिखाया गया है।[35] समन्तभद्र ने दर्शन के सिद्धान्तो को अत्यन्त सुन्दरता के साथ स्वभावोक्ति रूप मे चित्रित किया है। दृष्टव्य है –

शतह्रदोन्मेषचल हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतु।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्र तापस्तदायासयतीत्यवादी।।[36]

अर्थात् इन्द्रिय विषय सुख बिजली की चमक के समान चचल और तृष्णारूपी रोग को बढाने वाली है। तृष्णा की अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है। वह ताप जगत् को अनेक दु ख परम्परा से पीडित करता रहता है।

तृष्णार्चिशा परिदहन्ति न शातिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवै परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहर निमित्तमित्यात्मवानविषयसौख्यपराङ्मुखोभूत्[37]

तृष्णारूप अग्निज्वालाए स्वभाव से ही सन्तापित करती है। इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय विषयो की सम्पत्ति से नही होती। वह उल्टी बुद्धि होती है कयोकि वस्तु स्थिति ऐसी ही है। सेवन किये हुए इन्द्रिय विषय शरीर के सन्ताप मिटाने मे मात्र निमित्त हैं। यह सब जानकर, हे, आत्मवान्, विषय सौख्य से परागमुख हुए हो।

विमावना – विना कारण के कार्योत्पत्ति को विभावना कहते हैं।[38] यथा–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ, विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनाति चित्तं दुरिताजनेभ्य॰।।[39]

हे, नाथ, पूजा वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नही है क्योकि आप वीतरागी हैं, फिर भी आपके पुण्य गुणो का स्मरण हमारे चित्त को पाप मलो से रहित करता है या पवित्र बनाता है।

व्यतिरेकालकार – उपमेय मे गुणाधिक्य का आरोप कर उपमानो मे न्यून गुण का समावेश करके कवि ने चन्दन, चन्द्रकिरण, गगाजल और मुक्ताओ की हारयष्टि की शीतलता का निषेध कर शीतलनाथ तीर्थंकर के वचनो को सिद्ध किया है। शीतलनाथ के गुणो का उत्कर्ष यहा प्रस्तुत है और गुणतत्त्व ही इस उत्कर्ष का आधार है। अत तीर्थंकर की अमृत वाणी को शीतलता का चरम साधन मानकर उपमान के साधारण धर्म से आधिक्य दिखलाया गया है।

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गागमम्भो नच हारयष्टय॰।
यथा मुनेस्तेनघ वाक्यरश्मय॰ शमाम्बुगर्भा शिशिरा विपश्चिताम्।।[40]

हे, अनघ, निरवद्य निर्दोष शीतलनाथ, जिन, आप प्रत्यक्ष ज्ञानी मुनि की प्रशम जल से आप्लावित वाक्यरश्मिया, ससार ताप के मिटाने के हेतु उतनी शीतल हैं जितनी न तो चन्द्र किरणे शीतल हैं न चन्दन ही। न गगा जल शीतल है और न मुक्तामणियों की हारयष्टि ही। आशय यह है कि शीतल जिन की अमृत वाणी ससार के समस्त तापो का शमन करने वाले भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अधिक शीतल एव सुखद है।

अधिकालकार

कवि समन्तभद्र ने अपने आराध्य के गुणाधिक्य का निरूपण करते हुए अधिकालकार की घोषणा की है। इस अलकार के कई उदाहरण शीतलनाथ, सुपार्श्वनाथ एव पुष्पदन्त की स्तुति मे प्राप्त होते है। कवि ने बताया है कि कितने ही तपस्वी जन सन्तान, धन एव लोकोत्तर वैभव की कामना करते हैं, पर आप समभावी हैं। अत जन्म जरा आदि को दूर करने की इच्छा से अपनी समस्त प्रवृत्तियो का दमन करते हैं। यहा कवि ने आराध्य मे अन्य तपस्वियो की अपेक्षा गुणाधिक्य का नियोजन किया है। कुछ तपस्वी सासारिक सुखो की इच्छा करते है । वे दिनरात श्रम कर क्षणभगुर भौतिक वस्तुओ का चयन करते हैं पर शीतलनाथ तीर्थंकर दिनरात वीतरागता की प्राप्ति मे सजग है।[41]

अधिकालकार का प्रयोग केवल गुणाधिक्य के वर्णन द्वारा ही नही किया जाता है और जहा काव्य चमत्कार का अभाव रहता है वहा गुणाधिक्य का वर्णन करने मात्र से अलकार की स्थिति उत्पन्न नही होती। कवि समन्तभद्र ने अपने अधिकालकार के प्रयोग मे शब्द लालित्य और कल्पना द्वारा चमत्कार का पूर्णतया पालन किया है। यथा –

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजा ।
त्वमार्य नक्तदिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ।।[42]
अपत्य वित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विन केचन कर्म कुर्वते।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयी प्रवृत्ति समधीरवारुणत् ।।[43]

कितने ही तपस्वी जन, सन्तान, धन तथा उत्तम लोक की तृष्णा के वशीभूत हुए कर्म करते हैं। आप समभावी है। आपने अपने पुनर्जन्म और जरा को दूर करने की इच्छा से मन, वचन काय तीनो की प्रवृत्ति को रोका है।

उदाहरणालंकार – उदाहरणालकार के सयोजन द्वारा कवि समन्तभद्र ने अपने आराध्य के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। इस अलकार के कई पद्य स्वयम्भूस्तोत्रम् मे हैं। कवि की यह विशेषता है कि वह आराध्य के

जीवनवृत्त को सकेत रूप मे उपस्थित कर देता है, जिससे वातावरण मूर्तिमान हो जाता है।

कवि पार्श्वनाथ स्तवन मे जिन गुणो का स्तवन करता है उनमे उपसर्ग जीतने का दृश्य भी आया है। कवि कहता है कि धरणेन्द्र ने उपसर्ग से रक्षा करने के लिए विद्युत रग समान पीतवर्ण के अपने बडे फणो को मण्डलाकार रूप मे वेष्टित कर दिया । उस समय का वह दृश्य ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कृष्ण सन्ध्या के समय विद्युत सहित मेघ पर्वत को वेष्टित कर रहे हो। यहा उत्प्रेक्षा की सम्भावना नही है कयोकि कवि ने धरणेन्द्र के मण्डलाकार फणो को, विद्युत सहित मेघ और पार्श्वनाथ के नीलवपु की काली सन्ध्या से युक्त पर्वत का उदाहरण प्रस्तुत कर जीवन घटनाओ की चमत्कारपूर्ण *आवृत्ति की है। यथा –*

बृहत्फणामंडलमडपेन यं स्फुरत्तडित्पिंगरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधर विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा।।[44]

उदाहरणालकार की योजना शीतलनाथ के स्तवन मे भी आयी है कवि ने बताया है कि विष वैद्य, विष से मूर्च्छित स्वविग्रह को मन्त्रोचारण और मन्त्रस्तवन से विष रहित कर देता हैउसी प्रकार शीतलनाथ तीर्थंकर ने विषय तृष्णा मोह अज्ञान से मूर्च्छित आत्मा को अपनी आत्मानुभूति द्वारा जाग्रत कर लिया है। यहा विषवैद्य के उदाहरण द्वारा शीतलनाथ की सजगता का निरूपण किया है। यथा

सुखाभिलाशानलदाहमूर्च्छितंममनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभि·।
व्यदिध्यपस्त्व विषदाहमोहितंमयथाभिषग्मन्त्रगुणै· स्वविग्रहम्।।[45]

अतिशयोक्ति – कवि आराध्य के गुण वैभव का अनेक दृष्टियो से वर्णन करता है। वह उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उदाहरण आदि अलकारो के सयोजन द्वारा अपने आराध्य का मूर्तिमान रूप उपथित करना चाहता है। उसकी दृष्टि मे आराध्य के असाधारण गुण हैं। वह अपनी साधारण कल्पनाओ द्वारा उन गुणो को मूर्तिमान नहीं कर पाता। असाधारण सौन्दर्य की *अभिव्यजना न तो अरविन्द द्वारा* सम्भव है, न सुधाकर द्वारा और न

रतिपति पुष्पधन्वा के द्वारा ही। आराध्य के सौन्दर्य का वर्णन करके सभी तृप्ति का अनुभव करते हैं। पर यह तृप्ति, अतृप्ति के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। जब कवि की अपनी कल्पनाए अक्षम प्रतीत होने लगती हैं तो वह अतिशयोक्ति अलकार पर उतर आता है और उसी के द्वारा आराध्य की महनीयता प्रकट करने लगता है।

कवि समन्तभद्र अपने आराध्य से निवेदन करता है कि आपके अलौकिक दिव्य सौन्दर्य को दो नेत्रो के द्वारा देखने पर भी जब इन्द्र को तृप्ति नही हुई और वह असमजस मे पड गया तो उसने अपनी हार्दिक अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए अपने सहस्र नेत्र बनाए और आपके लावण्य का पान कर आश्चर्य चकित हुआ। वस्तुत कवि ने यहा विक्रिया द्वारा इन्द्र ने सहस्र नेत्रो की रचना की। यह लोकातिशायिनी उक्ति की योजना कर अतिशयोक्ति अलकार प्रस्तुत किया है।

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्वयक्षः भाक· सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मय ।।[46]

वस्तुत कविता का विषय हृदय की अनुभूति है। अनुभूति की अवस्था मे समस्त स्नायुमण्डल तदनुकूल रूप धारण कर लेता है और कवि भाषा मे अपूर्व प्रवाह और लालित्य उत्पन्न कर देता है। अनुभूति के क्षणो मे हृदय की प्रधानत दो अवस्थाये होती हैं –

1 उल्लास और 2 विह्वलता। कवि जब उल्लसित होता है तब वह गाता है। यही कारण है कि स्तवन मुक्तको मे कवि की तन्मयता चरम सीमा पर पहुच जाती है एव मुक्तक गुलदस्ते के समान सौन्दर्य और गन्ध को विकीर्ण करने लग जाते हैं। कवि समन्तभद्र के मुक्तको मे हृदय को विह्वल बनाने की पूर्ण क्षमता है।

यमक

अर्थालकारो के साथ कवि समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र मे शब्दालकारो का भी चमत्कार पूर्ण प्रयोग किया है। यथा –

तव जिन भासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभव ।
दोशकषासनविभव स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभव·।।[47]

हे, वीर, जिन, आपका शासन माहात्म्य कलिकाल मे भी जय को प्राप्त है। उसके प्रभाव से गुणो मे अनुशासन प्राप्त शिष्य जनो का भव विनष्ट हुआ है। इतना ही नही किन्तु जो दोष रूप चाबुको का निराकरण करने मे समर्थ है और अपने ज्ञानादि तेज से जिन्होने आसन विभवो को अर्थात् लोक के प्रसिद्ध नायको को निस्तेज किया है वे भी आपके इस शासन माहात्म्य की स्तुति करते हैं।

इस पद्य मे विभव शब्द एव अनुशासन, शासन, कृशासन, कृशा सन् आदि शब्दो से यमकालकार की छटा द्रष्टव्य है।

अनुप्रास – प्रस्तुत स्तोत्र के स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले आदि पद्य से अन्त तक सर्वत्र अनुप्रास अलकार की छटा दर्शनीय है। यथा – **सरस्वतीमेव समग्रशोमां सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलिता विमुक्त ।**[46] आदि पद्य मे कवि ने स,स,स,श और त,त आदि की आवृत्ति द्वारा अपूर्व माधुर्य उत्पन्न किया है। अर्थ मे माधुर्य तो है ही, अनुप्रास की छटा ने सगीत माधुर्य भी उत्पन्न कर दिया है।

इस प्रकार स्वयम्भूस्तोत्रम् मे आचार्य समन्तभद्र की अलकार योजना श्रेष्ठ है।

स्वयम्भूस्तोत्रम् की रस योजना

सहृदयो की चित्तवृत्तियो मे अनन्त रूप से परिव्याप्त रहने वाले सस्कारो को ही भाव कहा जाता है। मानवीय सस्कार ही अनुकूल परिस्थितियो मे प्रबुद्ध हो रस अथवा आनन्द के रूप मे अभिव्यक्त होते है। रस रूप मे परिणत अथवा पर्यवसित होने वाले भावो के उद्दीपक हेतु परक मनोविकारो को विभाव कहते है। ये आलम्वन और उद्दीपन दो रूपो मे विभक्त है। आलम्वन विभाव स्थायी भाव को अकुरित और उद्दीपन से पल्लवित करता है। जो अन्तस्थ भावो का शारीरिक चेष्टाओ आदि के द्वारा अनुभव कराते हैं

तथा रत्यादि स्थायी भावो का अनुगमन करते हैं, वे अनुभाव हैं। इस प्रकार आलम्वन विभाव से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त,व्यभिचारी भावो

से परिपुष्ट तथा अनुभवो द्वारा व्यक्त हृदय का स्थायी भाव ही रस कहलाता है।[49]

काव्य सरस मार्मिक अनुभूतियो की रसात्मक अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण काव्यात्मक उपकरणो से विभूषित होने पर भी यदि काव्य रस गर्भ निर्भर नहीं है तो उस काव्य का काव्यत्व सहृदयो को प्रभावित नहीं कर सकता। रस और सुन्दर भाव सवेगो का अन्योन्य सम्बन्ध है। अतएव काव्य मे रस का होना अपरिहार्य है। रस से अभिव्यक्त काव्य अपूर्वता, चारुता और उत्तरोत्तर नवीनता को प्राप्त करता है। समस्तश्रेष्ठ कवियों ने अपने काव्य को कलात्मक, कल्पना और भावप्रवण बनाने के लिए नवरसो का समाहार किया है। इस समवाय से काव्य मे भावभगिमा तथा आस्वादन मे अपूर्वता का सचार होता है। समन्तभद्र का स्वयम्भूस्तोत्रम् एक सरस काव्य ग्रन्थ है। भक्त भगवान की भक्ति मे लीन होकर ही अपने हृदय के भावो की अभिव्यक्ति प्रदान कर पाता है। समन्तभद्र ने चौवीस तीर्थंकरो की भक्ति मे लीन होकर, आनन्द विभोर होकर स्तोत्र काव्य की रचना की है। सरस एव भावपूर्ण रचना होने के कारण ही उक्त स्तोत्र समस्त सहृदयो का प्रिय बना हुआ है। इस स्तोत्र का अगीरस शान्त है परन्तु कहीं कहीं अग रूप मे अन्य रस भी हैं।

स्वयम्भूस्तोत्र की काव्य योजना

मानव की रागात्मक वृत्तियो की अभिव्यजना का सबसे अधिक प्राचीन वरिष्ठ एव व्यापक रगमच काव्य है। काव्य अपनी विशद एव पूर्ण अभिव्यजना के लिए अथवा अपनी अभिव्यक्ति को दूसरे हृदय मे प्रतिष्ठापित करने के लिए जिन अनेक चित्र सगीतमय इगितायासो का आश्रय ग्रहण किया जाता है उनमे नाद सौन्दर्य की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण छन्द हैं।[50] छन्द वास्तव मे बधी हुई लय के भिन्न भिर्न्न ढाचो (पैटर्न्स) का योग है, जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय– स्वर के चढाव उतार स्वर के छोटे छोटे ढाचे ही हैं, जो किसी छन्द के चरण के भीतर व्यस्त रहते हैं।[51] मात्रा, वर्ण, रचना, विराम और यति सम्बन्धी नियम जिस काव्य रचना मे पाये

जाये वह वाक्य रचना छन्द है। **छन्दयति आह्लादयति असून्** अर्थात् जिससे हृदय का आह्लादन या प्रसादन हो, वही छन्द है। अतएव स्पष्ट है कि छन्द मे प्रसादिकता या उसकी अनुरजनकारिणि स्फूर्ति वर्तमान रहती है। काव्य मे प्रसाद गुण का सचार कराने वाला उपादान छन्द है।

छन्द शब्द का अर्थ बन्धन या छादन भी है, वह लय की गति और उसके अविराम स्वर प्रवाह को समय की सुनिश्चित इकाईयो मे बाधकर भावो को अधिक प्रेषणीय बनाता है। अत छन्द बन्धन लयात्मक सुन्दरता की रक्षा के हेतु स्वीकार किया गया है।

छन्दशास्त्र से सम्बन्धित उपर्युक्त सभी विशेषताए समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र मे पायी जाती हैं। उन्होने प्रस्तुत स्तोत्र मे निम्नलिखित छन्दो का प्रयोग किया है –

क्रम	स्तवन नाम	श्लोकसंख्या	छन्दनाम
1	आदिनाथ	1–5	वशस्थ
2	अजितनाथ	6–10	उपजाति
3	सम्भवनाथ	11, 14	इन्द्रवज्रा
12	उपेन्द्रवज्रा	13, 15	उपजाति
4	अभिनन्दननाथ	16–20	वशस्थ
5	सुमतिनाथ	21–24	उपजाति
		25	उपेन्द्रवज्रा
6	पद्मप्रभ	26–30	उपजाति
7	सुपार्श्वनाथ	31–35	उपजाति
8	चन्द्रप्रभ	36–40	उपजाति
9	पुष्पदन्त	41–45	उपजाति
10	शीतलनाथ	46–50	वशस्थ
11	श्रेयासनाथ	51,54,55	उपजाति
		52,53	उपेन्द्रवज्रा

क्रम	स्तवन नाम	श्लोकसख्या	छन्दनाम
12	वासुपूज्य	56,58,59	उपजाति
		57	उपेन्द्रवज्रा
		60	इन्द्रवज्रा
13	विमलनाथ	61–65	वशस्थ
14	अनन्तनाथ	66–70	वशस्थ
15	धर्मनाथ	71–75	रथोद्धता
16	शान्तिनाथ	76–80	उपजाति
17	कुन्थुनाथ	81–85	वसन्त तिलका
18	अरनाथ	86–103	पथ्यावक्त्र
		104,105	सुभद्रिकामालती मिश्रयमक
19	मल्लिनाथ	106–110	वनवासिका छन्द
20	मुनिसुव्रतनाथ	111–115	वैतालीय छन्द
21	नमिनाथ	116–120	शिखरिणी
22	नेमिनाथ	121–130	उद्गता
23	पार्श्वनाथ	131–135	वशस्थ
24	महावीर जिन	136–143	स्कन्धछन्द,आर्यागीति

स्तोत्र होने के कारण समन्तभद्र ने गेय तत्त्व एव सगीत उत्पन्न करने के लिए विविध छन्दो का व्यवहार किया है।

शब्दशक्तियां एवं गुण

शब्दशक्ति की अपेक्षा यदि विचार किया जावे तो स्तोत्र मे अभिधा शक्ति का ही बाहुल्य है एव गुण माधुर्य है।

स्तुतिविद्या में अलंकार

स्वयम्भूस्तोत्र की तरह स्तुतिविद्या भी समन्तभद्र का अलकारिक ग्रन्थ है। इसमे आचार्य ने चित्रालकार के माध्यम से चतुर्विंशति तीर्थंकरो की स्तुति की है। यद्यपि स्तुतिविद्या चित्रालकार प्रधान स्तुतिपरक काव्य ग्रन्थ है, फिर भी इसमे शब्दालकार तथा अर्थालकार स्पष्टत दिखाई देते हैं।

भावो को सजाने व उन्हे रमणीय बनाने के लिए अलकारों का प्रयोग आवश्यक होता है। प्रत्येक कवि भावो मे सजीवता और प्रभविष्णुता लाने के लिए अलकारो का नियोजन करता है। समन्तभद्र ने भी श्लेष, यमक उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के साथ साथ चित्रालकारो के नियोजन में सर्वाधिक कौशल दिखाया है। चित्रकाव्य मे शब्दो की रम्य कीडा रहने पर भी सवेदनाओ की मार्मिक अभिव्यजना सम्भव है अत स्तुतिविद्या मे काव्य सौन्दर्य के हेतु, चित्रो की सुन्दर योजना की है। इस ग्रन्थ मे लगभग अट्ठाईस चित्र उपलब्ध होते हैं। उनमे मुरजबन्ध, अर्थकम गतप्रत्यागतार्थ, चकबन्ध, अन्तरपाद मुरजबन्ध, एकाक्षरान्तरित मुरजबन्ध, अनुलोम प्रतिलोमेकबन्ध, सर्वतोभद्र, गतप्रत्यानतपादबन्ध, अनुलोम प्रतिलोम श्लोक युगलबन्ध, इष्टपाद वलयबन्ध, नामगर्भ चकबन्ध, महायमकबन्ध आदि प्रधान हैं।

एकाक्षरशाब्दी कीडा

यहा उदाहरणार्थ एकाक्षर द्वारा गुम्फित पद्य प्रस्तुत कर समन्तभद्र की शाब्दी कीडा का चमत्कार उपस्थित है –

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतोतितोतृत ।
ततोतातिततोतोते ततता ते ततोतत: ।।[52]

हे, भगवन्, आपने ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञानादि विशेष गुणो को प्राप्त किया है तथा आप परिग्रह रहित स्वतन्त्र हैं। अत आप पूज्य और मान्य हैं। आपने ज्ञानावरणादि कर्मो के विस्तृत अनादिकालिक सम्बन्ध को नष्ट कर दिया है। अत आपकी विशालता प्रभुता स्पष्ट है। आप तीनो लोको के स्वामी हैं।

उपर्युक्त पद्य का प्रणयन केवल तकाराक्षर द्वारा किया गया है। छन्दशास्त्र के अनुसार 'त' वर्ण को अशुभ माना जाता है, पर जब इस वर्ण का प्रयोग देवस्तुति या मगलत्व मे किया जाता है तो उसका अशुभत्व दूर हो जाता है।[53] ऐसा प्रतीत होता है कि कवि समन्तभद्र उक्त सिद्धान्त से परिचित थे। उनका यह त' वर्ण श्रुतिमधुर न होने पर भी कोमला वृत्ति की

सर्जना करता है। काव्यशास्त्र की शिक्षा के अनुसार कवि किसी भी पद्य के आरम्भ मे श्रुत्यनुप्रास हेतु 'त' वर्ण का प्रयोग उसी समय करता है, जब उसे अपने आराध्य या उपास्य मे विशेष गुणो का विवेचन करना अभिप्रेत होता है।[54] अत उक्त पद्य मे काव्यशास्त्र के नियमो का प्रयोगात्मक व्यवहार पाया जाता है।

साहित्यशास्त्र मे य, न, म, ये वर्ण मधुर माने गये हैं साथ ही इनमे शुभत्व की भी योजना की गयी है। जहा कवि को विशेष अभिप्राय से कुछ कहना अभीष्ट होता है, वहा वह उक्त तीन वर्णों द्वारा पद्य का गुम्फन करता है इस गुम्फन से मधुरा और कोमला वृत्तियो का नियोजन होता है, पर जब कवि को आराध्य या नायक मे ओज का भी समावेश करना पडता है तब वह अन्तिम पद मे त' वर्ण की योजना कर काव्य प्रणयन करता है।[55] कवि समन्तभद्र ने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के स्तवन मे य, न, म और त चार वर्णों की रचना कर एक साथ सौन्दर्य, माधुर्य तेज एव ओज का समावेश किया है। जहा तक प्राचीन और अर्वाचीन आलोचना का प्रश्न है, वहा तक यह माना जा सकता है कि समन्तभद्र ने कवि रूप का बडी कुशलता से निर्वाह किया है। उनका उक्त पद्य मे वर्णित उपास्य सुन्दर है, सुखद है, तेजस्वी है और है कर्मबन्धनो को तोडने वाला वीर। इसी कारण कवि ने उक्त चारो व्यजन वर्णों द्वारा चित्र की योजना की है। यथा –

येयायायायेयाय नानानूनाननानन।
ममाममाममामामि ताततीतिततीतित ।।[56]

हे, भगवन्, आपका मोक्षमार्ग उन्हीं जीवों को प्राप्त हो सकता जो पुण्यबन्ध के सम्मुख है अथवा जिन्होने पुण्यबन्ध प्राप्त कर लिया है। आप सुन्दर हैं, समवसरण मे आपके चारो ओर दिव्यमुख प्रतिभासित होते हें तो भी आप सासारिक बडी बडी व्याधियो को नष्ट कर देते है। हे प्रभो अन्तरग और बहिरग से सुन्दर दिखने वाले स्वामिन मेरे भी जन्म मरण के रोग को नष्ट कर दीजिए।

चन्द्रप्रभ और शीतल जिन की स्तुति करते हुए मुरजबन्धो की योजना मे व्यतिरेक और श्लेष अलकार की दिव्यआभा का मिश्रण उपलब्ध होता है।कवि चित्र रचना मे जितना प्रवीण है, श्लेष द्वारा उभय तीर्थंकरो के गुणो के वर्णन मे भीउतना ही सजग एव कुशल है। मुरजबन्ध का ऐसा अर्थपूर्ण उदाहरण क्वचित् कदाचित् ही उपलब्ध होगा। यथा –

प्रकाशयन खमुद्भूतस्त्वमुद्घांककलालय ।
विकाशयन् समुद्भूत कुमुद कमलाप्रियः।।[57]

हे, प्रभो, आप इन्द्र रूप हैं कयोकि जिस प्रकार चन्द्रमा उदित होते ही आकाश को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आप भी समस्त लोकाकाश और अलोकाश को प्रकाशित करते है। चन्द्रमा जिस प्रकार मृग लाछन से युक्त हैं, उसी प्रकार आप भी मनोहर अर्द्धचन्द्र से युक्त है। चन्द्रमा जिस प्रकार षोडश कलाओ का आलय स्थान है उसी प्रकार आप भी केवलज्ञान आदि अनेक कलाओ के आस्पद है। चन्द्रमा जिस प्रकार कुमुदो को विकसित करता हुआ उदित होता है उसी प्रकार आप भी पृथ्वी के समस्त प्राणियो को आनन्दित करते हैं चन्द्रमा जैसे कमलाप्रिय–कमलशत्रु होता है वैसे आप भी कमलप्रिय केवलज्ञानादि लक्ष्मी के प्रिय हैं।

श्लेष के समान की उपर्युक्त पद्य मे व्यतिरेक अलकार भी है। इस अलकार के प्रकाश मे उपमान चन्द्रमा की अप्रेक्षा उपमेय चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के गुणो का उत्कर्ष दिखलाया गया है। तीर्थंकर चन्द्रप्रभ चन्द्रमा की अपेक्षा अघिक गुणवान् और महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार उक्त मुरजबन्ध मे वर्णजन्य सगीतात्मकता के साथ अर्थवत्ता भी समाहित है। यह पद्य शब्द के अर्थ को विचित्र ध्वनि तरग द्वारा विस्तृत करता है। आराध्य के गुणानुवर्णन मे अस्फुट भावावलि को भाषा के उक्त चमत्कार द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास निहित है। यहा रस सत्ता के भीतर जो स्पन्दनमयी अभिव्यजना पायी जाती है वह भावो को होम्योपैथिक औषधि के समान उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अनिर्वचनीय शक्तिशाली बनाती है। वर्णों मे झकृति ही प्रत्युत स्पदन है, जा हृदय की और हृदयस्थित सुकुमार भावनाओ को उद्वेलि‹, करता है।

श्रेयोजिन की स्तुति मे अर्धभ्रम चित्र का प्रयोग विहित है। इसमे ओष्ठ स्थानीय वर्णो का अभाव है और चतुर्थपाद के समस्त वर्णो को अन्त के तीन पदो मे समाविष्ट कर दिया गया है। साहित्य शिक्षा की दृष्टि से इस प्रकार के पद्यो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि ने ओष्ठ स्थानीय वर्णो का अभाव निम्नलिखित चार कारणो से प्रभावित होकर किया है –

1 ओष्ठ वर्णो की गणना अशुभाक्षरो से की गयी है। अत उसका वर्जन मुक्तक काव्य मे अत्यावश्यक है।

2 कोमला, मधुरा और परुषा इन तीनो वृत्तियो मे ओष्ठ्य वर्ण अनावश्यक है। मुक्तक काव्य का रचयिता जिन अमूर्त भावो को मूर्त रूप देकर प्रवाह उत्पन्न करना चाहता है, ओष्ठ्य वर्ण उस प्रवाह मे व्यवधायक है।

3 'म' जैसे ओष्ठ्य वर्णो की गणना दग्धाक्षरो मे है। मुक्तक काव्य मे घटना या कथ्य का आधार न रहने से ओष्ठ्य वर्णो का प्रयोग श्लाघ्य नही है। काव्य की भाषा सगीत और चित्र धर्म को उत्पन्न करती है। मुक्तक के गुणो मे सगीत तत्त्व प्रधान है। ओष्ठ्य वर्ण सगीत के सर्जन मे बाधक हैं। अतएव मुक्तक काव्य का रचयिता ओष्ठ्य वर्णो का त्याग करता है।

4 भावों के सक्रमण मे भी ओष्ठ्य वर्ण बाधक हैं। कवि की काव्यानुभूति स्वानुरूप वर्ण, स्वानुरूप चित्र और स्वानुरूप झकार लेकर ही आत्माभिव्यक्ति करती है। जब कोई विशेष वर्णावलि भावो के सक्रमण मे अवरोधक होती है तो कवि उन अवरोधक धर्मो का तिरस्कार कर भाव सक्रमण करने वाले वर्णो का ही सयोजन करता है। यही कारण है कि कवि समन्तभद्र ने श्रेयो जिन की स्तुति मे ओष्ठ्य स्थानीय वर्णो का त्याग किया है।[58]

हरतीज्याहिता तान्तिं रक्षार्थायस्य नेदिता।
तीर्थादे श्रेयसे नेताज्यायः श्रेयस्ययस्य हि।।[59]

कवि ने कुछ ऐसे पद्यो का भी प्रणयन किया है, जिनको विपरीत क्रम से पढने पर भिन्नार्थक अन्य श्लोक भी बन जाते है। स्वय समन्तभद्र ने ऐसे

अनुलोम प्रतिलोम क्रम से पढे जाने वाले पद्यो का प्रयोग किया है। यथा –

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारूरुचानुत.।
मो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय।।[60]

प्रतिलोम क्रम से पढने पर उक्त पद्य का रूपान्तर निम्न प्रकार है –

यमराज विनम्रेन रुजोनाशन मो विभो।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर।। – स्तुतिविद्या, 87

शाब्दी के साथ नादानुकृति का भी समन्तभद्र ने पूर्ण ध्यान रखा है। ऐसा एक भी पद्य नही है, जिसमे नादानुकृति का अभाव हो, विधायक कल्पना द्वारा आराध्य की शरीराकृति के साथ उनके आन्तरिक गुणो का विवेचन भी किया गया है। कवि ने अपनी स्तुतिविद्या मे अमूर्त कहे जाने वाले भावो की यमक और श्लेष द्वारा मूर्त रूप में अभिव्यजना की है।

वस्तुत कवि समन्तभद्र भाषा, शब्द और नादानुकृति के ही कवि नहीं हैं, उन्होने अपने मुक्तको मे उस अर्थ और चित्र सम्पत्ति की भी अभिव्यजना की है, जिसे प्राप्त करके कविता सौन्दर्य को प्राप्त करती है। इस प्रेरणा की अभिव्यक्ति के लिए समन्तभद्र ने चित्रो और श्लेषो का सयोजन किया है । कवि का विश्वास है कि चित्रो के सतत अभ्यास से चित्त चाचल्य अविरूद्ध हो जाता है और रसानुभूति आत्मानुभूति के रूप मे परिणत होने लगती है।

कवि ने अभिनन्दन तीर्थंकर की स्तुति मे भावो की अभिव्यजना करते हुए लिखा है –

नन्दनं त्वाप्यनष्टो न नष्टोनत्वाभिनन्दन।
नन्दनस्वर नत्वेन नत्वेन स्यान्न नन्दनः।।[61]

हे, मधुर भाषिन् अभिनन्दन प्रभो, आपकी उज्ज्वल भक्ति का अवलम्बन लेकर कोई भी भक्त अपने दुष्कर्मों का क्षय कर उच्च अवस्था को प्राप्त करता है। वह आत्मा से परमात्मा बन जाता है। जिस प्रकार लोहा पारस

मणि के स्पर्श से स्वर्ण बनता है, उसी प्रकार हे प्रभो, आपके भक्ति प्रसाद से आराधक कर्मों का विनाश कर मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त स्तुतिविद्या मे कवि ने अर्थालकार के अन्तर्गत व्यतिरेक, उपमा, विरोधाभास, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अनन्वय, परिसख्या, काव्यलिग आदि अलकारो के द्वारा काव्य सौन्दर्य उत्पन्न किया है।

उपमालंकार – पुष्पदन्त जिन की स्तुति करते हुए कवि कहता है कि

शोकक्षयकृदव्याधे पुष्पदन्त स्ववत्पते।
लोकत्रयमिद बोधे गोपद तव वर्तते।।[62]

अर्थात् हे, शोक का क्षय करने वाले हे, व्याधियो से रहित, हे, आत्मज्ञानियो मे श्रेष्ठ, पुष्पदन्त भगवान आपके विश्व प्रकाशी केवलज्ञान मे तीनो लोक गोष्पद के कीचड मे चिह्नित हुए गाय के खुर के समान जान पडते हैं।

इसी प्रकार कुन्थु जिन की स्तुति मे श्लोक क्रमाक 84 एव महावीर जिन की स्तुति करते समय श्लोक क्रमाक 105 मे उपमा की छठा द्रष्टव्य है।

विरोधाभास

शाब्दी क्रीडा के चतुर खिलाडी समन्तभद्र की विरोधाभास योजना द्रष्टव्य है –

एतच्चित्र पुरोधीर स्नपितो मन्दरे शरै ।
जातमात्र. स्थिरोदार क्वापि त्वममरेश्वरै ।।[63]

हे, शीतल नाथ जिन यह आश्चर्य की बात है कि आप पृथ्वी के पृथ्वीगत प्राणियो के पक्ष – ज्ञानावरणादि कर्मों के घातक होकर भी पालक है। रक्षक है और शी[illegible] गुण युक्त विशिष्ट दण्ड पक्ष मे शीतलनाथ दशम [illegible] पक्ष म [illegible] करन [illegible] ह।

यह श्लेष मूलक विरोधाभास है। श्लोक कमाक 49 धर्मनाथ स्तुति मे श्लोक कमाक 63, 68 82 115 मे भी विरोधाभास की योजना है।

रूपक

काममेत्य जगत्सारं जना· स्नात महोनिधिम्।
विमलात्यन्तगम्भीर जिनामृतमहोदधिम्।।[64]

कवि ने जिनेन्द्र देव एव क्षीरोदघि मे अभेद प्रदर्शित कर रूपक की योजना की है – हे, भव्य जीवो, तुम उस जिनेन्द्र रूपी क्षीर सागर को प्राप्त कर यथेष्ट स्नान करो– कर्ममल धोकर अपने आपको पवित्र बनाओ, जो कि तीनो लोको मे श्रेष्ठ है। विमल है, कर्ममल और कर्दम आदि से रहित है। अत्यन्त – विनाश रहित, यथा गम्भीर है – धीर वीर और गहरा है।

इसी प्रकार स्तुतिविद्या के श्लोक कमाक 67, 87 तथा115 के पूर्वार्द्ध मे रूपक अलकार है।

उत्प्रेक्षा

श्रेयो जिन चरण कमलो के सौन्दर्य के सम्बन्ध मे कवि उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है –

आलोक्य चारु लावण्य पदाललातुमिवोर्जितम्।
त्रिलोकी चाखिला पुण्यं मुदा दातुं ध्रुवोदितम्।।[65]

हे, प्रभो, हर्ष पूर्वक पुण्य प्रदान करने के लिए हमेशा प्रकाशमान और विस्तृत आपके चरण कमलो के मनोहर सौन्दर्य को देखकर उनसे उसे लेने के लिए ही मानो ये तीन लोक के जीव आपको नमस्कार करते हैं। श्लोक कमाक 64, 71 मे भी उत्प्रेक्षा अलकार द्रष्टव्य है।

सन्देह

धर्मनाथ जिन के सौन्दर्य का सन्देहालकार मे चित्रण करता हुआ कवि कहता है –

कुत एतो नु सन्वर्णो मेरोस्तेपि च संगते·।
उत कीतोथ संकीर्णो गुरोरपि तु समते ।।[66]

हे, भगवन्, हम लोगो को अबतक सन्देह था कि मेरु पर्वत का ऐसा सुन्दर रूप कहा से आया, क्या आपकी सगति से अथवा आपका जन्माभिषेक होने से या मूल्य देकर खरीदा गया, किसी सुन्दर वस्तु को उसमे मिला दिया, परन्तु अब हमे निश्चय हो गया कि मेरु का वह सुन्दर रूप आपकी सगति आज्ञा से हो गया है।

अनन्वयालंकार

कवि शान्तिनाथ तीर्थंकर से स्व समान बनाने के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है –

स्वसमान समानद्या भासमान स मानघ।
ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम्।।[67]

हे, स्व समान, हे, शोभायमान, हे निष्पाप, हे शान्तिनाथ जिन आप मुझे समृद्धि सम्पन्न ज्ञानदर्शनादिरूप आत्म सम्पत्ति से पूर्ण कीजिए। मैं आपके चरणो मे आनत हू – मेरा मानसिक उद्वेग यद्यपि नष्ट नही हुआ है तथापि नष्ट मान के समान हो रहा है। अत मुझे अपने ही समान समृद्ध कीजिए।

परिंसख्यालकार

सर्वत्र सम्भव होने वाली वस्तु का किसी एक रूप मे ही नियम कर देना परिसख्या अलकार है।[68] कवि समन्तभद्र भक्ति मे लीन होकर अपने सम्पूर्ण आगोपागो को भगवद्मय ही चाहते है –

प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नत ते पदे
जन्माद: सफलं पर भवभिदी यत्रासिते ते पदे।
मागल्य च स यो रतस्तव मते गी· सैवयात्वा स्तुते
ते ज्ञा ये प्रणता जना क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते।।[69]

हे, देवाधिदेव, बुद्धि वही है जो आपका स्मरण करे, आपका ध्यान करे। मस्तक वही है जो आपके चरणो मे नत रहे जन्म वही सफल और श्रेष्ठ है जिसमे ससार परिभ्रमण का नष्ट करने वाले आपके चरणो का आश्रय लिया गया हो। पवित्र वही है जो आपके मत मे अनुरक्त हो। वाणी वही है जो कि आपकी स्तुति करे और बुद्धिमान वे ही है, जो आपके चरणो मे नत रहे।

काव्यलिग

कवि स्वय को आराध्य के प्रति समर्पित करता हुआ कहता है,

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्र्यर्च्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरत कर्णोक्षि संप्रक्षते।
सुस्तुत्या व्यसन शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोहमेव सुकृति तेनैव तेज-पते।।[70]

हे, भगवन्, मेरी श्रद्धा केवल आपके के ही मत मे है। मैं स्मरण भी आपका ही करता हू। पूजन भी आपकी ही करता हू। मेरे हाथ केवल आपके सामने जोडने के लिए ही है। मेरे कान आपकी कथा सुनने के लिए ही है। आखे केवल आपका रूप देखती हैं। मुझे मात्र आपकी स्तुति करने का ही व्यसन है। मेरा मस्तक केवल आपको ही नमस्कार करने मे तत्पर है। अत हे, तेज पते, मैं तेजस्वी और पुण्यवान हू।

श्लेषालकार

इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण श्लोक सख्या 31 है।

व्यतिरेकालकार

इसकी छठा श्लोक क्रमाक 30, 32, 33 एव 34 मे द्रष्टव्य है।

यमकालकार

शब्दालकारो मे यमक के सभी प्रकारो पर कवि ने काव्य कौशल दिखाया है। उक्त अलकार निम्नलिखित क्रमाको के श्लोको मे दृष्टव्य हैं – 11, 12, 15, 16, 25, 28, 37, 46 47, 72 76, 77 81, 100 106 एव 107।

मुक्तक काव्यो के द्वारा चतुर्विंशति तीर्थकरो की स्तुति करने वाले समन्तभद्र ने शब्दालकार अर्थालकार के साथ चित्रालकार का अपूर्व एव अनूठा कौशल दिखाया है। चित्रो के माध्यम से आराध्य मे लीनता प्राप्त करना कवि का लक्ष्य रहा है।

चित्रालकारो मे सर्वाधिक कौशल मुरजबन्ध का दर्शनीय है। अत उसी पर विचार करेगे। अलकार चिन्तामणि के रचयिता ने मुरजबन्ध की परिभाषा करते हुए लिखा है कि –

पूर्वार्ध मूर्ध्वं पंक्तो तु लिखित्वार्द्ध पर त्वत ।
एकान्तरितमूर्ध्वाधो मुरज निगदेत्कवि ।।[71]

पहले श्लोक के पूर्वार्ध को पक्ति के आधार मे लिखना, उत्तरार्द्ध को भी पक्ति आकार मे उसके नीचे लिखना। इस अलकार मे प्रथम पक्ति के प्रथम अक्षर को द्वितीय पक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ और द्वितीय पक्ति के प्रथम अक्षर को प्रथम पक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ मिलाकर पढना चाहिए यही कम श्लोक के अन्तिम अक्षर तक जारी रखना चाहिए। स्तुतिविद्या मे मुरजबन्ध की योजना निम्नलिखित कमाक के श्लोको मे द्रष्टव्य है – 2, 6, 7, 8, 29, 30, 31, 32, 33, 34, 35, 39, 40, 41, 42, 45, 49, 58, 59, 60,61, 62,,63, 65, 67, 68, 69, 70, 71, 73, 74, 75, 76, 77, 78, 80, 82, 89, 101,102,103,104,105 ।

अन्तरपादमुरज

यह प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद मे होता है। यह स्तुतिविद्या के 48, 64, 66 और 100 श्लोको मे देखा जा सकता है।

इष्टपादमुरज

इस अलकार मे चारो पदो का अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध जोडा जाता है। यह इष्टपादमुरज स्तुतिविद्या के श्लोक क्रमाक 50, 89, 91 मे हैं।

अर्धभ्रम

यह श्लोक सख्या 4, 18, 19, 20, 21, 27, 36, 43, 44, 56, 90, 92 मे द्रष्टव्य है।

रीति

जब हम किसी कवि के काव्य पर रीति की दृष्टि से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि कवि अपने काव्य मे अपने व्यक्तित्व के अनुसार रीति का

अनुसरण करता है अर्थात् रीति का प्रयोग कवि के व्यक्तित्त्व पर अवलम्बित होता है। कवि समन्तभद्र ने कहीं कहीं समास बहुल भाषा का प्रयोग कर माधुर्यपूर्ण वर्णों के द्वारा रचना मे लालित्य का समावेश किया है।

काव्यशास्त्रीय विवेचको मे सर्वप्रथम भरत हैं जिन्होने श्लेष, प्रसाद आदि काव्यगुण स्वीकार किये परन्तु छठवीं शताब्दी के दण्डी ने उन्हे वैदर्भ मार्ग का गुण माना है।[72] समन्तभद्र दण्डी से पूर्व के एव भरत के बाद के हैं क्योकि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वालो ने भरत का समय विकम पूर्व 500 शताब्दी से लेकर प्रथम शताब्दी के मध्य माना है।[73] समन्तभद्र का समय विकम की द्वितीय शताब्दी तक माना गया है। अत यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र के सामने भरत का नाट्यशास्त्र रहा हो। यहा हम अधिक साहित्यशास्त्रीय विवेचन मे न पडकर यह विचार करेगे कि समन्तभद्रने अपने स्तोत्रो मे भाषा के जिस मार्ग को अपनाया है या आधुनिक आलोचको की दृष्टि से किस किस रीति मे रचना की है। स्वयम्भूस्तोत्र तथा स्तुतिविद्या मे कवि समन्तभद्र ने भक्ति रस मे अवगाहन करते हुए ललित पदावली मे माधुर्यपूर्ण रचना की है। अत इनके ग्रन्थो मे वैदर्भी रीति को ही स्थान प्राप्त है परन्तु स्तुतिविद्या की रचना एक व्यजन वर्णों मे की गयी है।इस दृष्टि से गौडीरीति प्रधान है। समन्तभद्र ने अपनी भस्मक व्याधि के शमनार्थ भारत भ्रमण किया था। अत देश मे प्रचलित भक्ति मार्ग मे सभी रीतियो को अपनाया है।

गुण

काव्य गुणो की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र ने वीतराग भक्ति निर्वेद भाव प्राप्त करने के लिए की है। अत शान्तरस पूर्ण है। शान्तरस पूर्ण रचना का मुख्य गुण माधुर्य होता है। इसलिए समन्तभद्र के स्तोत्रो मे माधुर्य गुण की प्रधानता है।

छन्द

स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतक मे कवि समन्तभद्र ने अनुष्टुप प्रभाषिका छन्द एव शार्दूलविक्रीडित छन्दो का प्रयोग किया है।

समन्तभद्र : भारवि और माघ

भारवि कृत किरातार्जुनीयम् और माघ कृत शिशुपालवधम् के अनेक पद्य समन्तभद्र कृत स्तुतिविद्या के पद्यो की तरह हैं, जिससे यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि भारवि और माघ की रचनाओ पर समन्तभद्र का प्रभाव पडा है। इस दृष्टि से समन्तभद्र साहित्य सर्जना की चित्रात्मक विधा के अप्रतिम आद्य कवि सिद्ध होते हैं। स्तुतिविद्या के कतिपय पद्यो से निम्न प्रकार किरातार्जुनीयम् और शिशुपालवधम् के पद्य मेल खाते हैं।

माघ	समन्तभद्र
एकाक्षरपाद	**एकाक्षरपाद**
दाददो दुदददुददादी दादादो दुददीददो ।	ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृत ।
दुददाद ददद दुददे ददाददददो दद ।।	ततो तातिततोतोते ततता ते ततोतत ।।
– शिशुपालवधम् 19 114	– स्तुतिविद्या 13
द्वयाक्षर	**द्वयाक्षर**
वररो विवरो वैरिविवारी वारिरारव ।	वीरावारर वारावी वररोरुरुरारव।
विववार वरो वैर वीरो रविरिववोर्वर ।।	वीरावाररवारावी वारिवारिरि वारि वा।।
– शिशुपालवधम् 19 100	– स्तुति0 85
चक्रबन्ध	**चक्रबन्ध**
सत्य मानविशिष्टमाजिरमसादालम्ब्य0	नष्टाज्ञानमलोन शासनगुरो नम्र जन पा0
इत्यादि – शिशुपालवधम 19 120	इत्यादि – स्तुति0 111
सर्वतोभद्र	**सर्वतोभद्र**
स का र ना ना र का स	पा रा वा र र वा रा पा
का य सा द द सा य का	रा व मा व मा व रा
र सा ह वा वा ह सा र	ना मा ना म म ना मा वा
ना द वा द द वा द ना	र क्ष म ई ई म क्ष र
मुरजबन्ध	**मुरजबन्ध**
सा से ना ग म ना र म	श्री म ज्जि न प दा भया श
र से ना सी द ना र ता	प्र ति प द्या न सा ज ये
ता र ना द ज ना म तत	काम स्था न प्र दा ने श
धी र ना ग म ना म या	स्तु ति वि द्या प्र साद्र ये
– शिशुपालवधम 19 29	स्तुति0 1

माघ	समन्तभद्र
प्रतिलोमानुलोमपाद	**अनुलोमप्रतिलोम**
नानाजाववजानाना सा जनोपघनोजता परा हानिराय तान्वियाततयान्विता।। — शिशुपालवधम् 19 40	नतपाल महाराज गीत्यानुत मयाक्षर। रत मामतनुत्यागी जराहा मलपातन।। — स्तुति0 57

इत्यादि ।

भारवि	समन्तभद्र
एकाक्षरपाद	
न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु नुन्नो नुन्नोननुनुन्नेनो नानेनानुन्ननुननुत। — किरातार्जुनीयम् 14	ततोतिता0 आदि — स्तुति0 13
प्रतिलोमानुलोमपाद	
वेत्रशाककुजे शैले लेशैजे कुकशास्त्रजे इत्यादि — किरा0 18	यमराज विनम्रेनरुजोनाशन भो विभो इत्यादि — स्तुति0 87

सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम, द्वयक्षर, गोमूत्रिकाबन्ध इत्यादि चित्रालकारो के अनेक श्लोक भारवि के समन्तभद्र के समान हैं ।

देवाकानिनिकावादे वाटिका स्वत्वकादि वा।
काकारेममरे काका निस्वमव्यव्यमस्वनि।। — किरातार्जुनीयम्, 25

अर्धभ्रम	
ससस्वरसिदेनित्य सदरामर्धनाशिनी। त्वराधिककसननादे रमकत्वमकर्षति।। — किरातार्जुनीयम् 27	अतम स्वनतारक्षी तमोहा वन्दनेश्वर। महाश्रीमानजो नेता स्वव मामभिनन्दन।। — स्तुति0 21
द्वयक्षर	
चारचचुश्चिरारेचि चचच्चीरस्वारुच। चचाररुचिरश्चारू चारेराचारचचुर।। — किराता0 15 38	नेतानतनुते नेनोनितान्त नाततो नुतात। नेता न तनुते नेनो नितान्त ना ततो नुतात्। — स्तुति0 52

भारवि	समन्तभद्र
गोमूत्रिकाबन्ध	
नासुरोज्य वा नानो धर सस्योन राक्षस ना सुखो य नवाभोगो धरिणत्वो हि राजस । — किराता0 15 12	स्नातस्वमलगम्भीर जिनामितगुणार्णवम् । पूतश्रीमज्जगत्सार जनायातक्षणच्छिवम — स्तुति0 2

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र की प्रतिभा प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तक काव्य रचना मे सक्षम थी। उनके स्तोत्रो मे अलकार, रस, गुण आदि का यथेष्ट समावेश है। समन्तभद्र ने सस्कृत काव्य को निम्नलिखित तत्त्व प्रदान किये हैं।

1 चित्रालकार का प्रारम्भ और उसका समुचित विचार।

2 श्लेषो और यमको द्वारा काव्य शैली का उदात्रीकरण।

3 शतक काव्य रचना का सूत्रपात।

4 स्तवनो मे बाह्य चित्रण की अपेक्षा अन्तरग चित्रण का बाहुल्य।

5 मुक्तक काव्यमे सगीत, माधुर्य प्रवाह लयादि समस्त गुणो का समन्वय।

6 काव्य मे दर्शन भावना का नियोजन।

7 नादानुकृति द्वारा भावतरगो मे प्रेषणीयता का समावेश समन्तभद्र के उक्त काव्यतत्वो का भतृहरि भारवि, माघ आदि कवियो के काव्यो मे सवर्द्धन और विकास हुआ है। समन्तभद्र दक्षिण के थे और दक्षिण मे ही चित्रश्लेष और यमक का प्रादुर्भाव होने के कारण भारवि ने उक्त तीनो रूपो का पर्याप्त प्रयोग किया है। भारवि के किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के कई पद्यो के पद समन्तभद्र के तुल्य हैं। मालावार निवासी वासुदेव कवि ने यमक और श्लेष सम्बन्धी रचनाए दक्षिण भारत मे ही निबद्ध की थीं। इन रचनाओ पर पुरातन तमिल का प्रभाव तो है ही पर समन्तभद्र का भी प्रभाव माना जा सकता है। कवि कुजर ने अपने राघव पाण्डवीय काव्य मे श्लेष और चित्रो की पर्याप्त योजना की है। कई चित्र तो समन्तभद्र के स्तुतिविद्या के समान ही हैं और नकार, मकार और यकार वर्णों से निर्मित चक्र, मुरज, भेरी, परशु आदि चित्रो की तुलना स्तुतिविद्या के पद्यो के साथ की जा सकती है।

सस्कृत काव्य के विकास मे समन्तभद्र द्वारा प्रथित काव्य विधाये अत्यन्त उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं।

सन्दर्भ

1 रसगगाधर 1 1
2 काव्यालकार, 3, 79—117
3 किराता0 15 12,,24 15,27
4 शिुपालवधम् 19 27 29,46,72 120
5 धर्मशर्माभ्युदय 19 86,78,84 84 98,99, 101 102 104
6 स्वय0 3
7 वहीं 2
8 वही 2
9 वही
10 वही 3
11 वहीं 8 2
12 वही 8 3
13 वही 16 2
14 वही
15 वही
16 वही 23 1 2
17 वहीं 1 3
18 वही 1 3
19 वही 1 3
20 वहीं 8—1
21 वही, 11
22 वही 26 35 37 51,65 70 72 76 84,88 111 129 एव 136
23 वाग्भटालकार 4 64
24 स्वय0 38
25 स्वय0 90
26 वही 16
27 वही 11 13 97 26 38,40 82 99 93,117 121 122 126
28 साहित्यदर्पण 10 40
29 स्वय0 28
30 वही 107
31 साहित्यदर्पण 10 61
32 स्वय0 19
33 वही 56
34 वहीं 50
35 साहित्यदर्पण 10 91
36 स्वय0 13
37 वहीं, 82
38 वाग्भटालकार 4 96
39 स्वय0 57
40 वही, 46
41 वही
42 वही, 48
43 वही, 49
44 वहीं, 132
45 वहीं 47
46 वहीं, 89
47 वही, 137
48 वही, 27
49 काव्यप्रकाश 4 43
50 झा, साहित्यसाधना की पृष्ठभूमि पृष्ठ 43
51 शुक्ल रामचन्द्र काव्यमे रहस्य पृष्ठ 135

52 स्तुति0 13
53 अलकार चिन्तामणि परि0 1 86
54 स्तुति0 13
55 अलकार चिन्तामणि 85
56 स्तुति0 14
57 वहीं, 31
58 अलकार चिन्तामणि, 85
59 स्तुति0 43
60 वहीं 89
61 वहीं 24
62 स्तुति0 39
63 वही 41
64 वही 42
65 वही 45
66 वही, 65
67 वही 79
68 साहित्य दर्पण 10 81
69 स्तुति0 113
70 वही, 114
71 अलकार चिन्तामणि 2 149 150
72 काव्यादर्श 40 41 42
73 काव्यप्रकाश भूमिका पष्ठ 19

❑❑❑

तृतीय अध्याय

रत्नकरण्डश्रावकाचार परिशीलन

परिच्छेद प्रथम

रत्नकरण्डश्रावकाचार का परिचय एवं विषयवस्तु

रत्नकरण्डश्रावकाचार आचार्य समन्तभद्र कृत ही है, इसमे अब कोई सन्देह नही रह गया है। दक्षिण भारत मे उपलब्ध ताडपत्रीय पाडुलिपियो एव विभिन्न आचार्यों के द्वारा रत्नकरण्डकम् के किये गये उल्लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि वह समन्तभद्र की ही कृति है। सर्वप्रथम मि० बी० लेविस राईस ने **इन्सकिप्सन ऐट श्रवणवेल्लगोल** नामक पुस्तक में रत्नकरण्डकम् को आयित वर्मा का लिखा हुआ बताया था। परन्तु बाद मे उक्त पुस्तक के द्वितीय सस्करण मे मि० राईस ने अपने मत मे परिवर्तन करके उसे समन्तभद्र कृत ही माना है।[1]

जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय नामक निबन्ध मे प्रो० हीरा लाल जी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार को समन्तभद्र की कृति मानने मे सन्देह व्यक्त किया था।[2] जिसका समाधान डॉ दरबारी लाल जी कोठिया ने तर्क और प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध किया है कि रत्नकरण्डकम् समन्तभद्र की ही कृति है।[3] प्रो हीरा लाल जी के खण्डन मे डॉ कोठिया द्वारा उपस्थित किये गये सभी तर्कों को यहा विस्तार भय से देना उचित नहीं है, फिर भी यहा उसका सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

प्रो हीरा लाल जी के शब्दो मे कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार को उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करने के लिए जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ हो गया है कि वह उन्ही ग्रन्थकार की रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होने आप्तमीमासा लिखी थी, क्योकि उसमे जो दोष का स्वरूप समझाया गया है, वह आप्तमीमासाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं

सकता। मै समझता हू रत्नकरण्डश्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशो के पश्चात् उन्हीं के समर्थन मे लिखा गया है। इस ग्रन्थ का कर्ता उस रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि का गुरु भी हो सकता है, जो आराधना के कर्ता शिवभूति या शिवार्य की रचना कदापि नही हो सकती।

1 डॉ कोठिया की दृष्टि मे उपर्युक्त मत ठीक नहीं है। रत्नमाला रत्नकरण्डक निर्माता के शिष्य की तो मालूम नही पडती, क्योकि दोनो ही कृतियो मे शताब्दियो का अन्तराल है, जिससे दोनो के कर्ताओ मे साक्षात् गुरु शिश्य सम्बन्ध अत्यन्त दुर्घट ही नही, अत्यन्त असम्भव है।[4]

2 रत्नकरण्डक मे आये दोष के भी स्वरूप[5] का भी समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थो से समर्थन होता है।[6] इसलिए रत्नकरण्डक मे आये दोष के स्वरूप को उनके अन्य ग्रन्थो से भिन्न मानना ठीक नही है। समन्तभद्र का रत्नकरण्डक से भिन्न अभिप्राय बतलाने के लिए जो यह कहा गया था कि केवली मे उन्होने सुख दु ख की वेदना स्वीकार की है, उसका भी उपर्युक्त विवेचन से समाधान हो जाता है, क्योकि समन्तभद्र ने स्पष्टत स्वयम्भूस्तोत्र कारिका 18 के द्वारा सुख दु ख, केवली मे स्वय अभाव घोषित किया है और **शर्म शाश्वतमवाप शकर** – 71 **विषयसौख्यपरागमुखोभूत्**–82 कहकर तो उनके अभाव को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।[7]

3 आप्तमीमासाकार ही रत्नकरण्डक के कर्ता हैं, यह अन्त परीक्षण द्वारा भी प्रकट होता है। उदाहरण के लिए रत्नकरण्डक के **अदृष्टेष्टविरोधकम्** इत्यादि[8] की तुलना युक्त्यनुशासन के दृष्टागमाभ्याम्[9] आप्तमीमासा के युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्य[10] एव स्वयम्भूस्तोत्र के दृष्टेष्टाविरोधत स्याद्वाद[11] से की जा सकती है। इसी तरह अन्य कई विषयो एव कारिकाओ मे भी परस्पर समानता है।[12]

4 साहित्यकारो ने समन्तभद्र के लिए 'देव' और योगीन्द्र पद प्रयोग किये हैं और इसलिए देव और योगीन्द्र पद के वाच्य पार्श्वनाथ चरित मे स्वामी समन्तभद्र विवक्षित है। वादिराज के पूर्व अन्य योगीन्द्र समन्तभद्र का साहित्य मे अस्तित्व नहीं है।

5 आचार्य प्रभाचन्द्र वादिराज के प्राय समकालीन हैं। अत जहा प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डक को स्वामी समन्तभद्र कृत बतलाया गया है और आराधना कथाकोश मे उन्होने उनका 'योगीन्द्र' पद से उल्लेख किया है। वहा उनके ही प्राय समकालीन वादिराज ने रत्नकरण्डक को 'योगीन्द्र' कृत बतलाया है। इसलिए वादिराज का भी प्रभाचन्द्र की तरह 'योगीन्द्र' पद से स्वामी समन्तभद्र ही विवक्षित है, क्योकि रत्नकरण्डक को स्वामी समन्तभद्र से भिन्न योगीन्द्र कृत बतलाने वाला वादिराज का पोषक एक भी प्रमाण नहीं है और प्रभाचन्द्र के स्वामी समन्तभद्र कृत बतलाने वाले उल्लेखो के पोषक एव समर्थक बीसियो प्रमाण हैं।

6 रत्नकरण्डक के उपान्त्य पद्य मे अकलक, विद्यानन्द और सर्वार्थसिद्धि की कल्पना अशास्त्रीय और असगत है। इसलिए उक्त कल्पना रत्नकरण्डक को विद्यानन्द के बाद की रचना सिद्ध नहीं कर सकती है। विद्यानन्द से पूर्व 7–8वीं शताब्दी के न्यायावतार मे रत्नकरण्डक का 'आप्तोपज्ञ' पद्य पाया जाता है। अत वह विद्यानन्द के बाद की रचना कदापि नही है। इस तरह रत्नकरण्डक आचार्य समन्तभद्र की ही कृति हैं।[13]

रत्नकरण्डकम् का परिमाण

रत्नकरण्डकम् श्रावक के आचार का प्रतिपादक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे रत्नकरण्डश्रावकाचार भी कहा जाता है। इसका दूसरा नाम उपासका –ध्ययन भी है। इस ग्रन्थ के समन्तभद्र कृत होने न होने के सम्बन्ध मे विद्वानो ने विस्तार से विचार विमर्श किया है। पाण्डुलिपियो के कारण ग्रन्थ के परिमाण के सम्बन्ध मे भ्रमपूर्ण स्थिति रही है। दक्षिण और उत्तर भारत की पाण्डुलिपियो की प्रतियो के अवलोकन से यह भ्रान्तिपूर्ण स्थिति समाप्त हो जाती है। रत्नकरण्डकम् पर पण्डित प्रभाचन्द की सस्कृत टीका तथा अज्ञातकर्तृक कन्नड टीका उपलब्ध है। यह कन्नड टीका ही उपर्युक्त भ्रान्ति का कारण बनी। प्रभाचन्द की टीका सक्षिप्त है तथा उसमे ग्रन्थान्तरो के पद्य या गद्य के उद्धरण नही है। कन्नड टीकाकार ने विभिन्न ग्रन्थो के

पचास पद्य अपनी टीका मे उदाहरण के रूप मे, कहीं उक्त च तथा कहीं विना इसके उद्धृत किये हैं। रत्नकरण्डकम की सस्कृत टीका की जो पाण्डुलिपिया ताडपत्रो पर कन्नड अथवा देवनागरी लिपि मे लिखी मिलती हैं, उनमे मूलग्रन्थ मे 150 श्लोक हैं और टीकाकार ने उन्हे पाच परिच्छेदो मे विभाजित किया है। कन्नड टीकायुक्त पाण्डुलिपियो या उसके आधार पर लिखी गयीं मूल ग्रन्थ की पाण्डुलिपियो मे ग्रन्थ को सात परिच्छेदो मे विभाजित किया गया है तथा मूल ग्रन्थ की पाण्डुलिपियो मे वे सभी उन्चास या पचास श्लोक शामिल कर लिए गये हैं, जो कन्नड टीका मे टीकाकार ने दिये हैं। इस प्रकार रत्नकरण्डकम् की पाण्डुलिपियो के इस परीक्षण से अधिक श्लोको की समस्या का समाधान हो जाता है। प्राचीन बौद्ध साहित्य मे नागार्जुन और मातृचेट के ग्रन्थ अध्यर्द्ध शतक के रूप मे प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नकरण्डकम् की भी अध्यर्द्ध शतक के रूप मे रचना की गयी है।[14]

रत्नकरण्डश्रावकाचार की विषयवस्तु का विश्लेषण

रत्नकरण्डश्रावकाचार मे श्रावको के लिए धर्म का प्रतिपादन किया गया है। श्रावकाचार विवेचक अन्य आचार्यों की तरह समन्तभद्र ने भी सर्व प्रथम ऐसे समीचीन धर्म के कथन करने की प्रतिज्ञा की है, जो ससारी जीवो को ससार से निकालकर उत्तम सुख रूप मोक्ष का मार्ग बताता है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ससार के मार्ग कहे गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ मे धर्म के तीनो अगो का पौराणिक कथानको के उदाहरणों और उनकी चरित्र मीमासा के साथ विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे मगलाचरण के रूप मे पापमल से रहित केवलज्ञान सहित वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके धर्म का महत्त्व एव धर्म का लक्षण बताया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, धर्म हैं। इनके प्रतिकूल असत् दर्शन, असत् ज्ञान और असत् चारित्र ससार के कारण कहे हैं। तत्पश्चात् परमार्थभूत आप्त आगम और तपस्वियो का त्रिमूढता रहित, अष्टमद रहित और अष्ट अग सहित श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा गया है। 1–4

समन्तभद्र के पूर्ववर्ती आचार्यों ने मोक्षस्वरूप या मोक्षमार्ग के रूप मे सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन आदि को ही स्वीकार किया है यथा आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त रागद्वेश रहित सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है। यह मोक्षमार्ग लब्धबुद्धि भव्यो को ही प्राप्त होता है।[15] जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व, उनका अधिगम ज्ञान और समभाव चारित्र है।[16] उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ मे सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहकर17 सम्यग्दर्शन को श्रद्धान रूप बताया है।[18]

समन्तभद्र के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने श्रावकाचारो मे मोक्षमार्ग के रूप मे या सच्चा सुख प्रदान करने वालो मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही स्वीकार किया है। जैसे आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग को यथाशक्ति निसेवित करना चाहिए[19] तथा जीव अजीव आदि तत्त्वो का विपरीत अभिनिवेश दूर कर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है[20] और आत्मा का स्वरूप हैं। सोमदेव आदि आचार्यों ने भी अपने श्रावकाचार विषयक ग्रन्थो मे रत्नत्रय का निरूपण किया है[21] तथा सम्यग्दर्शन को समन्तभद्र की ही तरह आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान रूप तीन मूढताओ से रहित एव अष्ट अग सहित होना स्वीकार किया है।[22] वसुनन्दि ने भी आप्त आगम और तत्त्वो का निर्मल श्रद्धान जो शका आदि दोषो से रहित हो, उसे सम्यक्त्व कहा है।[23]

आप्त के सम्बन्ध मे आचार्य समन्तभद्र से पूर्व किसी अन्य जैन आचार्य ने विचार नही किया है। समन्तभद्र लिखते है कि जो निर्दोष, सर्वज्ञ और आगमेशि हो उसे ही आप्त कह सकते हैं, अन्य को नही। वस्तुत आप्त पुरुष वही हो सकता है, जिसमे क्षुत्, पिपाषा, जरा, आतक, जन्म मृत्यु, भय, स्मय, रागद्वेष एव मोह नही होते। वे आप्त परमेष्ठी, परमज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त, सार्व– सर्वहितकर तथा शास्ता कहे जाते हैं। ऐसा शास्ता ही राग के विना, अपना प्रयोजन न होने पर भी जीवो के लिए कल्याण का उपदेश ठीक वैसे ही देता है, जैसे शिल्पी के कर स्पर्श से बजता हुआ मृदग किसी भी प्रकार की अपेक्षा नही करता।[24]

सोमदेव ने भी आप्त का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जो सर्वज्ञ हैं, सभी लोको का स्वामी है, सभी दोषो से रहित है एव जो सभी प्राणियो का हित करने वाला है, उसे आप्त कहते हैं।[25]

समन्तभद्र ने तो आप्तमीमासा मे विस्तृत रूप मे आप्तकी मीमासा की है। किसी भी आचार्य ने किसी भी व्यक्ति विशेष को स्वीकार नही किया है, बल्कि आप्तता के लिए कसौटी प्रस्तुत की है। जिसके फलस्वरूप आगे के आचार्यों ने यहा तक कह दिया है कि युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह, अर्थात् जिनक वचन युक्तियुक्त हो उन्हे ही आप्त मानना चाहिए।[26]

शास्त्र का लक्षण करते हुए कहा गया है कि सच्चाशास्त्र वही हो सकता है, जिसमे निम्न विशेषताए हो– 1 आप्तोपज्ञ 2 अनुल्लघ्य 3 दृष्ट और इष्ट से अवरोधक 4 तत्वोपदेशकर्ता 5 सबका हितकारक 6 कुमार्ग का नाश करने वाला। सच्चा गुरु वही हो सकता है, जो विषयाशा की अधीनता से रहित, निरारम्भ, अपरिग्रही और ज्ञान ध्यान और तप रूपी तीनों रत्नो का धारक हो।[27] अनन्तर सम्यग्दर्शन के असशय, अनाकाक्षणा, निर्विचिकित्सिता, अमूढदृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य और प्रभावना आठ अग बताये गये हैं सम्यग्दर्शन के लिए इनका होना अत्यन्त आवश्यक है। इन अगों मे क्रमश अजन चोर, अनन्तमती, उद्दायन राजा, रेवतीरानी, जिनेन्द्रभक्त, वारिषेण, विष्णु और वज्रनाभ व्यक्तियो ने प्रसिद्धि पायी थी।[28]

सम्यग्दर्शन के लक्षण मे उसे त्रिमूढता और आठ मद से रहित होना भी बताया गया है। त्रिमूढताओ के अन्तर्गत लोकमूढता, देवमूढता एव पाखण्डिमूढता का उल्लेख कर उदाहरणो सहित उन पर विचार किया गया है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप वपु ये आठ मद कहे गये हैं। इसी प्रसग मे बताया गया है कि जो व्यक्ति घमण्ड मे आकर धर्म मे स्थित अन्य धार्मिको का तिरस्कार करता है, वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है क्योकि धार्मिको के विना धर्म नहीं हो सकता है। पुण्य और पाप के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त करते हुए आचार्य कहते है कि यदि पाप का निरोध हो तो अन्य सम्पत्तियो से क्या प्रयोजन है और यदि पाप का आस्रव है तो भी अन्य सम्पत्ति से कोई प्रयोजन नहीं। सम्यग्दर्शन का वैशिष्ट्य

बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चाण्डाल भी देवो के द्वारा पूज्य है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव और देव भी कुत्ता हो जाता है। सम्यग्दृष्टि को भय, आशा, स्नेह और लोभ से भी कुदेव, कुगुरू और कुशास्त्र की विनय नही करना चाहिए।[29]

सम्यग्दर्शन के महत्त्व एव उसकी उत्कृष्टता का कारण बताया गया है कि मोक्षमार्ग मे सम्यग्दर्शन कर्णधार के समान प्रमुख है। इसलिए वह सबसे प्रमुख है क्योकि वह सम्यग्ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति आदि मे बीज रूप है। जिस तरह बीज के अभाव मे वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं बन सकती है उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव मे ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि आदि की उद्‌भूति नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन युक्त मोह रहित गृहस्थ मिथ्यादृष्टि मोही मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ है। सम्यग्दर्शन का इतना अधिक महत्त्व बताया गया है कि तीनो लोको मे देहधारियो को सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई कल्याणकारी नही है। उसके प्रभाव से अव्रती होने पर नरक, तिर्यंच, नपुसक, स्त्रीपर्याय, निन्दनीय कुल, अगो की विकलता, अल्पायु एव दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ओज, तेज, विद्या, वीर्य आदि से युक्त महाकुल मे उत्पन्न और इन्द्र, धरणेन्द्र, चकवर्ती पद को प्राप्त कर परमोत्कृष्ट तीर्थंकर पद तक की प्राप्ति होती है और अन्त मे मोक्ष पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का लक्षण उसकी विशेषताये और उसका महत्त्व प्रतिपादित कर प्रथम परिच्छेद समाप्त किया गया है।[30]

सम्यग्ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि वस्तु स्वरूप का अन्यून, अनतिरिक्त, याथातथ्य, विपरीतता रहित तथा सन्देह रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।[31]

सम्यग्ज्ञानी पुण्यपुरुषो के चरित और पुराण की व्याख्या करने वाले प्रथमानुयोग को, लोक अलोक, काल परिवर्तन आदि का विवेचन करने वाले करणानुयोग को, मुनियो एव गृहस्थो के आचार का प्रतिपादन करने वाले चरणानुयोग को तथा जीव अजीव, पुण्य पाप, बन्ध मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले द्रव्यानुयोग को जानता है।[32]

पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि सम्यक्त्व आश्रयी व्यक्ति को आत्मा के हित के लिए आगम की आम्नाय और प्रमाणनय रूपयुक्ति के योग से प्रयत्नपूर्वक वस्तु स्वरूप का विचार कर सम्यग्ज्ञान की उपासना करना चाहिए। यद्यपि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होता है फिर भी दोनो मे दीपक और प्रकाश की तरह कारण और कार्य का भेद है। अत वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित जानने का अध्यवसाय करना चाहिए।[33]

सोमदेव ने उपासकाध्ययन मे लिखा है कि जो सब वस्तुओ को ठीक रीति से जैसा का तैसा जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते है। वह मनुष्यो का तीसरा नेत्र है। जैसे जन्म से अन्धे मनुष्य को लाठी सम विशम स्थान को बतालाकर उसे चलने और रुकने मे मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहित का विवेचन करके धर्मात्मा पुरुष को हितकारक कार्यों मे लगाता है। ऐन्द्रियज्ञान दृष्ट पदार्थों का ज्ञान कराता है किन्तु आगम दृष्ट और अदृष्ट प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो का ज्ञान करा देता है। अत मन मत्सर रहित है तो उसे तत्वज्ञान होना दुर्लभ नहीं है। तत्वो के जान लेने के बाद भी यदि मनुश्य की बुद्धि अन्धकार मे रहती है तो जैसे उल्लूको प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही मनुष्य का ज्ञान भी व्यर्थ होता है।[34] नेमिचन्द्र सूरि ने द्रव्यग्रह मे लिखा है कि सशय विमोह और भ्रम से रहित वस्तु के स्वरूप को पहचानना सम्यग्ज्ञान है।[35]

जैनसिद्धान्त ग्रन्थो मे ज्ञानमीमासा का विस्तृत विवेचन किया गया हैं। मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र की आराधना आवश्यक है क्योकि तीनो का मिला हुआ स्वरूप ही मोक्षमार्ग है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि मोह तिमिर के नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन के लाभ से जिस साधु को सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को धारण करता है। रागद्वेष की निवृत्ति से हिसादि की निवृत्ति स्वत हो जाती है। धन की अपेक्षा न रखने वाला

कौन पुरुष राजा की सेवा करेगा। हिसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह को पाप की प्रणाली समझना चाहिए, इनसे विरत होना ही सम्यग्दृष्टि का चारित्र है। सर्वसग विरत अनगारो के लिए सकल चारित्र तथा ससग (परिग्रहयुक्त) गृहस्थो को विकल चारित्र कहा हैं[36]

समन्तभद्र के पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आत्मस्वरूप कहा है। यथा ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन ये जीव के अनन्य स्वभाव हैं, इनमे निश्चल और अनिन्द्रय अस्तित्व चारित्र है।[37] जिसे जानता है वह ज्ञान है और जिसे देखता है, वह दर्शन है। ज्ञान और दर्शन के सयोग से चारित्र होता हे। जीव के ये ज्ञानादि तीनो भाव अक्षय और अभेद्य होते हैं।[38]

जीव के चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है, यह व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव मे न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है। वह शुद्ध स्वरूप है।[39] साधु पुरुष को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की ही नित्य आराधना करना चाहिए। निश्चय से ये तीनो तथा आत्मा एक ही हैं।[40]

स्वामी कार्तिकेय ने लिखा है कि सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म दो प्रकार का होता है एक तो परिग्रहासक्त गृहस्थो का और दूसरा परिग्रह रहित मुनियो का ।[41] वसुनन्दि ने भी सागार और अनगार के भेद से धर्म–चारित्र दो प्रकार का बताया हैं।[42] सोमदेव ने लिखा है कि अधर्म कार्यों से निवृत्ति और धर्म कार्यो मे प्रवृत्ति होने को चारित्र कहते हैं। वह दो प्रकार है सागार और अनगार। सागार का चारित्र देशचारित्र और अनगार का चारित्र सर्वचारित्र कहलाता है। जिनका चित्त श्रेष्ठ विचारो से युक्त है वे ही चारित्र का पालन कर सकते हैं, जिनमे स्वर्ग या मोक्ष किसी को भी प्राप्त कर सकने की योग्यता नहीं है, वह न तो देशचारित्र को पाल सकता है और न ही सर्वचारित्र को ही पाल सकता है। सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति का शास्त्रज्ञान मुख की खाज खुजलाने के समान है और जो ज्ञान रहित हैं उसका चारित्र धारण करना कुरूप व्यक्ति के द्वारा धारण किये गये आभूषणो के समान है। सम्यग्दर्शन से अच्छी गति मिलती है।

सम्यग्ज्ञान ससार मे यश फैलता है। सम्यक्चारित्र से सम्मान प्राप्त होता है। तीनो से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तत्वो मे रुचि का होना सम्यग्दर्शन है। तत्वो का कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है और समस्त कियाओ को छोडकर अत्यन्त उदसीन हो जाना सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र अग्नि है। सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यक्त्व रषौषधि है। इन सबके मिलने पर आत्मारूपी पारद धातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है।[43]

नेमिचन्द्र सूरि ने लिखा है कि रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा के परिणाम हैं। आत्मा के सिवाय ये अन्य द्रव्य मे नही होते इसलिए उन तीनो से युक्त आत्मा ही मोक्ष का कारण है।[44]

इसके उपरान्त रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे गृहस्थो के विकल चारित्र के पाच अणुव्रत, तीनगुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह अवान्तर भेद बताये गये हैं।–51

हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन स्थूल पापो से विरत होने को अणुव्रत कहते हैं। अहिसाणुव्रत आदि इसके पाच भेद हैं।–52

मन, वचन, काय के कृतकारित, अनुमोदना रूप सकल्प से त्रस जीवो का घात नहीं करना अहिसाणुव्रत है। इसके छेदना, बाधना, पीडा देना, अधिक भार लादना और आहार रोकना ये पाच अतिचार बताये गये हैं।–53, 54

जो न स्वय झूठ बोलता है और न बुलवाता है और न प्राणघातक सत्य ही बोलता है, न बुलवाता है, उसे सत्याणुव्रत कहते हैं। इसके मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेख और न्यासापहार ये पाच अतिचार हैं।–55, 56

दूसरे की रखी, गिरी, भूली हुई वस्तु को न स्वय ग्रहण करना और न दूसरे को लेने देना अचौर्याणुव्रत है। इसके चौर्य प्रयोग, चौरार्थादान, विलोप, सदृशसन्मिश्र, हीनाधिक विनिमान ये पाच अतिचार हैं।–57, 58

पाप के भय से पर स्त्रियो के प्रति न स्वय गमन करना और न दूसरो को गमन करवाना स्वदार सन्तोष नाम का अणुव्रत है। इसके अन्य विवाह करण, अनग कीडा, विटत्व, विपुलतृषा और इत्वरिका गमन ये पाच अतिचार है।–59, 60

धन धान्यादि परिग्रह का परिमाण कर उससे अधिक की इच्छा नही रखना परिमित परिग्रह अथवा इच्छा परिमाण नाम का अणुव्रत कहा गया है। इसके भी अतिवाहन, अतिसग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारवाहन ये पाच अतिचार बताये गये है।–61, 62

उपर्युक्त अणुव्रतो का यह फल बताया गया है कि अतिचार रहित पाच अणुव्रत रूपी निधिया स्वर्गलोक का फल देती हैं। जिसमे आठ गुण अवधिज्ञान एव दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। अहिसा आदि पाच अणुव्रतो और हिसा आदि पाच पापो के धारण से क्या फल मिलता है, इसके उदाहरण मे पौराणिक नामो को गिनाते हुए बताया है कि अहिसा आदि अणुव्रतो के पालन से कमश मातग, धनदेव, वारिषेण, नीली और जय उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुए थे तथा हिसा आदि अव्रतो के सेवन से कमश धनश्री, सत्यघोष, तापस, कोतवाल और श्मश्रुनवनीत को दुर्गति आदि फल भुगतने पडे थे।–63–65

अणुव्रतो के पालन के साथ साथ मद्य त्याग, मास त्याग, मधु त्याग इन तीनो को जोड देने से अष्ट मूलगुण कहे जाते है। चतुर्थ परिच्छेद मे गुणव्रतो का निरूपण है। इसमे गुणव्रतो की सार्थकता बताते हुए कहा गया है कि गुणो मे वृद्धि करने के कारण गुणव्रत कहे जाते है। इनके दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत भोगोपभोग परिमाण व्रत भेद किये गये हैं।–66, 67

दिशाओ की मर्यादा के भीतर ही रहने को दिग्व्रत कहा गया है। दशो दिशाओ की मर्यादा को परिगणित करने के लिए प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पर्वत आदि को मर्यादा के रूप मे रखा है। दिग्व्रत का महत्त्व और महाव्रत के लक्षण की भूमिका बाधते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य दशो दिशाओ मे आवागमन की मर्यादा कर दिग्व्रतो को धारण करते है उनके मर्यादा के

भीतर सूक्ष्म पाप भी छूट जाते हैं। इसलिए उनके अणुव्रत महाव्रतपने को प्राप्त होते है। चारित्रमोहनीय की अत्यन्त मन्द अवस्था महाव्रत के व्यवहार के लिए उपचरित होती है।–68–71

हिसा आदि पाच पापो का मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदना द्वारा त्याग करना महाव्रत कहलाता है, यह महापुरुषो के ही होता है। इस प्रकार दिग्व्रत के प्रसग मे महाव्रत की चर्चा का उसके अध उपरि, तिर्यक् और समान मर्यादा का उल्लघन करना तथा क्षेत्रवृद्धि और मर्यादा का विस्मरण ये पाच अतिचार गिनाये गये है।–72, 73

गुणव्रत का द्वितीय भेद अनर्थदण्डव्रत है। दिग्व्रत की सीमा के भीतर प्रयोजन रहित पाप सहित योगो से निवृत्त होना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। अनर्थदण्ड पापोपदेश, हिसादान, अपध्यान, दु श्रुति और प्रमादचर्या के भेद से पाच प्रकार का होता है। अनर्थदण्ड का लक्षण और भेद के बाद पापोपदेश आदि के लक्षण समझाये गये हैं। इसके पश्चात् कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अतिप्रसाधन और असमीक्ष्याधिकरण ये पाच अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार बताये गये हैं।–74–81

विषयो के परिमाण के भीतर विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आशक्ति को कृश करने के लिए प्रयोजनभूत भी इन्द्रियविषयो की सीमा बाधना भोगोपभोग परिमाण नाम का अन्तिम गुणव्रत है। भोगोपभोग परिमाण व्रत के प्रसग मे उसके अतिचार बताने के पहले भोग, उपभोग, व्रत, यम, नियम आदि के लक्षण बताये गये हैं। भोजन वस्त्र आदि पचेन्द्रिय सम्बन्धी जो विषय, भोगकर छोड देने योग्य हैं, वह भोग है। तथा जो भोगकर फिर से भोगने योग्य हैं, वह उपभोग हैं। इसके अतिरिक्त त्रस जीवो की हिसा का परिहार करने के लिए मधु, मास और प्रमाद के परिहार के लिए मदिरा का त्याग कर देना चाहिए। इसी प्रकार मूली, गीला अदरक, मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल तथा इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी त्याग कर देना चाहिए। क्योकि इनके सेवन से अल्पफल और त्रस जीवो का घात अधिक होता है। जो वस्तु अनिष्टकर और अनुपसेव्य है, उसका भी त्याग करना

चाहिए क्योकि योग्य विषय से अभिप्रायपूर्वक हुई निवृत्ति का नाम व्रत है।–82–86

वह परित्याग या व्रत, यम और नियम के भेद से दो प्रकार का होता है। जिसमे काल का परिमाण होता है, नियम कहलाता है तथा जो जीवनपर्यन्त के लिए धारण किया जाता है, वह यम कहलाता है। भोजन, वाहन, शयन, स्नान, पवित्र अगराग, कुसुम, ताम्बूल वस्त्र, कामसेवन सगीत और गीत का, आज, एक दिन, एक रात अथवा एक पल, एक माह, एक ऋतु, अथवा एक अयन–छह माह, इस प्रकार समय के विभाग पूर्वक त्याग करने से नियम होता है।–87–89

अनन्तर भोगोपभोग परिमाण व्रत के निम्न पाच अतिचार बताये गये हैं। विषय रूपी विष से उपेक्षा न होना, उनका बार बार स्मरण करना, विषयो मे अति लौल्यभाव होना, आगामी विषयो की अति तृष्णा रखना और वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्ति से अनुभव करना। श्रावक अवस्था मे ही मुनिपद की दिशा प्राप्त करने के लिए श्रावक को अन्त मे देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत बताये गये हैं।–90, 91

प्रतिदिन अणुव्रतियो द्वारा समय की मर्यादा के द्वारा विशाल देश का सकोच किया जाना देशावकाशिक शिक्षाव्रत है। घर, छावनी, गाव, खेत, नदी, वन तथा योजन से देशावकाशिक व्रत की सीमा बाधी जा सकती है। एक ऋतु का अयन, एक माह, पन्द्रह दिन और एक नक्षत्र इस व्रत की काल की मर्यादाये हैं। सीमाओ के अन्त भाग के आगे स्थूल और सूक्ष्म पाचो का त्याग हो जाने से इसके द्वारा महाव्रतो को सिद्ध किया जा सकता है। प्रेषण, शब्द आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेप, ये पाच देशावकाशिक व्रत के अतिचार हैं।–92–96

सर्वत्र सम्पूर्ण रूप से किसी निश्चित समय तक पाच पापो का त्याग करना सामायिक नाम का शिक्षाव्रत कहलाता है। सामायिक के समय के सम्बन्ध मे बताते हुए कहा गया है कि केशबन्धन, मुष्टि बन्धन, वस्त्रबन्धन,

पर्यंकबन्धन और उपवेशन इनको समयज्ञो के द्वारा कहा गया है। इस समय मे सामायिक प्रसन्नचित्त होकर निरूपद्रव निराकुल एकान्त स्थान वन, मकान, चैत्यालयो आदि मे बढाना चाहिए। इस सामायिक को उपवास तथा एकाशन के दिन व्यापार वैमनस्य और मानसिक चिन्ताओ से रहित होकर दृढ किया जाना चाहिए। सामायिक की उपयोगिता बताते हुए कहा है कि सामायिक को बढाने का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए क्योकि वह सामायिक अहिसादि पचव्रतो के परिपूरण का कारण है। सामायिक के काल मे आरम्भ सहित कोई परिग्रह नही होने के कारण गृहस्थ वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है। सामायिक के समय के कर्तव्य बताते हुए कहा गया है कि श्रावक को सर्दी गर्मी डॉस मच्छर आदि परीषह और अन्य उपसर्गो को अचल योग होकर मौनपूर्वक सहन करना चाहिए। उसे यह ध्यान करना चाहिए कि मैं शरण रहित , अशुभ, अनित्य दु खरूप और अनात्म स्वरूप ससार मे निवास करता हू और मोक्ष इससे विपरीत स्वभाव वाला है।–97–104

इस प्रकार सामायिक शिक्षाव्रत की उपयोगिता एव व्यवस्था बताकर अन्त मे उसके वचन दु प्रणिधान, कायदु प्रणिधान मनदु प्रणिधान, अनादर, अस्मरण ये पाच अतिचार बताये गये है। तृतीय शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास के सम्बन्ध मे बताया गया है कि चतुर्दशी और अष्टमी के दिन शुभसकल्प पूर्वक चार प्रकार के आहारो का त्याग करना प्रोषधोपवास व्रत है। उपवास के दिन पाच पापो, अलकारो का धारण करना, खेती आदि का आरम्भ, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप, पुष्पमालाओ का धारण,स्नान, अजन और नस्य अर्थात् सूघने का त्याग करना चाहिए। उपवास कर्ता का कर्तव्य है कि वह स्वय धर्म मे लगा रहे। विना देखे तथा शोधे किसी वस्तु का ग्रहण करना छोडना, सस्तर आदि को विछाना अनादर और अस्मरण ये पाच प्रोषधापवास के अतिचार है।–106–110

चतुर्थ प्रकार का शिक्षाव्रत वैयावृत्य है। तपोधन गुण निधि और गृहत्यागी तपस्वी क लिए प्रतिदिन प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित विधि द्रव्य आदि सम्पत्ति का त्याग का परिमाण जो धर्म के निमित्त किया जाता

है उसे वैयावृत्य कहते है। इसके अतिरिक्त तपस्वियो पर आयी हुई आपत्तियो को दूर करना, पैरो को दबाना और उनका अन्य उपकार करना सभी वैयावृत्य के अन्तर्गत ही माने गये है।–111–112

वैयावृत्य के लक्षण के बाद दान, दाता, पात्र, दान का फल और दान के भेदो का निरूपण किया गया है। इसमे बताया गया है कि सात गुणो से युक्त शुद्ध दाता के द्वारा अपसूना आदि गृह सम्बन्धी पाच कार्य तथा आरम्भ से रहित मुनियो को आहारादि दिया जाता है, वह दान है। गृहस्थ के द्वारा मुनियो को इस प्रकार दिया गया दान गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से उपार्जित कर्म–पापो को नष्ट कर देता है। सच्चे तपोनिधि साधु के सम्बन्ध मे विभिन्न फल बताये गये है। उनको नमन करने से उच्च गोत्र, दान से मान, उपासना से सम्मान, भक्ति से सुन्दर रूप और स्तुति से कीर्ति की प्राप्ति होती है।–113–116

वैयावृत्य– दान के आहार, औषध, उपकरण और आवास इन चार भेदो को बतलाकर इन दानो मे प्रसिद्धि प्राप्त पौराणिक व्यक्तियो के दृष्टान्त देते हुए बताया गया है कि इन दानो के प्रभाव से कमश रविषेण वृषभसेना, कोण्डेश और शूकर को श्रेष्ठ फल की प्राप्ति हुयी। पूजा का महत्त्व भी वैयावृत्य के अन्तर्गत बताया गया है कि गृहस्थ को देवाधिदेव के चरणो की पूजा करना भी आवश्यक है। उदाहरण स्वरूप राजगृह मे हर्षित मेढक ने एक पुष्प के द्वारा महात्माओ के आगे अर्हन्त के चरणो की पूजा का माहात्म्य प्रदर्शित किया है।–119–120

अन्त मे हरितपिधान, हरितनिधान, अनादर, अस्तरण और मत्सरत्व ये पाच अतिचार बताये गये हैं।–121 यहा तक आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक को पालनीय विकल चारित्र की चर्चा की है। बाद मे षष्ठ अध्याय मे सल्लेखना, धर्म का माहात्म्य और मोक्ष का स्वरूप बताया गया है। अन्तिम सातवे अध्याय मे श्रावक के एकादश पदो का स्वरूप एव श्रेष्ठ ज्ञाता का लक्षण स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति की गयी है, जिसका विवरण निम्न प्रकार है –

सल्लेखना का लक्षण करते हुए लिखा है कि अटल उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिए शरीर छोडने को सल्लेखना कहते हैं। सर्वज्ञ देव ने अन्त समय मे सन्यास अर्थात् सल्लेखना धारण करने को तप का फल कहा और इसलिए समाधिमरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार सल्लेखना का लक्षण और उसके धारण करने की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए सल्लेखना धारण करने वाले व्यक्ति को आवश्यक करणीय बाते बताते हुए कहा है कि सल्लेखनाधारी को स्नेह, बैर, ममताभाव, परिग्रह को छोडकर स्वच्छ हृदय से मधुर वचनो के द्वारा अपने कुटुम्बी और परिजनो को जमा करके स्वय क्षमा करे तथा कृत कारित और अनुमोदित सभी पापो को स्वच्छ हृदय से आलोचना कर मरण पर्यन्त स्थिर रहने वाले समस्त महाव्रतो को भी धारण करे। उसे शोक भय, खेद, स्नेह और अरति को छोडकर धैर्य और उत्साह के साथ शास्त्र रसामृत आस्वाद करते हुए प्रसन्नता पूर्वक रहना चाहिए।—122—126

भोजन के सम्बन्ध मे नियम बताये हुए कहा गया है कि क्रम से आहार का त्याग कर दूध आदि स्निग्ध पदार्थों को ग्रहाण करे—क्रम से स्निग्ध पदार्थों का भी त्यागकर खरपान को ग्रहण करे। तत्पश्चात् खरपान—गर्मजल का भी त्याग करके शक्ति के अनुसार उपवास करके पच नमस्कार मत्र मे अपना योग लगाता हुआ शरीर को छोडे। इस प्रकार सल्लेखना की विधि समझाकर उसके पाच अतिचार एव फल बताये गये है। जीवितशसा, मरणाशसा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये सल्लेखना के अतिचार हैं। सल्लेखना का फल नि श्रेयश मोक्ष और अभ्युदय की प्राप्ति बतायी गयी है।131—134

आगे नि श्रेयस और अभ्युदय क्या हैं, इसका प्रतिपादन किया गया है।

जन्म, बुढापा, रोग, मरण शोक, दु ख और भय से रहित शुद्ध सुख से सहित नित्य निर्वाण को निश्रेयस कहा गया है। यहा पर जीव निरतिशय और निर्वाध युक्त विद्या दर्शन, शक्ति स्वास्थ्य प्रह्लाद तृप्ति और शुद्धि इन गुणो से युक्त निवास करते हैं। सैकडो कल्पकाल बीत जाने पर भी

और तीनो लोको को अव्यवस्थित करने मे समर्थ उत्पाद होने पर भी मोक्ष मे रहने वाले जीवो मे किसी प्रकार का विकार दिखाई नही देता है। ये सिद्ध कीट और कालिमा से रहित कान्ति वाले स्वर्ण के समान देदीप्यमान मोक्ष को प्राप्त करते हुए तीन लोक के अग्रभाग पर चूडामणि की शोभा को धारण करते हैं।—131—134

सल्लेखना के फल के बाद समीचीन धर्म का फल प्रतिपादित किया गया है। यथा— परिवार, कामभोगो से परिपूर्ण, पूजा, अर्घ, आहार तथा ऐश्वर्य के द्वारा तीनो लोको को आश्चर्यचकित करने वाले अभ्युदय की प्राप्ति धर्म के द्वारा होती है। अन्तिम अध्याय मे श्रावक के क्रमिक विकास हेतु ग्यारह पद बताये गये है। जिन्हे पीछे पीछे के साथ आगे आगे के पदो को पालन करना श्रावक के लिए आवश्यक होता है।—135, 136

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध ससार शरीर और भोगो से विरक्त, पच परमेष्ठीरत्न के चरणो की शरण मे प्राप्त और अष्ट मूलगुणो से युक्त है वह दार्शनिक श्रावक है। जो शल्य और अतिचार रहित तथा पाच अणुव्रतो एव शीलो से युक्त होता है, वह व्रती श्रावक कहलाता हैं।—137,138

चारो दिशाओ मे तीन तीन आवर्त और प्रणाम करने वाला, कायोत्सर्ग से रहने वाला, बाह्य एव आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी, दो बार बैठकर नमस्कार करता है और त्रियोग से शुद्ध जो सन्ध्यायो मे वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

प्रत्येक मास के चारो ही पर्व दिनो मे जो श्रावक अपनी शक्ति न छिपाकर शुभध्यान में लीन होता हुआ एकाग्रता के साथ प्रोषध का नियम लेता है, वह प्रोषधोपवास पद का धारक होता हैं।—139, 140

जो दयावान श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को नहीं खाता है, सचित्तविरत पद का धारक कहलाता है। रात्रि मे अन्न, पेय, खाद्य और लेह्य पदार्थों को नहीं लेता है, वह रात्रिभुक्तविरत नामक छठवा पद है।—141, 142

जो श्रावक शरीर को मलबीज, मल का उत्पत्ति स्थान मल को बहाने वाला, दुर्गन्ध युक्त और पूयात्मक देखता हुआ कामसेवन से विरत होता है, वह ब्रह्मचारी पद का धारक होता है। जो श्रावक प्राणघात के कारणभूत सेवा, खेती तथा व्यापार आदि आरम्भ से निवृत्त होता है वह आरम्भ त्यागी श्रावक है।–143, 144

जो दश बाह्य वस्तुओ से ममत्व भाव को छोडकर और निर्ममत्व भाव मे लीन होकर स्वात्मस्थ सन्तोश मे तत्पर सब ओर से चित्त मे स्थित परिग्रह विरत होता है वह परिग्रहविरत श्रावक कहलाता है। जो आरम्भ परिग्रह और लौकिक कार्यों मे अनुमोदना नहीं करता वह समान बुद्धि का धारक अनुमतिविरत नाम का श्रावक होता है।–145, 146

जो श्रावक घर से मुनि वन को जाकर और गुरु के समीप व्रतो को धारण कर तपस्या करता है। भिक्षावृत्ति से भोजन करता है तथा वस्त्र के एक खण्ड को धारण करता है वह उत्कृष्ट पद को धारण करने वाला श्रावक कहलाता है। श्रावक के ग्यारह पदो के निरूपण के पश्चात श्रेयो ज्ञाता की पहचान बताते हुए कहा गया है कि पाप जीव का शत्रु और धर्म जीव का बन्धु है, जो इसको जानता है और समय आगम को जानता है वह श्रेयो ज्ञाता कहा जाता है।–147, 148

धर्म का फल बताते हुए कहा है कि जीव ने अपनी आत्मा को निर्दोष, विद्या, दृष्टि और किया रूप रत्नो के पिटारे के भाव मे परिणत किया है उसे तीनो लोको मे सर्वार्थसिद्धि पति को स्वय वरण करने वाली स्त्री की तरह स्वय प्राप्त हो जाती है। अन्त मे मगलाचरण किया गया है।–149, 150

इस प्रकार उपर्युक्त रत्नकरण्ड श्रावकाचार की विषयवस्तु के विश्लेषण और वर्णन से यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म हैं। समन्तभद्र ने इसमे श्रद्धा और ज्ञान के विभिन्न पहुलुओ पर विचार करने के साथ सम्यकचारित्र के अन्तर्गत श्रावक और मुनि के आचार से सम्बन्धित विभिन्न पक्षो का वर्णन सरल और सूत्रात्मक शैली म किया हैं।

निष्कर्ष यह कि इस अध्याय मे धर्म का स्वरूप, उसकी विशेषताये एव महत्त्व धर्म के तीन रूप सद्दृष्टि, सद्ज्ञान, सद्वृत्त, सम्यग्दर्शन का लक्षण, उसके अग और महत्त्व धर्म का फल, अधर्म का स्वरूप, तीन मूढताए अष्टमद, अनायतन, अधर्म का फल, सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत उसका लक्षण, प्रथमानुयोग आदि के स्वरूप सहित चार भेद, सद्वृत्त के अन्तर्गत उसका लक्षण भेद, और स्वामी सकल और विकल सद्वृत्त के दो रूप, सकल चारित्र का स्वामी, मुनि एव विकल चारित्र का धारक गृहस्थ विकल चारित्र के तीन प्रकार–पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत, मूलगुण, दिग्व्रतो से अणुव्रतो का महाव्रतत्व, महाव्रत के योग्य परिणाम, महाव्रत का लक्षण, भोगोपभोग विचार यम नियम का लक्षण, दान, दाता, पात्र, अतिथि और देव पूजादि विचार एव फल, सल्लेखना का स्वरूप विधि, महत्त्व एव आवश्यकता, धर्मानुष्ठान विचार, मोक्ष का स्वरूप एव अन्त मे श्रावक के पदो, उत्कृष्ट श्रावक का लक्षण और धर्म के फल आदि पर विचार किया गया है।

सन्दर्भ

1 इ0 श्र0 प्र0 पृष्ठ 18 19 काoहिoविoवाराणसी मे पठित निबन्ध
2 जेनविद्या विभाग प्राच्यविद्या सम्मेलन एव भा0स0जै0यो0 पृष्ठ 113 3 जैन प्र0 प0 पृष्ठ 189- 243
4 वही पृ0 189 5 र 0 श्रा0 6
6 स्वय0 187 जैन प्र0 प0 पृ0 195
8 र0 श्रा0 9
9 युक्त्य0 49 10 आप्त0 6
11 स्वय0 128
12 जैन प्र0 प0 पृ0 196 197 13 वही पृ0 243 181- 243
14 जैन न0 कु0 स0 अ0 पृ0 69 70
15 पचास्तिकाय 106
16 वही 107
17 तत्त्वार्थसूत्र 1 1
18 वही 1 2
19 पु0 सि0 20
20 वही 22
21 उपासकाध्ययन 4
22 वही 48
23 वही 6
24 र0 श्रा0 5-8
25 उपासकाध्ययन 49
26 हरिभद्र शडदर्शन समुच्चय पृ0 482
27 र0 श्रा0 9 10
28 वही 11 21

29 वही 22-30
30 वही 31--41
31 वही 42
32 वही 43–46
33 पु0 सि0 32--36
34 उपासकाध्ययन, 256–259
35 द्रव्यसग्रह 42
36 र0 श्रा0 47--50
37 पचास्तिकाय 154
38 चा0 पा0 3 4
39 समयसार 7
40 वहीं 16
41 कार्तिकेयानुप्रेक्षा 3
42 उपासकाध्ययन 2
43 वही 262- 268

❑❑❑

परिच्छेद द्वितीय
अणुव्रत और शीलव्रत समीक्षा

अणुव्रत

जैन आचार मीमासा मे अणुव्रतो का अत्यधिक महत्त्व है। जैन श्रावक के लिए अणुव्रतो का पालन करना नितान्त आवश्यक बताया गया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे अणुव्रतो का अतिचार सहित विवेचन किया गया है। अणुव्रतो के पालन मे समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय मे अणुव्रतो एव पाच पापो मे प्रसिद्ध व्यक्तियो के नाम देकर निरतिचार व्रतो के पालन का फल बताते हुए उन्होने मूलगुणो की भी चर्चा की है। जैनाचार मे मुनि और गृहस्थ के लिए अलग अलग व्रत बतलाये गये हैं। मुनि के लिए महाव्रत है और गृहस्थ के लिए अणुव्रत। यहा अणु के साथ व्रत शब्द लगा हुआ है, जिसका अर्थ है व्रतो का एक देश पालन करना और स्थूल पापो से विरत रहना।

व्रत और अणुव्रत का स्वरूप

समन्तभद्र ने लिखा है कि स्थूल प्राणातिपात, स्थूलवितथव्याहार, स्थूलस्तेय, स्थूलकाम और स्थूलमूर्च्छा इन पाचो पापो से विरक्त होना अणुव्रत है।[1] उमास्वामी हिसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति को व्रत कहते हैं।[2] परन्तु समन्तभद्र योग्य विषय से सकल्प पूर्वक विरक्ति को व्रत कहते हैं।[3] पूज्यपाद के अनुसार प्रतिज्ञा पूर्वक जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है या करने योग्य है या नही करने योग्य है, इस प्रकार नियम करना, व्रत हैं।[4] परमात्मप्रकाश मे सर्व निवृत्ति के परिणाम को व्रत माना गया है।[5] सोमदेव ने व्रत के सम्बन्ध मे लिखा है कि सेवनीय वस्तु का सकल्प पूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा अच्छे कार्यों मे प्रवृत्ति और बुरे कार्यों से निवृत्ति को व्रत कहते हैं।[6] पण्डितप्रवर आशाधर जी ने व्रत की परिभाषा मे वृद्धि करते हुए लिखा हे कि किन्हीं पदार्थों के सेवन का अथवा हिसादि अशुभ कार्यों का नियत या अनियत काल के लिए सकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत

है अथवा पात्र दानादि शुभकर्मों मे उसी प्रकार सकल्प पूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।[7]

उपर्युक्त आचार्यों क मन्तव्यो से स्पष्ट है कि उमास्वामी ने जिनके विरक्त होने को व्रत कहा है उनके स्थूल त्याग को समन्तभद्र ने अणुव्रत कहा है। इसके बाद के उत्तरवर्ती आचार्यों ने समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित व्रत के लक्षण का ही प्राय अनुकरण किया है। सोमदेव और आशाधर ने जोडने का कार्य अवश्य किया परन्तु वे समन्तभद्र के ऋणी अवश्य हैं।

उमास्वामी के अनुसार जो शल्य रहित है, वह व्रती है।[8] ऐसे व्रती के दो भेद है -- 1 अगारी और 2 अनगारी[9]। अणुव्रतो को पालन करने वाला अगारी कहलाता है।[10] वह दिग्देशादि सात व्रतो से सम्पन्न होता है।[11] इन सूत्रात्मक विचारो को और विकसित एव विस्तृत करते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि गृहस्थो का चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के रूप मे तीन प्रकार का है। वे क्रमश पाच तीन और चार भेद युक्त है।[12] ये बारह व्रत श्रावक को ही पालने योग्य कहे गये है। सोमदेव ने इनको श्रावक के उत्तर गुणो के रूप मे स्वीकार किया है।[13] इससे प्रतीत होता है कि सोमदेव ने समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित मूलगुण के लक्षण को नकारते हुए अन्य आचार्यों के आधार पर पाच उदम्बर फलो के त्याग पूर्वक मद्य, मास, मधु के त्याग को अष्टमूलगुण स्वीकार किया है तथा बारह व्रतो को श्रावक के उत्तर गुण माना है।

अणुव्रत कम विप्रतिपत्ति

समन्तभद्र को अणुव्रतो से सम्बन्धित मार्गदर्शन कुन्दकुन्द से प्राप्त था। यथा --

थूले तसकायवहो थूले तितिक्ख थूले य।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारभ परिमाणम्।।[14]

अर्थात स्थूलत्रसकायपरिहार स्थूलमृषापरिहार, स्थूलतितिक्षापरिहार परप्रेमपरिहार और परिग्रहारभपरिमाण ये समन्तभद्र के अणुव्रतो के समान ही है। किन्तु चौथे और पाचवे अणुव्रत के नाम मे अन्तर है। जैसे समन्तभद्र

ने चौथ अणुव्रत का नाम परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष[15] तथा पाचवे का परिग्रह परिमाण के साथ साथ इच्छा परिमाण भी किया है।[16] समन्तभद्र के परवर्ती आचार्य रविषेण ने भी चतुर्थ अणुव्रत का परदारसमागमविरति और पाचवे का अनन्तगर्हा विरति दिया है।[17] आचार्य जिनसेन ने हरिवशपुराण मे प्रथम अणुव्रत का नाम दया रखा है।[18] आचार्य जिनसेन (द्वितीय) ने आदिपुराण मे चौथे व्रत का नाम परस्त्रीसेवननिवृत्ति तथा पाचवे व्रत का नाम तृष्णाप्रकर्षनिवृत्ति रखा है।[19] प0 आशाधर जी ने चतुर्थ व्रत का नाम स्वदारसन्तोष रखा है।[20]

अहिसाणुव्रत

मन, वचन काय के कृत कारित और अनुमोदना रूप सकल्प के द्वारा जो त्रस जीवो का घात नहीं करता है उसे समन्तभद्र ने स्थूलवधविरमण कहा है।[21] उपर्युक्त अहिसाणुव्रत का लक्षण परिपूर्ण है। उत्तरकाल मे इसमे कुछ भी घटाने या बढाने की जरूरत नही समझी गयी। सर्वार्थसिद्धि मे त्रस जीवो के प्राणो का घात न करने वाले को अहिसाणुव्रती कहा है।[22] तत्त्वार्थवार्तिक मे क्रियापद जोडकर मन, वचन, काय या कृत कारित अनुमोदना का निर्देश कर दिया गया है किन्तु सकल्प का उल्लेख उसमे भी नही है।[23] उत्तरवर्ती आचार्यो अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[24], सोमदेव ने उपासकाध्ययन,[25] अमितगति ने श्रावकाचार[26], प0 आशाधर जी ने सागारधर्मामृत[27] मे अहिसा के विभिन्न पहलुओ पर विचार किया है, परन्तु समन्तभद्र के द्वारा प्रतिपादित लक्षण उत्तरवर्ती परम्परा मे अपरिवर्तनीय रहा।

अहिसाणुव्रत के अतिचार

जिन दोषो से व्रत पूर्ण रूप से खण्डित नही होता, किन्तु आशिक खण्डित हो जाता है वे दोष अतिचार कहे जाते हैं। ये सभी आचार्यो ने समान रूप से स्वीकार किये हैं। अतिचार निम्न हैं – 1 वध 2 बन्धन 3 छेद 4 अतिभारारोपण 5 अन्नपाननिरोध।

उपर्युक्त अतिचारो से स्पष्ट है कि अहिसाणुव्रत का सम्बन्ध केवल खानपान को लेकर ही नही था वरन् व्यवहार की दृष्टि से भी था क्योकि

पाचो अतिचार मनुष्य और पशुओ के साथ किये जाने वाले व्यवहार से ही सम्बन्ध रखते हैं। अत सामाजिक जीवन की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है।

सत्याणुव्रत

सत्याणुव्रत आदि चार अणुव्रत अहिसाणुव्रत के रक्षक हैं। जैसे किसान खेत की रक्षा के लिए चारो ओर बाढ लगा देता है वैसे ही अहिसाव्रत की रक्षा के लिए अन्य चार व्रत बाढ रूप हैं। उनके पालन करने से अहिसाव्रत की रक्षा होती है। सत्याणुव्रत के लिए कुन्दकुन्द ने स्थूलमृषावाद नाम दिया है, जिसे समन्तभद्र ने उसी नाम से स्वीकार किया है। जो स्थूल अलीक न तो स्वय बोलता है न दूसरो से बुलवाता है, उसे सन्त जन स्थूलमृषावाद विरमण कहते हैं।[29] सत्याणुव्रत की यह परिभाषा 'सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात्, मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' कथन के निकट हैं।

असत्य की परिभाषा

सत्य को समझाने के लिए आचार्यों ने असत्य को भी परिभाषित किया है। उमास्वामी कहते हैं – 'असदभिधानमनृतम्[30] पूज्यपाद देवनन्दि ने इसकी व्याख्या मे लिखा है कि असत् अर्थात् अप्रशस्त और ऐसे वचन जिनसे प्राणी को पीडा पहुचती हो, वह चाहे सत्य हो या असत्य अप्रशस्त, उसका बोलना असत्य है।[31]

आचार्य अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे असत्य के चार भेद किये हैं –

1 अविद्यमान वस्तु का निषेध करना।

2 अविद्यमान वस्तु को विद्यमान बतलाना।

3 कुछ का कुछ कह देना।

4 गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचन।

आचार्य सोमदेव ने असत्य के विवेचन मे वचन के चार भेद बताये हैं – 1 असत्य सत्य 2 सत्य असत्य 3 सत्य सत्य 4 असत्य असत्य।

इसका अभिप्राय यह है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है। सत्य होते हुए भी असत्य हो जाता है। जो वस्तु जहा जिस रूप मे देखी या सुनी थी, उसको वैसा ही कहना सत्य सत्य है और सर्वथा असत्य ही असत्य असत्य है।[33] अमितगति ने अपने श्रावकाचार मे अमृतचन्द की तरह ही असत्य के चार भेद किये हैं।[34] परन्तु आशाधर जी ने स्पष्टत सत्याणुव्रत का वर्णन करते हुए सोमदेव की तरह वचन के दो भेद बतलाये हैं। सत्याणुव्रत का स्वरूप बतलाते हुए उन्होने लिखा है कि कन्या अलीक, गो अलीक, क्षमा अलीक, कूट साक्षि और न्यास पात की तरह जिससे अपने या दूसरे पर विपत्ति आती हो ऐसे सत्य के छोडने का निषेध किया है।[35] ऐसा वर्णन किसी भी दिगम्बर जैन ग्रन्थ मे नहीं मिलता। प्रतीत होता है वह हेमचन्द्र आचार्य के योगशास्त्र से लिया गया है। योगशास्त्र मे लिखा है – 1 कन्या अलीक 2 गो अलीक 3 भूमि अलीक 4 कूट साक्ष्य और 5 न्यासापलाप ये स्थूल अलीक पाच हैं।[36]

उपर्युक्त प्रकार के असत्यो का त्याग ही सत्य है, स्थूल त्याग ही सत्याणुव्रत है। अत सिद्ध है कि आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित लक्षण मे उत्तरवर्ती आचार्यों ने कुछ भी स्वत बुद्धि से परिवर्तन नहीं किया है।

सत्याणुव्रत के अतिचार

उमास्वामी के अनुसार सत्याणुव्रत के निम्न पाच अतिचार हैं –

1 मिथ्योपदेश – झूठी सलाह देना।

2 रहोभ्याख्यान – स्त्री पुरुष की एकान्त में की गयी किसी चेष्टा को देखकर दूसरो से कह देना।

3 कूटलेखकिया – जाली हसताक्षर बनाना।

4 न्यासापहार – धरोहर को हडप जाना।

5 साकारमन्त्रभेद – किसी की मुखाकृति से मन की बात जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना।[37]

उमास्वामी द्वारा मान्य इन अतिचारो मे परिवर्तन करते हुए समन्तभद्र ने मिथ्योपदेश के स्थान पर परिवाद अर्थात् निन्दा करना और साकारमन्त्रभेद के स्थान पर पैशून्य अर्थात चुगली करना आदि पद रखे है।[38] सोमदेव ने मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान और न्यासापहार के स्थान पर परिवाद, पैशून्य और मृषाभाषी माने है।[39] तात्पर्य यह कि उन्होने समन्तभद्र द्वारा मान्य पाच अतिचारो मे से मात्र मृषाभाषी मे परिवर्तन किया है, अन्य सभी ज्यो के त्यो स्वीकृत किये हैं।

अचौर्याणुव्रत

अचौर्याणुव्रत के लिए कुन्दकुन्द ने जिसे स्थूल अदत्त परिहार कहा था,[40] समन्तभद्र ने उसको अकृशचौर्य उपरमण नाम दिया है।[41] चाउज्जामसवर मे अदिण्णादान विरमण नाम आया है।[42] समन्तभद्र ने अचौर्याणुव्रत की परिभाषा देते हुए लिखा है कि किसी की गिरी हुई या भूली हुई परवस्तु को न स्वय लेना और न उठाकर दूसरो को देना अचौर्याणुव्रत है।[43] आचार्य उमास्वामी ने इस व्रत का लक्षण न देकर मात्र चोरी का लक्षण दिया है।[44] अमृतचन्दसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे लिखा है कि धन मनुष्यो का बाह्यप्राण है, उसके धन का हरण प्राण हरण के समान है। जो जलाशयो से पानी आदि भी लेने का त्याग करने मे असमर्थ है, उन्हे भी अन्य सब विना दी हुई वस्तु के ग्रहण का त्याग करना चाहिए।[45] सोमदेव ने लिखा है कि जो धन पृथ्वी आदि मे गढा हुआ मिला हो उसे भी नही लेना चाहिए क्योकि जिस धन का कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा होता है। अत मकान मे, जल मे या पर्वत मे गढे हुए दूसरे के धन को नही लेना चाहिए। किसी वस्तु मे सशय होने की स्थिति मे भी सशय दूर होने तक ग्रहण नहीं करना चाहिए।[46] अमितगति श्रावकाचार, सागारधर्मामृत एव लाटीसहिता आदि ग्रन्थो मे भी अचौर्याणुव्रत के सम्बन्ध मे कोई नया परिवर्तन नहीं किया गया है।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

आचार्य उमास्वामी के अनुसार अचौर्याणुव्रत के अतिचार निम्न हैं[47] –

1 स्तेनप्रयोग – दूसरो को चोरी की ओर प्रेरित करना।

2 तदाहृतादान – चोरी का माल खरीदना।

3 विरुद्धराज्यातिकम – राजाज्ञा के विरुद्ध कर आदि नही चुकाना।

4 हीनाधिकमानोन्यमान्य – लेने देने के उपकरण अधिक कम रखना

5 प्रतिरूपकव्यवहार – बहुमूल्य वस्तु मे कम मूल्य की वस्तु मिलाना

समन्तभद्र ने प्राय उमास्वामी द्वारा मान्य अतिचार ही रखे हैं, परन्तु विरुद्धराज्यातिकम के स्थान पर विलोप माना है। विलोप का मतलब है कि राजकीय नियमों की अवहेलना करके धन सचय करना और विरुद्धराज्यातिकम का मतलब है कि राजा के विरुद्ध मार्ग पर चलकर धनसचय करना।[48] प0 आशाधर जी ने विरुद्धराज्यातिकम के अन्य अर्थ भी किये है कि राज्य विप्लव हो जाने पर वस्तुओ के मूल्य बढाने का प्रयत्न करना, एक राज्य के निवासी का दूसरे राजा के राज्य मे प्रवेश करना आदि।[49] लाटीसहिता मे राजा की आज्ञा युक्त हो या अयुक्त उसका न पालना विरुद्धराज्यातिकम है।[50]

ब्रह्मचर्याणुव्रत

चतुर्थ अणुव्रत के लिए परदारनिवृत्ति, स्वदारसन्तोष, स्थूलब्रह्मचारी आदि नाम दिये गये हैं। कुन्दकुन्द ने इसे परमहिलापरिहार नाम दिया है। समन्तभद्र के अनुसार जो पाप के भय से न तो पर स्त्रियो के पास स्वय जाता है और न दूसरो को भेजता है, उसे परदारनिवृत्ति या स्वदारसन्तोषव्रत कहते हैं।[51] पूज्यपाद के अनुसार गृहीत या अगृहीत परस्त्री के साथ रति न करना गृहस्थ का चौथा अणुव्रत है।[52] अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जो मोहवश अपनी स्त्री को छोडने मे असमर्थ हैं, उन्हे भी शेष सब स्त्रियो का सेवन नहीं करना चाहिए।[53] सोमदेव ने उपासकाध्ययन मे लिखा है कि वधू और वित्त स्त्री को छोडकर अन्य सब स्त्रियो को माता, बहन और पुत्री समझना गृहस्थ का ब्रह्मचर्य है।[54] स्वामी कार्तिकेय के अनुसार जो मन, वचन और काय से परस्त्री को माता, बहन और पुत्री के समान मानता है, स्थूलब्रह्मचर्याणुव्रती है।[55]

अमितगति ने लिखा है कि ज्ञानी पुरुष पराई स्त्रियो को बहन, माता और पुत्री के समान देखकर घोर दृष्टिविष वाली सर्पिणी के समान दूर से ही परित्याग करते हैं।[56] वसुनन्दि यह मानते हैं कि जो दिन मे स्त्रीभोग और सदा के लिये अनग क्रीडा को छोड देता है, वह स्थूल ब्रह्मचारी है।[57] आशाधर के अनुसार जो पाप के भय से मन, वचन और काय से परस्त्री और वेश्या के पास न स्वय जाता है और न दूसरो को भेजता है, वह स्वदारसन्तोषी है।[58] श्री राजमल्ल के अनुसार ब्रह्मचर्याणुव्रती को धर्मपत्नि का ही सेवन करना चाहिए, अन्य का नहीं।[59]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सोमदेव के श्रावकाचार के अतिरिक्त सभी श्रावकाचारो मे ब्रह्मचर्याणुव्रती के लिए स्वस्त्री के अतिरिक्त शेष सभी पर स्त्रियो का त्याग आवश्यक बताया गया है। सोमदेव ने 'वित्तस्त्री' को भी उक्त व्रत की मर्यादा के भीतर ले लिया है, पर वे यह स्पष्ट करने मे असमर्थ रहे हैं कि उन्होने ऐसा क्यो किया? परन्तु उनके बाद प० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत मे स्वदारसन्तोष का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि जो मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से पाप के भय से पर नारी और वेश्या को न स्वय भोगता है और न दूसरो से ऐसा कराता है, वह स्वदारसन्तोषी है। जो गृहस्थ अपनी पत्नि की तरह साधारण स्त्रियो का भी त्याग करने मे अशक्त है और केवल परस्त्री का ही त्याग करता है, वह भी ब्रह्मचर्याणुव्रती माना जाता है।[60] क्योकि ब्रह्मचर्याणुव्रती के दो भेद हैं – 1 स्वदारसन्तोष 2 परदार निवृत्ति। प्रथम का पालन देशसयम मे अभ्यस्त नैष्ठिक श्रावक करता है। दूसरा सयम के अभ्यास के लिए तत्पर पाक्षिक श्रावक पालता है। आशाधर के अतिरिक्त ब्रह्मचर्याणुव्रत को स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति नाम के दो भेदो मे विभाजित अन्य किसी भी आचार्य ने नहीं किया। स्वामी समन्तभद्र ने तो दोनो को एक ही व्रत का नामान्तर कहा है। आशाधर की ही तरह श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द के योगशास्त्र मे ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप स्वीकार किया गया है[61], जिससे यह स्पष्ट है कि उक्त सब ने परस्पर आदान प्रदान ही है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारो का वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्र लिखते है – 1 अन्यविवाहकरण 2 अनगक्रीडा 3 विटत्व 4 विपुलतृषा 5 इत्विरिकागमन ये पाच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।[62] पूर्ववर्ती आचार्य उमास्वामी ने परविवाहकरण, इत्विरिका परिग्रहीतागमन, इत्विरिका अपरिग्रहीतागमन, अनगकीडा और कामतीव्राभिनिवेश पाच अतिचार माने हैं।[63] उत्तरवर्ती आचार्य अमृतचन्द,[64] अमितगति[65] और राजमल्ल[66] आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे उमास्वामी द्वारा मान्य अतिचार ही स्वीकार किये हैं। परन्तु आशाधर[67] ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुसार ही पाच अतिचार गिनाये हैं। सोमदेव ने इत्विरिकागमन के स्थान पर परस्त्री सगम और विटत्व के स्थान पर रतिकेतव्य नाम बताये हैं।

परिग्रहपरमाषाणुव्रत

समन्तभद्र ने लिखा है कि धन, धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक मे नि स्पृह होना ही परिग्रह परिमाण व्रत या इच्छा परिमाण व्रत है।[68] उमास्वामी के अनुसार मूर्च्छा परिग्रह है।[69] इसकी व्याख्या मे सर्वार्थसिद्धिकार ने लिखा है कि गौ, भैंस, मणि, मुक्ता आदि अचेतन चेतन और रागादि भावो के सरक्षण आदि व्यापार मूर्च्छा है।[70]

कुन्दकुन्द ने इसको परिग्रहारम्भ परिमाण नाम दिया है। अत उक्त व्रती को परिग्रह के साथ आरम्भ का भी नियम करना चाहिए। अमितगति ने अपने श्रावकाचार मे कुन्दकुन्द को प्रमाण मानते हुए लिखा है कि लोक मे सब आरम्भ परिग्रह के लिए किये जाते हैं। जो परिग्रह को कम करता है, वह समस्त आरम्भो को भी कम करता है।[71] परिग्रह के सचित्त अचित्त तथा अन्तरग बहिरग भेदो का निर्देश सर्वार्थसिद्धिकार ने किया था, परन्तु उनकी सख्या का निर्देश पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[72] और उपासकाध्ययन[73] मे मिलता है।

परिग्रहपरमाषाणुव्रत के अतिचार

उमास्वामी ने परिग्रहपरमाषाणुव्रत के अतिचारो को गिनाते हुये लिखा है कि 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेशवर्जनानि पच' अर्थात् क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिकम,

हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धनधान्यप्रमाणातिक्रम, दासीदासप्रमाणातिक्रम और कुप्यप्रमाणातिक्रम ये पाच परिग्रहपमिाणव्रत के अतिचार है।[75] समन्तभद्र द्वारा माने गये परिग्रहपरिमाण व्रत के अतिचार उमास्वामी से भिन्न है। यथा –

1 अतिवाहन 2 अतिसग्रह 3 अतिविस्मय 4 अतिलोभ 5 अतिभारवहन प0 आशाधर जी ने सागारधर्मामृत मे परिग्रहपरिमाण व्रत के पाच अतिचार इस प्रकार बतलाये है –

1 मकान और खेत मे पास का दूसरा मकान और खेत मिला लेना।

2 अपने घर का धान्य और पशुधन बेच देने के बाद वह धान्य और धन ले लूगा, ऐसा विचार कर परिमाण से अधिक धन और धान्य को बेचने वाले के घर पर ही रखना।

3 व्रत की अवधि पूर्ण होने पर ये सोना चादी ले लूगा, इस भाव से परिमाण से अधिक सोना चादी दूसरो को दे रखना।

4 कासे पीतल आदि के वर्तनो की सख्या परिमाण से अधिक हो जाने पर व्रतभग के भय से दो दो वर्तनो को मिलाकर एक करना।

5 परिग्रहपरिमाणव्रत जितने दिनो के लिये है, उसके अन्दर ही यदि गाय आदि के बच्चे देने से व्रत भग होने का भय हो तो उस समय के बाद ही गाय आदि को गर्भवती होने देना।[76]

यद्यपि उक्त अतिचारो का आधार भी हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र ही है फिर भी तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा मान्य अतिचारो का ही विस्तार है। अत स्वामी समन्तभद्र के अतिरिक्त अन्य सब शास्त्रकारो के द्वारा बतलाये गये अतिचार समान ही हैं।

शीलव्रत समीक्षा

समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के चतुर्थ एव पचम परिच्छेद मे तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो का सविस्तार वर्णन किया है। पाच अणुव्रतो के पालन के बाद तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो का पालन आवश्यक होता है क्योकि वे सात, गुणो मे वृद्धि अर्थात् मुनिव्रत धारण करने के लिये

उत्सुक श्रावक को अत्यधिक सहायक होते है। आचार्य उमास्वामी ने तीर्थंकर प्रकृति के आश्रव के कारणो मे दर्शनविशुद्धि आदि के वर्णन के अन्तर्गत उक्त सात को शील की सज्ञा दी है।[77] प्रस्तुत प्रकरण मे सप्त शीलव्रतो पर सक्षेप मे विचार प्रस्तुत हैं।

समन्तभद्र के पूर्व कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम चरित्तपाहुड मे पाच अणुव्रत गिनाने के बाद तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो के नाम दिये है यथा- दिशा विदिशा का परिमाण, अनर्थदण्ड का त्याग और भोग उपभोग का परिमाण, यही तीन गुणव्रत हैं।[78] सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत है।[79] उमास्वामी ने व्रती को अगारी और अनगारी के भेद से दो प्रकार का बताकर अणुव्रत पालन करने वाले को अगारी कहा है और दिग्व्रत आदि का पालक एव सल्लेखना धारण करने वाला अनगारी कहा है। बाद मे प्रत्येक के पाच पाच अतिचार बताये है।[80] यथा – 1 दिग्विरति 2 देशविरति 3 अनर्थदण्डविरति 4 सामायिक 5 प्रोषधोपवास 6 उपभोग परिभोगपरिमाण 7 अतिथिसविभाग।

बारह व्रतो का व्यवस्थित वर्णन समन्तभद्र के रत्नकरण्डकश्रावकाचार मे ही मिलता है। उनके अनुसार गृहस्थो का चारित्र तीन प्रकार का होता है– अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत और वे कमश पाच, तीन और चार भेद वाले कहे गये है।[81] उन्होने गुणव्रतो का वर्णन करते हुए लिखा है कि आर्यजन आठ मूलगुणो की वृद्धि करने के कारण दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रत कहते हैं। इसका रत्नकरण्डश्रावकाचार मे विस्तृत विवेचन किया गया है।[82]

समन्तभद्र ने शिक्षाव्रतो का वर्णन निम्न प्रकार किया है। जिनेन्द्रदेव ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं।[83] इसके बाद उक्त चारो का विस्तृत विवेचन किया है।[84] वैयावृत्य करने वाले को जिन पूजन करना भी आवश्यक बताया गया है। उसे आदरपूर्वक, नित्य सर्व कामनाओ के पूर्ण करने वाले और काम विकार को जलाने वाले देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र भगवान की सर्वदु ख विनाशक परिचर्या अर्थात् पूजा

भी करना चाहिए।[85] पूजन करने के महत्त्व के लिए मेढक का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है और अन्त मे वैयावृत्य के अतिचार बतलाये हैं। इस प्रकार समन्तभद्र के पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामी के साथ समन्तभद्र के विवेचन से निम्न निष्कर्श निकलते हैं।

तीनो आचार्यों द्वारा मान्य गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नामो मे भिन्नता है। सातो व्रतो को गुणव्रत और शिक्षाव्रत के रूप मे मात्र कुन्दकुन्द और समन्तभद्र ने ही वर्गीकृत किया है, उमास्वामी ने नहीं किया है। उक्त तीनो आचार्यो मे से मात्र कुन्दकुन्द ने ही सल्लेखना को शिक्षाव्रत के अन्तर्गत गिनाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के बाद सल्लेखना पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाने लगा और तब उसे शीलव्रतो से अलग कर दिया गया । इस सम्बन्ध मे एक बात और ध्यान देने योग्य है तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी ने सल्लेखना को जीवन के अन्तिम समय मे धारण करने का विधान किया है और यही विचार समन्तभद्र का भी है परन्तु ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्द ने सल्लेखना की आराधना जीवन भर कराने की दृष्टि से ही उसे बारह व्रतो के अन्तर्गत रखा हो।

शीलव्रत समन्तभद्र और उत्तरवर्ती आचार्य

समन्तभद्र के उतरवर्ती आचार्यो ने भी उपर्युक्त विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। जिनमे जटासिहनन्दि, पुराणकार रविदेव, जिनसेन, अमृतचन्द्र, सोमदेव, अमितगति, चामुण्डराय, कार्तिकेय, वसुनन्दि, पद्मनन्दि आदि आचार्य प्रमुख हैं, जिन्होने श्रावकाचार से सम्बन्धित गहन अध्ययन करके अपने निष्कर्ष दिये है। यहा सम्बन्धित आचार्यो की विषयवस्तु का विस्तार से वर्णन न करके तुलनात्मक एव समीक्षात्मक दृष्टि से विशिष्ट विन्दुओ पर ही विचार किया गया है।

जटासिंहनन्दि और समन्तभद्र

जटासिहनन्दि ने गुणव्रतो का वर्णन कुन्दकुन्द के अनुसार ही किया है। नाम भी वही हैं। अन्तर इतना है कि कुन्दकुन्द ने मात्र नाम गिनाये हैं

जबकि जटासिहनन्दि ने उनका विवेचन किया है तथा गुणव्रतो मे अनर्थदण्ड को तीसरे स्थान पर रखा है।[86]

पुराणकार और समन्तभद्र

पुराणकारो ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों मे से किसी का भी ज्यो का त्यो अनुकरण नहीं किया है, पर यह कहा जा सकता है कि पुराणकार कुन्दकुन्द के अतिनिकट हैं। आगे रविषेणाचार्य आदिपुराणकार जिनसेन तथा हरिवशपुराणकार जिनसेन के अनुसार गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो पर विचार किया जायेगा।

रविषेण ने यद्यपि कुन्दकुन्द की ही तरह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो को गिनाया है, किन्तु इनके कम मे अन्तर है। रविषेण ने अनर्थदण्डविरति, दिग्विरति त्याग और भोगोपभोग सख्यान को गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसविभाग और सल्लेखना को शिक्षाव्रत कहा है।[87] जिनसेन ने आदिपुराण मे लिखा है कि दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति ये गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसविभाग और मरण समय मे सन्यास धारण करना शिक्षाव्रत हैं।[88] जिनसेन ने इनका विस्तृत विवेचन नहीं किया है। हरिवशपुराण मे दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति को गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथिसविभाग को शिक्षाव्रत कहा गया है और सातो का विस्तृत विवेचन भी किया गया है।[89]

पुराण मे प्रतिपादित तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो के विवेचन के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं कि तीनो पुराणकारो मे से किसी ने भी कुन्दकुन्द, उमास्वामी और समन्तभद्र का पूर्ण रूप से अनुकरण नहीं किया है। रविषेणाचार्य ने कुन्दकुन्द के अनुसार ही गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो को गिनाया है। अन्तर इतना है कि उन्होने गुणव्रतो में अनर्थदण्ड को सर्वप्रथम लिखा है। जबकि कुन्दकुन्द ने उसे दूसरे स्थान पर गिनाया है। आदिपुराण मे तथा हरिवशपुराण में गुणव्रतो का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार है, पर शिक्षाव्रतो मे अन्तर है। रविषेणाचार्य और जिनसेनाचार्य

आदिपुराणकार ने शिक्षाव्रतो का विवरण कुन्दकुन्द के अनुसार किया है किन्तु हरिवशपुराणकार ने शिक्षाव्रतो को उमास्वामी के अनुसार गिनाया है तथा सल्लेखना का विवेचन स्वतन्त्र रूप मे किया है। शिक्षाव्रतो के विवेचन मे इस प्रकार की विभिन्न परम्पराये क्यो रहीं यह ज्ञात करना कठिन है। यही कारण है कि पुराणकारो के सामने विभिन्नता की कठिनाई रही है इसलिए वे एकरूपता से वर्णन नहीं कर सके।

अमृतचन्द और समन्तभद्र

अमृतचन्द ने तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो का नाम शीलव्रत रखा है। इस रूप मे शीलव्रत का समन्तभद्र ने कही पर भी उल्लेख नहीं किया है। अमृतचन्द्र के अनुसार जैसे परिधिया नगर की रक्षा करती है, उसी प्रकार शीलव्रत व्रतो की रक्षा करते हैं। इसलिए व्रत पालन करने के लिए शीलव्रतो का पालन करना चाहिए।[90]

समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार मे तीन गुणव्रतो और चार शिक्षा व्रतो का अलग अलग वर्णन किया है। अमृतचन्द्र ने भी सातो को शीलव्रत कहकर उनका पृथक् पृथक् वर्णन किया है।[91] जिसमे अमृतचन्द्र ने समन्तभद्र की ही तरह अनर्थदण्ड के पाच भेदो का वर्णन किया है, पर एक अनर्थदण्ड के रूप मे जुये को भी माना है। जबकि समन्तभद्र ने जुये के सम्बन्ध मे कोई विवेचन नही किया है। समन्तभद्र ने सामायिक को सामयिक शब्द से अभिहित किया है, वही अमृतचन्द्र ने सामायिक ही रखा है। अमृतचन्द्र ने समस्त शीलो को अहिसा व्रत के अन्तर्गत माना है। समन्तभद्र ने वैयावृत्य के अन्तर्गत दान को माना है तथा उसके चार भेदो सहित दान देने वालो के नामो का भी उल्लेख किया है, परन्तु अमृतचन्द्र ने दान को तो लिया है पर उसके चार भेदो का कोई जिक्र नही किया है। उन्होने दान का लक्षण, देने योग्य द्रव्य, दाता के गुण एव पात्रो के भेदो को व्यवस्थित ढग से वर्णित किया है, जबकि समन्तभद्र ने मात्र बीज रूप ही दिये है। इस तरह अमृतचन्द्र पर समन्तभद्र का पूर्ण प्रभाव रहा है।

सोमदेव और समन्तभद्र

दशवीं शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार एव जैनधर्म और सस्कृति के परिशोधक तथा प्रसिद्ध प्रचारक सोमदेव सूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ यशस्तिलक चम्पू के अन्तिम तीन आश्वासो मे श्रावकाचार का विवेचन किया है और उसे उपासकाध्ययन कहा जाता है। उसमे पाच अणुव्रतो के वर्णन के पश्चात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का वर्णन किया है। समन्तभद्र एव अन्य आचार्यों की अपेक्षा सोमदेव द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त विषयवस्तु मे अधिक अन्तर पाया जाता है। इसलिए उनके विचारो के साथ अन्य आचार्यों के अन्तर को दिखाना यहा आवश्यक है।

गुणव्रत

दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति के भेद से गुणव्रत तीन हैं। अमुक अमुक दिशा मे अमुक अमुक स्थान तक ही जाऊगा, इस प्रकार जन्म पर्यन्त के लिए सब दिशाओ मे ऊपर तथा नीचे जाने की मर्यादा की जाती है, उसे दिग्विरति कहते हैं। कुछ समय के लिए जो मर्यादा की जाती है कि मैं अमुक दिशा मे अमुक देश तक ही जाऊगा, उसे देशविरति कहते हैं। इस प्रकार दिशाओ का और देश का नियम लेने से उससे बाहर की वस्तुओ मे भोग उपभोग और हिसा आदि के भाव नही होते हैं। उसके न होने से चित्त सयत रहता है। जो गृहस्थ प्रयत्न करके इन तीन गुणव्रतो का पालन करता है, वह जहा जहा जन्म लेता है, वही वही उसे ऐश्वर्य और विभूति मिलती है। दिशा और देश के किये हुए प्रमाण का उल्लघन करने से प्रायश्चित लेना पडता है।[62]

सोमदेव के अनुसार मोर, मुर्गा, बाज, बिलाव, साप, नेवला, आदि हिसक जीवो को पालना, विष, काटा, शस्त्र, आग, कोडा, जाल, रस्सा आदि हिसा के साधनो को दूसरो को देना, पाप का उपदेश देना, आर्त्त और रौद्र ध्यान का करना, हिसायुक्त लेख लिखना, व्यर्थ इधर उधर भटकना, दूसरो को कष्ट पहुचाना, चुगली करना, रज करना, रोना, और इसी प्रकार दूसरो के घात मे, बाधने मे और रोक रखने मे अन्य भी जो कारण है, उन्हे

अनर्थदण्ड कहते हैं। कयोकि उनसे ससार की वृद्धि होती है। अपने आचार का पालन करने मे चतुर देशव्रती श्रावक को हिसक प्राणियो का पोषण तथा हिसा के साधनो का दान नहीं करना चाहिए। उपर्युक्त अनर्थदण्डो का त्यागी श्रावक सबका मित्र और स्वामी बन जाता है। उपदेश से ठगी, आरम्भ और हिसा प्रवर्तन करना, शक्ति से अधिक बोझा लादना और दूसरो को अधिक कष्ट देना आदि अनर्थदण्ड मे हानि करने वाले हैं। अत अणुव्रती श्रावक को उक्त कार्य नहीं करना चाहिए।[93]

शिक्षाव्रत

सोमदेव ने शिक्षाव्रतो के नाम निम्न प्रकार गिनाये हैं[94] –

1 सामायिक 2 प्रोषधोपवास 3 भोगोपभोग परिमाण 4 दान।

जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने का जो उपदेश है, उसे समय कहते हैं और उसमे इच्छुक व्यक्तियो के जो जो कार्य बतलाये गये हैं, उन्हे सामायिक कहते है।[95] प्रोषध पर्व को कहते हैं। प्रत्येक मास मे चार पर्व होते हैं। इन पर्वों मे विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतो का आचरण करके धर्म कर्म को बढाना चाहिए। लगातार या अन्तराल देकर तिथि, तीर्थंकरो के कल्याणक तथा नक्षत्र आदि का विचार कर शास्त्रो के अनुसार अनेक प्रकार के उपवासो की विधि का विचार करना चाहिए इत्यादि के साथ उपवास की विधि का वर्णन किया है।[96] जो पदार्थ एक बार ही भोगा जाता है। जैसे भोजन, पानी आदि भोग कहे जाते हैं। जो बार बार भोगा जाता है, उसे उपभोग या परिभोग कहते हैं। जैसे भूषण आदि। चित्त के विस्तार को रोकने के लिए भोग और उपभोग का परिमाण कर लेना चाहिए। जो मिल रहा है तथा जो सेवनीय है, उसका भी नियम कर लेना चाहिए। भोगोपभोग परिमाण व्रत का पालन दो प्रकार से किया जाता है – यम और नियम पूर्वक। जो त्याग जीवन भर के लिए किया जाता है, वह यम है और जो त्याग कुछ समय के लिए किया जाता है, वह नियम कहलाता है। अदरक, आलू आदि जमीकन्द केतकी और नीम के फूल आदि का त्याग जीवन पर्यन्त के लिए करना चाहिए क्योकि उनमे उसी प्रकार के जीवो की

स्थिति रहती है। जो भोजन कच्चा है या अधिक पक गया है, वह त्याज्य है, जो जन्तुओ से भरा हो या जिसे हमने देखा नही, ऐसे भोजन को खाना भोगपरिभोग परिमाण व्रत का नाशक है। अत नही खाना चाहिए। इस प्रकार जो भोगोपभोग परिमाण करता है, वह मनुष्य और देवपर्याय मे जन्म लेकर लक्ष्मी को प्राप्त करता है। अन्त मे मुक्ति को प्राप्त करता है।[97] गृहस्थो को विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और काल के अनुसार दान देना चाहिए। जिससे अपना कल्याण हो, मुनियो के रत्नत्रय की उन्नति हो। इस प्रकार जो अपने और दूसरो के उपकार के लिए दिया जाता है, उसे दान कहते हैं। उपर्युक्त प्रकार से सोमदेव ने उपासकाध्ययन मे दान का लक्षण, उसका फल, दान के भेद, दान की विधि दाता के गुण आदि का विस्तृत विवेचन किया है।[98]

समीक्षा

1 आचार्य समन्तभद्र की तरह सोमदेव ने भी तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का अलग अलग वर्णन किया है।

2 सोमदेव ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, रविषेण, जिनसेन आदि का पूर्ण रूप से अनुसरण नहीं किया है।

3 समन्तभद्र ने जहा दिग्व्रत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण को गुणव्रत माना है, वहा सोमदेव ने दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत को गुणव्रत माना है।

4 चार शिक्षाव्रतो मे भी समन्तभद्र ने वैयावृत्य को चौथा शिक्षाव्रत स्वीकार किया है और उसी के अन्तर्गत दान का भी विवेचन किया है, परन्तु सोमदेव ने वैयावृत्य को माना ही नहीं तथा दान को चौथा शिक्षाव्रत माना है। दान का लक्षण, पात्र, दाता, देय, द्रव्य तथा दान के भेदो का विवेचन जितने अधिक विस्तार से सोमदेव ने किया है, उतना अन्य किसी आचार्य ने नहीं।

5 समन्तभद्र ने जहा आहार, औषधि उपकरण और वास के भेद से दान के चार भेद कहे हैं, वहा सोमदेव ने अभयदान, आहारदान, औषधिदान और शास्त्रदान के रूप मे विवेचन किया है।

6 सोमदेव द्वारा की गयी सामायिक की परिभाषा अन्य आचार्यों से भिन्न है।

7 समन्तभद्र ने जहा पूजा का फल एव उसके भक्त का निर्देश मात्र किया है वहा सोमदेव ने नियुक्त कर्मों मे सर्वप्रथम देवपूजा की बात कही है और उसके लिए अन्तरग और बहिरग शुद्धि की आवश्यकता पर बल देते हुए बहिरग शुद्धि मे स्नान आवश्यक बताया है।

8 नवधा भक्तियो का विवेचन सोमदेव की अपनी नयी समझ है।

अत यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार मे जो कुछ बीज रूप मे कहा है, सोमदेव ने उसे विस्तृत रूप मे प्रस्तुत किया है।

अमितगति और समन्तभद्र

1 अमितगति[99] ने अपने श्रावकाचार मे कुन्दकुन्द और उमास्वामी की तरह ही गुणव्रत और शिक्षाव्रतो का क्रम रखा है।[100]

2 अमितगति ने उमास्वामी और समन्तभद्र की तरह प्रत्येक व्रत के पाच पाच अतिचारो का भी वर्णन किया है।

3 अमितगति ने गुणव्रत और शिक्षाव्रतो के वर्णन मे कुन्दकुन्द और उमास्वामी का अनुसरण किया है। समन्तभद्र ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत कहा है, वहा अमितगति ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत को गुणव्रत कहा है।

4 समन्तभद्र ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत माने है वहा अमितगति ने सामायिक, प्रोषधोपवास भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसविभागव्रत को शिक्षाव्रत माना है।

5 समन्तभद्र ने दान, अतिथिसविभाग और पूजन को वैयावृत्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है, वहा अमितगति ने दान या पूजन को अतिथिसविभाग मे स्थान ही नही दिया है और न उनके फल पर भी विचार किया है।

6 समन्तभद्र और अमितगति दोनो ने गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो के पाच अतिचारो का वर्णन समान रूप से किया है।

आशाधर और समन्तभद्र

पण्डित प्रवर आशाधर जी ने अपने श्रावक धर्म प्रतिपादक ग्रन्थ सागारधर्मामृत मे समन्तभद्र की तरह गुणव्रत और शिक्षाव्रत माने है।[101]

राजमल्ल और समन्तभद्र

लाटीसहिताकार श्रीराजमल्ल जी ने विस्तार के साथ श्रावक की सहिता का विश्लेषण किया है। राजमल्ल जी जहा पूर्व परम्पराओ से बद्ध है वही उन्होने युगानुरूप नवीन बाते भी समाहित की हैं। सहिताए विभिन्नप्रकार के ग्रन्थो का सग्रह रूप हुआ करती हैं। अत राजमल्ल जी ने भी उमास्वामी तथा समन्तभद्र के ही अनुसार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का अतिचार सहित विस्तृत वर्णन किया है।[102]

स्वामी कार्तिकेय और समन्तभद्र

समन्तभद्र की तरह स्वामी कार्तिकेय ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रत कहा है तथा शिक्षाव्रतो के अन्तर्गत सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास दोनो आचार्यों को एक जैसे हैं अन्तिम शिक्षाव्रत अमितगति की तरह दान है तथा समन्तभद्र की तरह वैयावृत्य है।[103]

वसुनन्दि और समन्तभद्र

उपासकाज्झयण नामक प्राकृत ग्रन्थ मे वसुनन्दि ने दिग्व्रत, देशव्रत, तथा अनर्थदण्ड व्रत को गुणव्रत और भोगविरति, उपभोगविरति, अतिथिसविभाग और सल्लेखना को शिक्षाव्रत कहा है।[104] यहा गुणव्रतो की मान्यता समन्तभद्र की तरह है, पर शिक्षाव्रतो मे थोडा अन्तर है। पूर्वाचार्यों के अनुमान के आधार पर उन्होने अपने एक ग्रन्थ मे गुणव्रत एव शिक्षाव्रतो का वर्णन अति सामान्य रूप से किया है। उसमे मात्र फल की ओर सकेत है।[105]

निष्कर्ष

सभी श्रावकाचारो मे श्रावक के लिए अणुव्रतो का पालन करना आवश्यक माना गया है। रत्नकरण्डकम् मे पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत श्रावक के आचार का ही प्रतिपादन किया गया है। अहिसाणुव्रत आदि पाच अणुव्रतो के

सम्बन्ध मे पूर्वापर किसी भी आचार्य के मत मे विभेद नही हैं, यदि थोडा अन्तर है तो वह अणुव्रत की भावनाओ और अतिचारो मे है। रत्नकरण्डश्रावकाचार मे पचाणुव्रत के पश्चात् अष्ट मूलगुणो का पालन करना आवश्यक बताया गया है, जबकि अन्य आचार्यों ने अष्टमूलगुणो के पश्चात् बारह व्रतो का पालन करना आवश्यक बताया है। गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो को शीलव्रत, रत्नकरण्डश्रावकाचार मे नहीं कहा गया है, परन्तु उमास्वामी, जटासिहनन्दि, अमृतचन्द आदि आचार्यों ने कहा है। गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो की सख्या प्राय सभी आचार्यों ने एक जैसी मानी है, परन्तु उनके कम एव नाम मे अन्तर अवश्य पाया जाता है। अन्त मे यह कहा जा सकता है कि श्रावकाचार को बीज रूप मे सुव्यवस्थित करने वाले आद्य आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामी हैं। तत्पश्चात् सर्वप्रथम समन्तभद्र ने उनका विस्तृत विवेचन किया है। समन्तभद्र के बाद श्रावकाचार का प्रतिपादन करने वाले सभी आचार्य इन्ही आचार्यों के ऋणी हैं।

सन्दर्भ

1 रत्न0 52
2 त0सूत्र, 7 1
3 रत्न0 86
4 स0सि0 7 1
5 प0 प्र0 2 52 173 5
6 उपा0 316
7 सा0ध0 2 80
8 निशल्यो व्रती त0सूत्र, 7 18
9 अगार्यनगारश्च, त0सूत्र 7 19
10 अणुव्रतोगारी वहीं 7 20
11 वही,, 7 21
12 रत्न0 51
13 उपा0 314
14 चा0पा0,,24
15 रत्न0 59
16 वहीं, 61
17 पद्मचरित 14 184, 185
18 हरिवशपुराण, 10 7 8
19 आदिपुराण 10 63
20 सा0ध0 4 51
21 रत्न0 53
22 स0सि0 7 12
23 त0 वा0 7
24 पु0सि0 43–89
25 उपा0 320
26 अमितगति, श्रावकाचार, 6 7 19
27 सा0ध0 4 5
28 चा0पा0 गा0 24
29 रत्न0 55
30 त0सूत्र 7 14
31 स0सि0 7 14
32 पु0सि0 91–101
33 उपा0 376–391
34 अमितगतिश्रावकाचार 45–58
35 सा0ध0 4 39 योगशास्त्र, 54
36 योगशास्त्र 54

37 त0सूत्र 7 26
38 रत्न0 56
39 उपा0 38
40 चा0पा0 25, 26
41 रत्न0 57
42 चाउज्जामसवर
43 रत्न0 57
44 त0सूत्र 7 15
45 पु0सि0 103—106
46 उपा0 367—369
47 त0सूत्र 7 27
48 रत्न0 58
49 सा0ध04 50 व्याख्या
50 लाटीसहिता, 5 53
51 रत्न0 59
52 स0सि0 7020
53 पु0सि0 118
54 उपा0 405
55 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 338
56 अमितगतिश्रावकाचार 64
57 वसुनन्दि, श्रावकाचार 212
58 सा0ध0 4 52
59 लाटीसहिता पृ0 105
60 सा0ध0स0टीका, 4 52
61 योगशास्त्र पृष्ठ 348
62 रत्न0 60
63 त0सूत्र 7 28
64 पु0सि0 186
65 अमितगतिश्राकाचार 7 6
66 लाटीसहिता 5 48
67 सा0ध0 4 48
68 रत्न0 61
69 त0सूत्र 7 17
70 स0सि0 7 17
71 अमितगति श्रावकाचार 75
72 पु0सि0 115—117
73 उपा0 433
74 त0सूत्र 7 29
75 रत्न0 62
76 सा0ध0 4 64
77 त0सूत्र 6 24
78 चा0पा0 5
79 वही 6
80 त0सूत्र 7 16 30—36
81 रत्न0 51
82 वही 67
83 वही, 91
84 वही, 92—118
85 वही 119
86 वरागचरित 15 117—125
87 पद्मपुराण 14 198 199
88 आदिपुराण, 10 165 166
89 हरिवशपुराण 58 144—183
90 पु0सि0 36
91 वही, 137—174
92 उपा0 449—452
93 वही 453—458
94 वही 459
95 वही 460
96 वही 750—758
97 वही, 759—764
98 वहीं 165—844
99 अमितगति श्रावकाचार, 6 76—81
100 वहीं 6 82—97
101 सा0ध0 5
102 लाटीसहिता, 110
103 कार्तिकेयानुप्रेक्षा 40—67
104 उपा0 214—272
105 सावयधम्मदोहा 65—71

□□□

परिच्छेद तृतीय
मूलगुण और प्रतिमाएं

मूलगुण उन मुख्यगुणो को कहते है, जिन्हे प्रत्येक पाक्षिक श्रावक या श्रद्धावान व्यक्ति को पालन करना आवश्यक होता है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक आचार ग्रन्थ के तृतीय अध्याय मे पाच अणुव्रतो के स्वरूप एव अतिचारो का वर्णन करते हुए अन्त मे अष्ट मूलगुणो का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार पाच अणुव्रतो का पालन करने के साथ साथ मद्य, मास और मधु का त्याग करना अष्ट मूलगुण है।[1]

मूलगुण ऐतिहासिक दृष्टि

समन्तभद्र से पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रावक के मूलगुणो के रूप मे उनका उल्लेख नही किया है, पर चारित्रपाहुड मे चारित्र को सागार और निरागार के भेद से दो प्रकार का बतलाकर सागार को सग्रन्थ और निरागार को परिग्रह रहित कहा है।[2] देशविरत श्रावक के ग्यारह भेदो का उल्लेख करके उन्होने पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो को सागार सयमाचरण कहा है।[3] आगे तीन गाथाओ मे इन बारह व्रतो का सक्षिप्त विवरण देकर चौथी गाथा मे सावयधम्म सयमाचरण के पूर्ण निरूपण का सकेत किया है।[4] उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र मे श्रावक के बारह व्रतो का विवरण तो दिया है[5] किन्तु मूलगुणो का उल्लेख नहीं किया है। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे, भट्ट अकलक ने तत्त्वार्थवार्तिक मे और विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मे भी मूलगुणो का कोई भी निर्देश नही किया है।

जटासिहनन्दि ने श्रावक के बारह व्रतो का उल्लेख किया है, पर मूलगुणो का न तो उल्लेख किया और न ही उनके सम्बन्ध मे प्रकारान्तर से विवेचन किया। दान, पूजा, तप और शील को श्रावको का धर्म बतलाया है।[6] पद्मपुराण मे रविषेणाचार्य ने श्रावक धर्म के वर्णन के प्रसग मे बारह

व्रतो के पालन के साथ मधु, मास, जुआ, मद्य, रात्रि भोजन और वेश्या सगम के त्याग को नियम कहा है, परन्तु मूलगुणो का स्वतत्र रूप मे कोई उल्लेख नही किया।[7] उन्होने रात्रि भोजन त्याग पर अधिक बल दिया है तथा लिखा है कि जो मनुष्य मद्य, मास, रात्रि भोजन, चोरी और परस्त्री का सेवन करता है, वह अपने इस जन्म और पर जन्म को नष्ट करता है।[8] जिनसेन ने हरिवश पुराण के अट्ठारहवे सर्ग मे श्रावक धर्म के अन्तर्गत रविषेण की ही तरह बारह व्रतो को गिनाकर अन्त मे लिखा है कि मद्य, मास, मधु, द्यूत और उदम्बरो का छोडना एव वेश्या और परस्त्री के साथ भोग का त्याग करना नियम है।[9] दशवे सर्ग मे भी गृहस्थ के पाच अणुव्रतो को बतलाकर दान, पूजा, तप और शील को गृहस्थो का धर्म बतलाया है।[10] यद्यपि उपर्युक्त नियम मे मूलगुणो की गणना हो जाती है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे प्रतिमाओ[11] के सन्दर्भ मे मद्य मास आदि का वर्णन तो आया है, पर अष्टमूलगुणो का उल्लेख नही है। वसुनन्दि श्रावकाचार[12] मे अष्टमूलगुणो का निर्देश तो नहीं है, पर पहली प्रतिमा धारी को पाच उदम्बर और तीन मकार के त्याग का वर्णन है।[13] चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार मे मूलगुणो का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होने ' तथा चोक्त महापुराणे ' लिखकर निम्नलिखित उद्धरण दिया है[14] –

हिंसासत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणो सन्त्यष्टमूलगुणाः।।

अर्थात् स्थूल हिसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म, स्थूल परिग्रह तथा जुआ, मास, और मद्य से विरक्त होना ये गृहस्थो के अष्ट मूलगुण हैं।

तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध श्रावक धर्म विवेचक विद्वान् प० आशाधर जी ने अपने सागारधर्मामृत और उसकी टीका मे भी महापुराण के उक्त श्लोक का मत उल्लिखित किया है, परन्तु जिनसेन के महापुराण मे उक्त श्लोक मिलता नहीं है और न वे अष्ट मूलगुण ही मिलते हैं। अडतीसवे पर्व मे व्रताचरण क्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है कि मधु, और मास का त्याग, पाच उदम्बर फलो का त्याग और हिसादि का त्याग सार्वकालिक व्रत है।[15]

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ मे आचार्य अमृतचन्दसूरि ने लिखा है कि हिसा से बचने के अभिलाषी को सर्वप्रथम मद्य, मास, मधु और पाच उदम्बर फलो का त्याग करना चाहिए। ये आठो महान पाप के घर हैं इनका त्याग करने से मनुष्य की बुद्धि निर्मल होती है और तभी वह जैनधर्म को धारण करने योग्य बन पाता है।[16] यद्यपि इन्हे भी आचार्य ने अष्टमूलगुण नाम से नही कहा है, परन्तु लगता यही है कि ये अष्ट मूलगुण हैं।

विक्रम की 1016 शती मे हुए सोमदेव ने भी यशस्तिलक के उपासकाध्ययन मे भी इसी रूप मे अष्ट मूलगुणो का उल्लेख मिलता है।17

मद्यमासमधुत्यागैः सहोदम्बरपचकैः।
अष्टवेतेगृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतेः।।

आचार्य देवसेन ने भी अपने भावसग्रह ग्रन्थ मे ये ही अष्ट मूलगुण बताये हैं।[18]

अहिंसाव्रत का वर्णन करते हुए सुभाषितसन्दोह मे अमितगति आचार्य ने श्रावक को मद्य, मास, मधु और पाच उदुम्बर फलो का त्याग करना आवश्यक बताया है।[19] पद्मनन्दि पचविंशतिका मे भी ये ही मूलगुण बतलाये गये हैं।[20] सावयधम्मदोहा मे मद्य, मास और मधु तथा पाच उदुम्बरो के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है। इसमे यह भी बतलाया गया है कि अष्टमूलगुणो का पालन करो तथा पानी छान कर पियो।[21]

प0 आशाधर जी ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के ग्रन्थो का मन्थन करने के बाद ही सागारधर्मामृत ग्रन्थ की रचना की है अत उन्होने अपने ग्रन्थ मे आचार्य समन्तभद्र एव महापुराणकार मान्य अष्टमूलगुणो को ही उद्धृत किया है। वे लिखते है कि गृहस्थ को सर्वप्रथम जिनागम पर श्रद्धा रखते हुए हिसा से विरत होने के लिए मद्य, मास, मधु और पाच उदुम्बर फलो का त्याग करना चाहिए।[22] मद्य का त्याग, मास का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, पाच उदुम्बर फलो का त्याग, त्रिकाल वन्दना, जीव दया और छना पानी का उपयोग ये अष्ट मूलगुण भी शास्त्रो मे कहे गये है।[23] आचार्य शिवकोटि ने रत्नमाला मे कहा है मद्य, मास, मधु का त्याग तथा

पाच अणुव्रत पुरुषो के मूलगुण हैं।पाच उदुम्बर के साथ अष्टमूलगुण तो बच्चो के लिए हैं।[24] पचाध्यायी मे लिखा है कि व्रतधारी गृहस्थो के आठ मूलगुण होते हैं। कहीं कही अव्रतियो के भी होते हैं, क्योकि ये सर्वसाधारण हैं। ये आठ मूल स्वभाव से या कुल परम्परा से चले आये है। इनके विना न सम्यक्त्व होता है और न व्रत। इनके विना जीव नाम से भी श्रावक नही हो सकता। तब पाक्षिक नैष्ठिक या साधक की तो बात ही क्या है। जिसने मद्य, मास, मधु और पाच उदुम्बर फलो का त्याग कर दिया है, वह नाम से श्रावक है और जिसने त्याग नही किया है, वह नाम से भी श्रावक नहीं है।[25]

श्रावक की एकादश प्रतिमाएं

जैन आचार मीमासा मे ग्यारह प्रतिमाओ के रूप मे व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के लिए ग्यारह सोपान है।[26] समन्तभद्र की दृष्टि मे ये अरहन्त द्वारा प्रणीत श्रावक के ग्यारह पद हैं, जिन्हे पूर्व पूर्व गुणो के साथ अपने अपने गुणो का पालन करते हुए क्रमश बढाया जाता है।[27] प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञाविशेष, नियमविशेष, तपविशेष या व्रत विशेष भी किया जा सकता है। वस्तुत प्रतिमाए तप साधन की कमश बढती हुई अवस्थाये हैं।

अत उत्तर उत्तर प्रतिमाओ मे पूर्व पूर्व प्रतिमाओ के गुण स्वत समाविष्ट हो जाते हैं। जब अन्तिम प्रतिमा का पालन किया जता है तब उसमे आरम्भ से अन्त तक समस्त प्रतिमाओ के गुण रहते हैं। उसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार चाहे वह मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण करे चाहे उसी प्रतिमा को धारण किये रह सकता है।[28]

श्रावक के बारह व्रतो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है कि वह धर्म सभी को सब कालो मे पालन करना सम्भव नही है। इसलिए परिस्थितिया, सुविधाओ तथा व्यक्ति की शारीरिक एव मानसिक स्थिति के अनुसार श्रावक के ग्यारह पद नियत किये गये हैं, जिन्हे प्रतिमा कहते हैं।

प्रतिमा के भेद

जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदाओ मे प्रतिमाओ की सख्या ग्यारह ही मानी गयी है। परन्तु उनके नाम मे थोडा अन्तर है, जो निम्न प्रकार है –

दिगम्बर	श्वेताम्बर
1 दर्शन प्रतिमा	1 दर्शन
2 व्रत प्रतिमा	2 व्रत
3 सामायिक प्रतिमा	3 सामायिक
4 प्रोषध प्रतिमा	4 प्रोषध
5 सचित्तत्याग	5 नियम
6 रात्रिभुक्ति त्याग	6 ब्रह्मचर्य
7 ब्रह्मचर्य	7 सचित्तत्याग
8 आरम्भ त्याग	8 आरम्भ त्याग
9 परिग्रह त्याग	9 प्रेष्य त्याग
10 अनुमति त्त्याग	10 उद्दिष्ट त्याग
11 उद्दिष्ट त्याग	11 श्रमणभूत

स्पष्ट है कि दोनो मान्यताओ मे प्रारम्भिक चार नामो मे कोई अन्तर नहीं है। कुछ मे मात्र कम बदल गया है। श्वेताम्बराभिमत श्रमणभूत प्रतिमा दिगम्बराभिमत उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है क्योकि इन दोनो मे श्रावक का आचरण भिक्षुवत् रहता है। क्षुल्लक और ऐलक श्रमण के ही समान होते हैं।[29] दिगम्बर परम्परा मे सर्वप्रथम प्रतिमाओ के नामो का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने चारित्र प्राभृत मे किया है।[30] इसके बाद आचार्य समन्तभद्र ने ग्यारह प्रतिमाओ का विस्तृत विवेचन रत्नकरण्डश्रावकाचार के सातवे परच्छिेद मे किया हैं। प्राकृत पचसग्रह के 1/116 मे, बारस अणुवेक्खा 69, गोमट्टसार जीवकाण्ड 476, वसुनन्दि श्रावकाचार तथा

महापुराण मे भी प्रतिमाओ का वही कम उल्लिखित है, जो कुन्दकुन्द द्वारा निर्धारित किया गया है। मात्र सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन मे तीसरी प्रतिमा का नाम अर्चा दिया है। अर्चा का अर्थ है पूजा। सोमदेव ने प्रतिमाओ मे पूजा पर विशेष जोर दिया है।

पाचवीं प्रतिमा का नाम आरम्भ त्याग और आठवीं प्रतिमा का नाम सचित्त त्याग दिया है।[31]

सोमदेव ने प्रतिमाओ के पालन करने वालो को तीन भागो मे बाटा है यथा – प्रथम छह प्रतिमा वालो का गृही, आगे की तीन प्रतिमा वालो को ब्रह्मचारी तथा अन्तिम दो प्रतिमा वालो को पूर्ण यति कहा है।[32] प0 आशाधर जी ने भी सोमदेव के श्लोको को उद्धृत करते हुए उसी परम्परा को नाम बदलते हुए स्वीकार किया है।[33] समन्तभद्र के उत्तरवर्ती श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द ने भी योगशास्त्र मे प्रतिमाओ का विवेचन किया है, पर प्रथम प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक के लिए मात्र 69 मास का समय निर्धारित किया है, उसके बाद मुनिपद ही धारण करना होता है।[34] यहा ग्यारह प्रतिमाओ का विशेष विवरण प्रस्तुत है।

1 दर्शन प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार दार्शनिक श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। ससार शरीर और भोगो से विरक्त होता है। पचपरमेष्ठी का भक्त होता है और तत्त्वपथ अर्थात् अष्टमूलगुणो का धारक होता है।[35]

स्वामी कार्तिकेय ने लिखा हे कि जो त्रस जीवो से युक्त मद्य, मास आदि निन्दनीय वस्तुओ का कभी भी सेवन नहीं करता, वह दार्शनिक है।[36] वसुनन्दि लिखते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि पाच उदुम्बर और सात व्यसनो का त्याग कर देता है, वह दार्शनिक श्रावक है।[37] प0 सागारधर्मामृत और लाटीसहिता में दार्शनिक श्रावक के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन किया गया है।

2. व्रत प्रतिमा

व्रत प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि जो शल्य रहित होकर अतिचार रहित पाच अणुव्रत और चार शीलव्रतो को

धारण करता है, उसे व्रती, व्रत प्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं।[38] वसुनन्दि लिखते हैं कि पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का पालन द्वितीय स्थान अर्थात् व्रत प्रतिमा मे होता है।[39] प0 आशाधर जी ने लिखा है कि जिसका सम्यग्दर्शन और मूलगुण परिपूर्ण हैं, जो माया, मिथ्यात्व और निदान रूप तीन शल्यो से रहित है और इष्ट विषयो मे राग एव अनिष्ट विषयो मे द्वेष को दूर करने रूप साम्यभाव की इच्छा से निरतिचार उत्तरगुणो को विना किसी कष्ट के धारण करता है, वह व्रतिक होता है।[40]

3 सामायिक प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र सामायिक प्रतिमा का वर्णन करते हुए लिखते है कि तीन वार चतुरावर्त करके, चार प्रणाम करके जात रूप मे स्थित होकर दो आसनो से, त्रियोग से शुद्ध होकर जो तीनो सन्ध्याओ मे अभिवन्दन करता है, वह सामायिक श्रावक कहलाता है[41] अर्थात् मन, वचन और काय को शुद्ध करके जो तीनो सन्ध्याओ मे सामायिक करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।

वसुनन्दि लिखते हैं कि जो शुद्ध होकर जिनमन्दिर मे या अपने घर मे जिनविम्ब के सम्मुख या अन्य पवित्र स्थान मे पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके प्रतिदिन तीनो सन्ध्याओ मे जिनधर्म, जिनवाणी, जिनविम्ब, जिनालय और परमेष्ठी की वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।[42] जो श्रावक कायोत्सर्ग मे स्थित होकर लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, सयोग वियोग, तृण कचन आदि मे समबुद्धि रखता है तथा पच नमस्कार मत्र को धारण करता है, अष्ट प्रातिहार्य विशिष्ट जिनविम्ब, सिद्ध परमात्मा या निजात्मा का ध्यान करता है, उसकी सामायिक उत्तम है।[43]

प0 आशाधर ने लिखा है कि व्रत प्रतिमा मे जो सामायिक को शीलरूप मे कहा गया है, वही व्रत के रूप मे धारण करने पर प्रतिमा रूप हो जाता है।[44] उन्होने आगे लिखा है कि निरतिचार सम्यग्दर्शन तथा मूलगुण और उत्तरगुणो के समूह के अभ्यास से जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है, जो उपसर्ग आने पर भी तीनो सन्ध्याओ मे साम्यभाव धारण करता है, वह श्रावक सामायिक प्रतिमा वाला होता है।[45]

4 प्रोषध प्रतिमा

समन्तभद्र के अनुसार प्रत्येक माह के चारो पर्व दिनो मे अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषध का नियम लेने वाला शुभ ध्यान मे तत्पर व्यक्ति प्रोषध प्रतिमाधारी कहलाता है।[46] स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे लिखा है कि सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अपराह्न मे जिनमन्दिर मे जाकर सामायिक करके चारो प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास का नियम करले और घर का सम्पूर्ण कार्य छोडकर रात्रि धर्म चिन्तवन पूर्वक व्यतीत करे। प्रात उठकर कियाकर्म करके शास्त्रस्वाध्याय करते हुए अष्टमी या चतुर्दशी का दिन बिताये। प्रात उठकर सामायिक करे फिर पूजन करे और पात्रदान देकर भोजन करे, इसका नाम प्रोषधोपवास है।[47]

वसुनन्दि ने प्रोषधोपवास को तीन प्रकार का बतलाया है।[48] सामायिक और प्रोषधोपवास प्रतिमा मे भी आते हैं और स्वतन्त्र रूप से शीलव्रतो मे आते है। वसुनन्दि ने प्रोषध प्रतिमा का विस्तृत विवेचन किया है। प० आशाधर जी ने लिखा है कि जो श्रावक दर्शन व्रत और सामायिक प्रतिमा मे परिपूर्ण होता हुआ सोलह पहर तक प्रोषध की प्रतिज्ञा लेकर साम्यभाव से अर्थात् भावसामायिक से च्युत नहीं होता, वह प्रोषध प्रतिमा वाला है।[49]

प्रोषध प्रतिमा का धारी प्रोषधोपवास के काल मे चारो प्रकार का आहार, स्नान, तेल, उबटन, गन्ध, पुष्प, विशिष्ट वस्त्र और सावद्य आरम्भ का सम्पूर्ण रीति से त्याग कर देता है। ब्रह्मचर्य का पालन करता है, शरीर आदि से ममत्व नहीं करता। अत समीपवर्ती लोगो को वस्त्र से ढके हुए मुनि की तरह लगता है।

5 सचित्तविरत प्रतिमा

सचित्त विरत प्रतिमा का लक्षण समन्तभद्र ने बताया है कि जो कच्चे मूल फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को नहीं खाता, वह दयामूर्ति सचित्तविरत कहलाता है।[50] स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं कि जो वस्तु स्वय नहीं खाता वह दूसरो को नहीं खिलाना चाहिए क्योकि खाने और खिलाने मे कोई अन्तर नहीं है। अत सचित्त का त्यागी दूसरो को भी सचित्तवस्तु नहीं खिला सकता है।[51]

वसुनन्दि ने लिखा है कि जो हरित् का, त्वक् का, छाल का, पत्र का, प्रवाल कोपल का, कन्द फल, बीज एव अप्रासुक जल का त्याग करता है वह सचित्तत्याग प्रतिमा है।[52] आशाधर ने लिखा है कि पूर्वोक्त चार प्रतिमाओ का पालन करने वाला दयामूर्ति अप्रासुक हरित अकुर, हरित बीज जल नमक आदि को नही खाता, उसे शास्त्रकारो ने सचित्तविरत श्रावक कहा है।[53] लाटी सहिता मे सचित्तविरत प्रतिमा मे सचित्त के भक्षण का नियम है, सचित्त के स्पर्श करने का नियम नहीं है। इसलिए अपने हाथ से उसे प्रासुक करके भोजन मे ले सकता है।[54]

पाचवीं प्रतिमा के साधन मे तत्पर जो श्रावक प्रयोजन वश हरित वनस्पति को पैर से छूने मे भी अत्यन्त घृणा करता है, जिसमे अनन्तनिगोद नामक साधारण शरीर वनस्पतिकायिक जीवो का वास है, उस हरित वनस्पति को क्यो खायेगा, नही खायेगा।[55] स्वामी समन्तभद्र ने भोगोपभोग परिमाण के अतिचार अन्य रूप से कहे हैं। उनमे सचित्त भोजन नहीं है। इसलिए उन्होने हरित मूल, फल, शाक, शाखा आदि को न खाने को सचित्तविरत कहा है। इसमे वनस्पति के सभी प्रकार आ जाते हैं। किन्तु आशाधर जी की तरह उन्होने जल, नमक आदि के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा है। आशाधर का सचित्तत्यागी अप्रासुक को छोडने वाला होता है, किन्तु समनतभद्र स्वामी के मत से केवल सचित्त वनस्पति का त्यागी होता है।

6. रात्रिभुक्तिविरत प्रतिमा

रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे बताया गया है कि जो रात्रि मे अन्नपान, खाद्य और लेह्य नहीं खाता प्राणियो पर अनुकम्पा रखने वाला वह रात्रिभुक्ति विरत कहलाता है।[56] कार्तिकेय के अनुसार जो रात्रि मे चारो प्रकार के आहार का त्याग कर देता है, वह रात्रिभुक्ति व्रती है। वसुनन्दि ने लिखा है कि मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनारूप नौ प्रकार से दिवस मे मैथुन का त्याग करता है, उसे छठवीं प्रतिमा वाला श्रावक समझना चाहिए।[58] लाटीसहिताकार लिखते हैं कि छठवीं प्रतिमा के पूर्व श्रावक रात्रि

मे पानी पी लेता था पर अब पानी भी नहीं पीता, वह रात्रि मे गन्ध, लेप और माला आदि का भी उपयोग नहीं कर सकता, रोगादि की शान्ति हेतु मालिश आदि भी नहीं कर सकता है। इसमे रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग रूप पूर्व प्रतिमा की तरह दिन मे मैथुन का सर्वथा त्याग होता है।[59] प0 आशाधर के अनुसार पूर्वोक्त पाच प्रतिमाओ के नियमो मे पूरी तरह परिपक्व होकर स्त्रियो से वैराग्य के निमित्तो मे एकाग्र मन होता हुआ मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से दिन मे स्त्री का सेवन नहीं करता वह रात्रिभुक्तविरत होता है।[60] उनके अनुसार जितेन्द्रिय पुरुष रात्रि मे भी, रजोदर्शन से आगे के चतुर्थ दिन के अनन्तर ही स्त्री का सेवन करते हैं, वह भी मात्र सन्तान उत्पत्ति हेतु। पर्व के दिनो मे भी स्त्री सेवन नहीं करते हैं।[61]

7 ब्रह्मचर्य प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि जो शरीर को मलबीज, मलयोनि, मलप्रवाही, पूतिगन्धि, बीभत्स अग को देखता हुआ अनग से विरक्त होता है, वह ब्रह्मचारी है।[62] वसुनन्दि के अनुसार जो सदा मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना पूर्वक नौ प्रकार के मैथुन का त्याग करता है और स्त्रियो से सम्बन्ध वाली कथा के सुनने से दूर रहता है, उसका त्याग का देता है, वह सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक है।[63]

प0 आशाधर की दृष्टि मे जो छह प्रतिमाओ का पालन करने वाला श्रावक मन, वचन एव काय से मानर्वा, दैवी, तिर्यची और उनके समान स्त्रियो के सेवन का रात्रि या दिन मे त्याग करता है, वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्म का मतलब है चारित्र, आत्मा, ज्ञान आदि अर्थात् निश्चय से तो आत्मा मे रमण करने वाला ही ब्रह्मचारी है और व्यवहार मे जो सब स्त्रियो के सेवन का त्यागी है, वह ब्रह्मचारी है।[64] स्त्रियो से मतलब केवल मनुष्य जातीय स्त्रिया नहीं वल्कि देवागना और पशु जाति की स्त्रिया और उनकी पत्थर, काष्ठ आदि मे अकित मूर्तिया भी ली जाती हैं। उनका सेवन केवल काय से नहीं, मन, वचन से भी नहीं होना चाहिए।[65]

8. आरम्भत्याग प्रतिमा

हिसा के कारण नौकरी खेती, व्यापार आदि के त्याग को समन्तभद्र ने आरम्भ त्याग प्रतिमा कहा है।[66] कार्तिकेय के अनुसार जो न स्वय आरम्भ करता है और न कराता है और न उसकी अनुमोदना करता है, वह आरम्भ त्यागी है।[67] वसुनन्दि लिखते है कि जो कुछ भी गृह सम्बन्धी आरम्भ है उसका जो त्याग कर देता है, वह आरम्भ त्यागी है।[68] प० आशाधर सागारधर्मामृत मे लिखते हैं कि पूर्व की सात प्रतिमाओ का पूर्ण पालन करने वाला श्रावक प्राणियो की हिसा के कारण खेती नौकरी आदि आरम्भो को मन, वचन, काय से न स्वय करता है और न दूसरो से कराता है, वह आरम्भविरत है।[69] लाटीसहिता के अनुसार आठवीं प्रतिमा से पहले अपने हाथ से सचित्त का स्पर्श करता था किन्तु आठवीं प्रतिमा मे सचित्त द्रव्य को अपने हाथ से नही छूता। यह श्रावक यद्यपि अपने कुटुम्ब मे रहता है परन्तु मुनि की तरह जो कुछ भी तैयार मिलता है, उसे लेता है। प्रासुक जल से अपने वस्त्र स्वय धो लेता है या किसी साधर्मी से धुलवा लेता है।[70]

9. परिग्रहत्याग प्रतिमा

नववीं प्रतिमा का वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि जो दश प्रकार के बाह्य परिग्रहो से ममत्व को छोडकर निर्ममत्वरत स्वस्थ और सन्तोषधारण करता है, उसे परिमित परिग्रह विरत कहते हैं।[71] वसुनन्दि के अनुसार वस्त्र मात्र परिग्रह मे भी मूर्च्छा नहीं रखना, नवमी प्रतिमाधारी श्रावक है।[72] प० आशाधर जी के अनुसार जिसका दर्शन आदि प्रतिमा के व्रतो से सन्तोष बढा हुआ है, वह आरम्भविरत श्रावक है। ये मेरे नही हैं, और न मैं इनका हू ऐसा सकल्प करके मकान, खेत आदि परिग्रहो को जो छोड देता है, उसे परिग्रह विरत कहते है।[73] उन्होने यह भी कहा है कि तत्वज्ञान से सम्पन्न नवम् प्रतिमाधारी श्रावक समस्त चेतन अचेतन परिग्रह को छोडकर, ममत्वभाव से होने वाली सयम सम्बन्धी शिथिलता को दूर करने के लिए उपेक्षा का चिन्तन करता हुआ कुछ समय घर मे रहे।[74] चारित्रसार मे कहा गया है कि जो परिग्रह क्रोधादि कषायो को आर्त और रौद्रध्यान, हिसा आदि पाच पापो को भय की भूमिका मानता है, धर्मध्यान

और शुक्लध्यान का घातक मानकर दश प्रकार के बाह्य परिग्रह से निवृत्त सन्तोषी श्रावक परिग्रह त्यागी होता है।[75] लाटीसहिता के अनुसार नवमी प्रतिमा के पूर्व श्रावक सुवर्ण आदि का परिग्रह घटाता जाता है, किन्तु नवमी मे उसे सर्वथा त्याग देता है। अपने शरीर के लिए वस्त्र मकान तथा धर्म के साधन मात्र रखकर शेष सबका त्याग कर देता है। पहले अपनी सम्पत्ति का स्वामी था पर अब इस प्रतिमा मे सबका जीवन पर्यन्त के लिए त्यागकर नि शल्य हो जाता है।[76]

10 अनुमतित्याग प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र ने बताया है कि जिसके खेती आदि के आरम्भ मे, परिग्रह मे अथवा इस लोक सम्बन्धी कार्यो मे अनुमोदना नहीं है, वह समान बुद्धि का धारी श्रावक अनुमतित्याग प्रतिमा का धारी माना गया है।[77] वसुनन्दि ने लिखा है कि जो अपने घर वालो का या अन्य किसी के द्वारा पूछे या न पूछे जाने पर अपने घर के कार्य मे अनुमति नही देता है, उस श्रावक को दशवी प्रतिमा वाला जानना चाहिए।[78] आशाधर के अनुसार जो श्रावक धन धान्य आदि परिग्रह, कृषि आदि आरम्भ और इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कर्म मे मन, वचन, काय से अनुमति नहीं देता है, वह अनुमतिविरत है।[79] इस प्रतिमा के धारी को मन्दिर मे बैठकर स्वाध्याय करना चाहिए और बुलाने पर धार्मिक के घर भोजन आदि को जाना चाहिए।[80] लाटीसहिताकार के अनुसार दशवीं प्रतिमा तक श्रावक का कोई विशेष भेष नही होता। चोटी, जनेऊ जो चाहे रख सकता है, न चाहे तो नही रखे।[81]

11 उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि मे जो श्रावक घर को त्याग कर मुनियो के पास वन मे जाकर गुरु के समक्ष व्रत धारण करके भिक्षा भोजन करे, तपस्या करे और खण्ड वस्त्र धारण करे, वह उद्दिष्ट त्यागी श्रावक है।[82] वसुनन्दि के अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमा पालक श्रावक उत्कृष्ट श्रावक है। वह दो प्रकार का होता है– प्रथम एक वस्त्र धारण करने वाला और दूसरा

कोपीन मात्र परिग्रह धारण करने वाला।[83] आशाधर लिखते हैं कि उन उन व्रत रूपी अश्वो के द्वारा पूरी तरह से छिन्न भिन्न किये जाने पर भी जिसका मोहरूपी महान् वीर किचित् जीवित है, वह उत्कृष्ट अन्तिम श्रावक अपने उद्देश्य से बने भोजन को भी छोड दे।[84] चारित्रसार मे लिखा है कि उद्दिष्टविरत श्रावक अपने उद्देश्य से बनाये गये भोजन, उपधि, शयन, वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करता, वह एक शाटक धारण करता है, भिक्षा भोजी है, बैठकर हस्तपुट मे भोजन करता है। रात्रि प्रतिमा आदि तप तपता है, आतापन योग आदि नहीं करता।[85] अमितगति श्रावकाचार मे प्रतिमाओ का साधारण कथन किया गया है, परन्तु षडावश्यको के वर्णन के बाद कहा गया है कि उत्कृष्ट श्रावक वैराग्य की परम भूमि और सयम का घर होता है। वह सिर, दाढी और मुह के वालो का मुण्डन कराता है। केवल लगोटी या वस्त्र के साथ लगोटी रखता है। एक ही स्थान पर अन्न जल ग्रहण करता है। वह पात्र हाथ मे लेकर धर्मलाभ कहकर घर घर से भिक्षा मागता है। इस प्रकार अमितगति के अनुसार उत्कृष्ट श्रावक या तो एकमात्र लगोटी रखे या वस्त्र के साथ लगोटी रखे।[86]

वसुनन्दि ने इसी आधार पर उत्कृष्ट श्रावक के दो भेद किये हैं– एक वस्त्रधारी दूसरा कोपीनधारी। प्रथम उत्कृष्ट श्रावक छुरे आदि से हजामत बनवाता है। उपकरणो का ध्यान रखता है। बैठकर हाथ मे या बर्तन मे एक बार भोजन करता है। पर्व मे नियम से उपवास करता है।[87] दूसरा श्रावक भी उपर्युक्त कियाये करता है, पर वह केशलुच करता है, पीछी रखता है और हाथ मे भोजन करता है। इन उत्कृष्ट श्रवको को मुनि की वृत्ति से अपनी समस्त कियाये करने का सिद्धान्त अर्थात् सूत्ररूप परमागम का और प्रायश्चित शास्त्र के अध्ययन का अधिकार नहीं है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार मे समन्तभद्र ने इन सभी बातो पर कोई भी विचार प्रस्तुत नहीं किया है। उत्तरवर्ती आचार्य वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार मे इसका विस्तार से वर्णन किया है। प0 आशाधर जी ने अपने सागारधर्मामृत मे इन सब बातो को वसुनन्दि से लिया है। लाटीसहिताकार ने वसुनन्दि श्रावकाचार की गाथा उद्धृत करके उद्दिष्ट त्यागी श्रावक के क्षुल्लक

और ऐलक दो भेद बतलाये हैं और विस्तार से दोनो की विधियो का वर्णन किया है। उक्त ग्यारह प्रतिमाओ मे प्रथम छ प्रतिमाओ तक के नियमो के पालन करने वाले को जघन्य श्रावक कहा जाता है, उन्हे गृहस्थ कहते हैं। सातवीं, आठवीं एव नवमी प्रतिमा वाले को मध्यम श्रावक कहते हैं। शेष दो प्रतिमा वाले को उत्कृश्ट श्रावक या भिक्षु कहते हैं।

निष्कर्ष

अष्ट मूलगुणो का पालन करने वाला श्रावक ही जैन कहलाने का अधिकारी है। मूलगुणो मे पाच अणुव्रत भी समाहित हैं। प्रतीत होता है कि स्मृतियो मे मद्य, मास मधु के समर्थन के कारण इनके त्याग को ही जैनाचार्यों ने जैनाचार का आधार बनाया है। वस्तुत जिनभगवान् के चरणो की शरण मे आये हुए मनुष्यो को त्रस हिसा से बचने के लिए मधु और प्रमाद से बचने के लिए मद्य का त्याग करना आवश्यक है।[89] मद्य मन को भ्रमित कर देता है, जिससे व्यक्ति धर्म को भूलकर, नि शक हिसा करता है।[90] तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारो ने अपने ग्रन्थो मे मूलगुणो का उल्लेख किया है। जटासिहनन्दि आदि आचार्यों ने भी इन्हीं का अनुकरण किया है। समन्तभद्र के पश्चात् स्पष्ट रूप मे मूलगुणो का उल्लेख करने वाले चामुण्डराय आशाधर, अमृतचन्द सूरि, सोमदेव आदि आचार्य हैं। ग्यारह प्रतिमाए जैन आचार की वह अपूर्व निधि है, जिसमे बताया गया है कि साधारण व्यक्ति कैसे अपना कमिक विकास करता हुआ भगवान बन सकता है।

सन्दर्भ

1 रत्न0 66
2 चा0पा0 21
3 वहीं 22 23
4 वहीं 24–27
5 त0सूत्र 7
6 व0च0 सर्ग 22
7 प0पु0 14 202
8 वहीं 14 277
9 हरिवशपुराण 18 45–48
10 वही 10 7 8
11 कार्ति0 328
12 वसुनन्दिश्रावकाचार 205
13 वहीं, 70–79
14 चारित्रसार पृ0 62
15 सा0ध0अध्याय 2 पृष्ठ 64
16 पु0सि0 61 74
17 उपा0 270
18 भावसग्रह, गाथा 356
19 सुभाषितरत्न सदोह 765
20 पचविशतिका 6 23

21 सावयधम्मदोहा 22 26
22 सा0ध0 2 2 3
23 वही 2 18
24 रत्न0
25 पचाध्यायी, 723–726
26 रत्न0 136–147
27 वही 136
28 मेहता मोहनलाल जैनधर्म दर्शन पृष्ठ 560
29 वही पृ0 264 265
30 चारित्रपाहुड 21
31 उपा0 853 854
32 वही 856
33 सा0ध0 3 2 3
34 योगशास्त्र टीका 3 148
35 रत्न0 137
36 कार्ति0 328
37 वसुनन्दि श्रावकाचार 57
38 रत्न0 138
39 वसुनन्दि श्राव0 207
40 सा0ध0 4 1
41 रत्न0 139
42 वसुनन्दि श्राव0 274 275
43 वही 276, 278
44 सा0ध0 टीका 7 1
45 वही
46 रत्न0 140
47 कार्ति0 373–376
48 वसुनन्दि श्राव0 280
49 सा0ध0 7 9
50 रत्न0 141
51 कार्ति0 380
52 वसुनन्दि श्राव0 292
53 सा0ध0 7 8
54 लाटीसहिता 7 17
55 सा0ध0 7 9
56 रत्न0 142
57 कार्ति0 81
58 वसुनन्दि श्राव0 296
59 लाटीसहिता 6 19 20
60 सा0ध0 7 12
61 वही 7 14
62 रत्न0 145
63 वसुनन्दि श्राव0 297
64 सा0ध0 7 16
65 वही टीका 7 16
66 रत्न0 144
67 कार्ति0 385
68 वसुनन्दि श्राव0 298
69 सा0ध0 7 21
70 लाटीसहिता 32
71 रत्न0 145
72 वसुनन्दि श्राव0 299
73 सा0ध0 7 23
74 वहीं 7 29
75 चारित्रसार पृष्ठ 19
76 लाटीसहिता 7 39–42
77 रत्न0 146
78 वसुनन्दि श्राव0 300
79 सा0ध0 7 30
80 वही 7 31
81 लाटीसहिता 125
82 रत्न0 147
83 वसुनन्दि श्राव0 301
84 सा0ध0 7 37
85 चारित्रसार पृष्ठ 19
86 अमितगति श्राव0 8 73–75
87 वसुनन्दि श्राव0301–303
88 मनुस्मृति 27–44
89 रत्न0 84
90 पु0सि0

❑❑❑

चतुर्थ अध्याय

आप्तमीमांसा अनुशीलन

परिच्छेद प्रथम

आप्तमीमासा की विषयवस्तु का विश्लेषण

प्रस्तुत परिच्छेद मे आप्तमीमासा की विषयवस्तु का ग्रन्थ की कारिका अनुक्रम के अनुसार विश्लेषण किया गया है। यद्यपि इस विश्लेषण मे यत्र तत्र विभिन्न मतावलम्बियो एव उनके मतो का नामोल्लेख किया गया है पर समन्तभद्र ने किसी भी मतावलम्बी का अपने ग्रन्थ मे नाम नहीं लिया है। मूल सामग्री के साथ उसका विश्लेषण करना इसलिए आवश्यक था कि जिससे विषयवस्तु अधिक स्पष्ट हो सके तथा मूल विषयवस्तु के आधार पर कृति का वास्तविक समय निर्धारण आदि मे भ्रम की स्थिति उत्पन्न न हो।

आप्तमीमासा मे समन्तभद्र ने प्रथम छह कारिकाओ मे आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम आचार्य ने आप्तता के हेतुओ पर विचार किया है। तदनुसार बाह्य विभूतियो के आधार पर आप्तता का निर्धारण नही हो सकता। देवो का आना, आकाश मे गमन तथा चवर आदि विभूतिया आप्तता को सिद्ध नही कर सकती क्योकि ये इन्द्रजाल आदि जानने वाले मायावियो मे भी पायी जाती है।[1]

इसी प्रकार अन्तरग और बाह्य अतिशय सत्य होते हुए भी वे आप्तता को सिद्ध नहीं कर सकते। जैसे देवो का शरीर दिव्य होता है। उनका अन्य वैभव भी वास्तविक होता है तथापि देव राग द्वेष आदि से युक्त होते हैं। अतएव अन्तरग और बाह्य अतिशय भी आप्तता को सिद्ध नहीं कर सकते।[2]

समन्तभद्र के आद्य भाष्यकार भट्ट अकलक ने आप्तमीमासा भाष्य मे उपर्युक्त हेतुओ का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि देवागम, नभोयान, चामरादि विभूतियो का आप्तता का हेतु मानने पर वह हेतु आगमाश्रित हो जाता है। इसलिए इस हेतु से आप्तता की सिद्धि नहीं की जा सकती।[3]

समन्तभद्र के द्वितीय भाष्यकार आचार्य विद्यानन्द ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए **मष्करी** का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि इसके मत को मानने वाले बाह्य विभूतियो को ही आप्तता का हेतु मानते थे।[4] इसी प्रकार द्वितीय कारिका के भाष्य मे अकलक ने अन्तरग और बाह्य अतिशयो को आप्तता का हेतु मानने पर उसे व्यभिचारी हेतु कहा है। अकलक ने यहा **पूरणादिषु** कहकर **पूरणकश्यप** के साथ अन्य एकान्तवादियो की ओर भी सकेत किया है।[5] यह उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। महावीर के समकालीन जिन पाच अन्य तीर्थंकरो के उल्लेख पालित्रिपिटक तथा अर्द्धमागधी आगमो मे उपलब्ध होते हैं, उनमे पूरणकष्यप भी है। उनके मतानुयायी भी विभूतियो को आप्तता का हेतु मानते थे, ऐसा अकलक के कथन से स्पष्ट होता है। समन्तभद्र ने आप्तता के तीसरे हेतु पर विचार करते हुए लिखा है कि तीर्थकरत्त्व आप्तता का हेतु नहीं हो सकता क्योंकि विभिन्न तीर्थ प्रवर्तको के मतो में परस्पर विरोध देखा जाता है। यदि सभी मे आप्तता मानी जाये तो उनके मतो मे विरोध नहीं होना चाहिए, जब विरोध है तो आप्तता का हेतु तीर्थकरत्व नहीं हो सकता।[8]

आप्तमीमासा के भाष्यकार अकलक ने लिखा है कि आप्तता सिद्ध करने के लिए दिया गया तीर्थकरत्व हेतु अनैकान्तिक है।[9] क्योकि देवो या इन्द्रादिकों मे तीर्थकरत्व नहीं पाया जाता, सुगत अर्थात् बुद्ध आदि मे पाया जाता है क्योकि उन्होने बौद्धधर्म का प्रवर्तन किया।

विद्यानन्द ने भी अपनी अष्टसहस्री मे कुमारिल को उद्धृत करते हुए लिखा है कि अगर सुगत को सर्वज्ञ माना जाये तो कपिल को सर्वज्ञ क्यो नहीं माना जाता और यदि दोनों को सर्वज्ञ माना जाता है तो दोनो मे मतभेद क्यो।[10]

इस प्रकार सर्वज्ञ को मानने वाले बौद्ध, साख्य आदि सम्प्रदायो मे परस्पर विरोध होने के कारण बुद्ध, कपिल आदि सभी न तो सर्वज्ञ हो सकते हैं और न कोई एक ही। किसी एक को सर्वज्ञ मानने मे और दूसरे

को सर्वज्ञ न मानने मे कोई युक्ति नहीं है। सर्वज्ञ को न मानने वाले मीमासक, चार्वाक आदि सम्प्रदाय भी परस्पर मे विरोधी होने के कारण युक्ति सगत नही है। इसलिए अर्हन्त भगवान ही दोषो और आवरणो की अत्यन्त हानि होने से और समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने के कारण ससारी प्राणियो के प्रभु हैं।

आप्तता के हेतुओ पर विचार करते हुए समन्तभद्र लिखते हैं कि कोई एक विशिष्ट व्यक्ति ही आप्त हो सकता है। उपर्युक्त कारणो से आप्तता को सिद्ध नही कर सकते। किसी पुरुष विशेष मे दोष और आवरण की पूर्ण हानि मे अतिशय देखा जाता है जैसे खान से निकाले हुए सोने आदि मे कीट आदि बहिरग और कालिमा आदि अन्तरग मल रहता है किन्तु अग्नि मे तपाने आदि के कारण उसमे अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकार के मलो का नाश हो जाता है।[11] समन्तभद्र के इन विचारो को अकलक और विद्यानन्द ने अपनी व्याख्याओ मे और अधिक स्पष्ट किया है। समन्तभद्र द्वारा दिये गये हेतुओ मे सिद्ध साधन अनैकान्तिकता आदि दोष बताये जा सकते हैं जिनका अकलक ने और विद्यानन्द ने विस्तार से निराकरण किया है। उनके अनुसार साध्य को ठीक से न समझने के कारण ही सिद्ध साधनता का प्रश्न उठाया जा सकता है। वास्तव मे यहा दोष और आवरण की हानि अभीष्ट है किसी एक की नही क्योकि दोनो मे कार्य कारण सम्बन्ध है तथा दोनो क्रमश दो विभिन्न द्रव्यो जीव और पुद्गल के स्वभाव हैं। अनैकान्तिकता का दोष उपस्थित करना भी उचित नही क्योकि मीमासा दर्शन का कथन है कि दोष और आवरण की नि शेष हानि के साथ बुद्धि की भी नि शेष हानि हो जाती है। परन्तु उक्त कथन तर्क सगत नही है क्योकि बुद्धि जीव का स्वाभाविक परिणाम है। पर्याय की दृष्टि से जो बुद्धि आगन्तुक रूप मे होती है उसका तो व्यय अवश्य होता है किन्तु जो जीव के स्वाभाविक परिणाम रूप है, उसका कभी भी क्षय नहीं होता।

इस क्रम मे समन्तभद्र अनुमान प्रमाण द्वारा भी व्यक्ति विशेष मे सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं। जैसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी व्यक्ति विशेष के प्रत्यक्ष होते हैं क्योकि वे अनुमेय हैं यथा अग्नि आदि

अनुमेय हैं, वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं। अत व्यक्ति विशेष मे सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।[12] अकलक और विद्यानन्द ने अपने अष्टशती और अष्टसहस्री भाष्यो मे इस हेतु पर भारतीय दार्शनिको के सन्दर्भ मे विशेष विचार किया है। यथा – जिनका स्वभाव इन्द्रियो से नहीं जाना जा सकता उनको सूक्ष्म विप्रकृष्ट कहते हैं जैसे परमाणु आदि। अतीत और अनागत कालवर्ती पदार्थों को अन्तरित कहते हैं जैसे राम रावण आदि। जिनका देश दूर है उनको दूरार्थ कहते हैं जैसे सुमेरु पर्वत आदि।

सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियो से नही हो सकता है क्योकि इन्द्रिया केवल स्थूल वर्तमान और निकटवर्ती अर्थ को जानती हैं। अत हम परमाणु आदि का ज्ञान अनुमान प्रमाण से करते हैं। परमाणु की सत्ता है। यदि परमाणु न होते तो घट आदि कार्यों की उत्पत्ति कैसे होती, इस प्रकार के अनुमान से परमाणु का ज्ञान किया जाता है। जिन पदार्थों का ज्ञान अल्पज्ञ प्राणी अनुमान से करते हैं, उनको प्रत्यक्ष जानने वाला भी कोई पुरुष होना चाहिए। ऐसा देखा जाता है कि जो पदार्थ अनुमान से जाने जाते हैं, वे पदार्थ प्रत्यक्ष से भी जाने जाते हैं। जैसे दूरवर्ती पुरुष पर्वत मे स्थित अग्नि को **पर्वतोऽयं बह्निमान् धूमवत्त्वात्** अर्थात् इस पर्वत मे अग्नि है क्योकि वहा धूम का सद्भाव है, यह अनुमान से जानता है तो पर्वत पर रहने वाला पुरुष उसे प्रत्यक्ष से जानता है। ऐसा कहीं नही है कि पर्वत मे जिस अग्नि को दूरवर्ती पुरुष अनुमान से जानता है, उसको प्रत्यक्ष से जानने वाला कोई न हो । यही बात परमाणु आदि के विषय में भी है। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं। अत कोई न कोई पुरुष ऐसा अवश्य होगा, जो उसे प्रत्यक्ष जानता है, उन पदार्थों को साक्षात् जानने वाला जो पुरुष है, वही सर्वज्ञ है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

मीमासक का कथन है कि सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नहीं है किन्तु **सूक्ष्मान्तिरितदूरार्था कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्** इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होने के कारण मीमासक का कथन ठीक नही है। आचार्य समन्तभद्र अनुमान स सर्वज्ञ सिद्धि करन के बाद कहत हैं कि

अर्हन्त ही वीतराग तथा सर्वज्ञ हैं क्योकि उनके वचन युक्ति और आगम से अविरोधि हैं और इष्टतत्त्व मोक्षादि मे किसी प्रमाण से बाधा नही आती है। अर्हन्त ने मुख्यत चार तत्त्वो का उपदेश दिया है – 1 मोक्ष 2 मोक्ष के कारण 3 ससार 4 ससार के कारण।[14]

आप्तमीमासा मे बताया गया है कि जिन एकान्तवादियो ने अनेकान्तवाद को समझा नहीं है, उसके स्वरूप का आस्वाद नहीं लिया है और वस्तु तत्त्व को सर्वथा एकान्त रूप से मानते हुए स्वय को आप्त मान रहे हैं ऐसे अभिमानी व्यक्तियो का मत प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता है। – कारिका, 7

ससार मे कई तरह के लोग हैं कुछ क्षणिकैकान्तवादी हैं, कोई नित्यैकान्तवादी हैं, कोई शब्द मात्र को ही तत्त्व मानते हैं, कोई ब्रह्ममात्र को सत्ता मानते हैं, कोई शून्यवादी हैं आदि। परन्तु जब इन एकान्तो की परीक्षा की जाती है तो उनमे प्रत्यक्ष से बाधा आती है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह भलीभाति प्रतीत होता है कि कोई भी तत्त्व एक धर्मात्मक नही हैं, किन्तु अनेक धर्मात्मक हैं।

आप्त के स्वरूप का विवेचन करने के बाद समन्तभद्र ने कारिका क्रमाक आठ से बाईस तक एकान्तवादों के अन्तर्गत भावैकान्त, अभावैकान्त एव उभयैकान्त रूप एकान्तवादो का विवेचन करके उन्हे सदोष सिद्ध करते हुए स्याद्वाद से वस्तु को अनेकान्तात्मक अर्थात् भाव और अभाव रूप विरोधी युगल को लेकर उसे सप्तभगात्मक सिद्ध किया है। उनके अनुसार वस्तु तो अनन्तधर्मात्मक है परन्तु जो एकान्तवादी अनन्त धर्मों मे से किसी एक ही धर्म को मानते हैं वे अपने भी शत्रु हैं और दूसरे के भी शत्रु हैं। उनके यहा पुण्य कर्म एव पाप कर्म तथा परलोक आदि कुछ भी नही बन सकते हैं।–8

साख्य आदि जो तत्व को भाव रूप ही मानते हैं, ऐसे सिद्धान्तो के प्रति समन्तभद्र का कहना है कि एकान्त रूप से पदार्थ को भाव रूप मानने पर अभाव रूप पदार्थों का अर्थात प्रागभाव, प्रध्वसाभाव अन्योन्याभाव और

अत्यन्ताभाव का लोप हो जायेगा। यदि वस्तु धर्मो का लोप करते हो तो वस्तु तत्व अनादि अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है और वह अर्हन्त मत मे उचित नही है। प्रागभाव नहीं मानने पर घट आदि द्रव्य अनादि हो जायेगा और प्रध्वसाभाव को नही मानेगे तो कार्यद्रव्य अनन्तता को प्राप्त हो जायेगा।–9,10 अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव के न मानने वालो के मत मे निम्न दोष उत्पन्न होते हैं।

अन्यापोह के व्यतिकम करने पर किसी का इष्ट तत्त्व सब रूप हो जायेगा और अत्यन्ताभाव के अभाव मे किसी भी इष्ट तत्त्व का किसी भी प्रकार से कथन नही हो सकेगा अर्थात् वह चेतन या अचेतन है, ऐसा कथन नहीं बन सकेगा।–11

अभाववादी भाव की सत्ता को किसी भी प्रकार स्वीकार नही करते। उनके मत मे अभाव ही सत्य है और भाव स्वप्न ज्ञान की तरह मिथ्या है। स्वप्न मे नाना पदार्थों का ज्ञान होता है और स्वप्न मे जाने हुए पदार्थ पूर्णत सत्य प्रतीत होते है, परन्तु स्वप्न के बाद उन पदार्थों का कोई अस्तित्व नही रहता है। इसी प्रकार की दशा जाग्रत अवस्था मे जाने गये पदार्थ की होती है। दोनो में मात्र इतना अन्तर है कि स्वप्न प्रतीत पदार्थ कुछ क्षण ही ठहरते हैं तथा स्वप्न देखने वाला व्यक्ति उन्हे प्रत्यक्ष देखता है और जाग्रत अवस्था मे जाने गये पदार्थ अधिक समय तक ठहरते हैं। अनेक व्यक्ति उन्हे प्रत्यक्ष देखते हैं किन्तु इतने मात्र से उनकी पारमार्थिक सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अत स्वप्नज्ञान के विषयभूत पदार्थों की तरह जाग्रत के विषयभूत पदार्थ भी मिथ्या हैं, केवल अभाव ही सत्य है।

तत्त्वत विचार किया जाये तो अभावैकान्तवादियो के यहा स्वमत सिद्धि और पर मत खण्डन के लिए कोई प्रमाण नही हैं। समन्तभद्र लिखते हैं कि जब अभावैकान्त पक्ष मे किसी भी तत्त्व का सद्भाव नहीं है तो प्रमाण का भी अभाव होगा और प्रमाण के अभाव मे स्वपक्षसिद्धि और परमत मे दोष नितान्त असम्भव है। अभावैकान्त पक्ष मे न बोध प्रमाण है न वाक्य।–12

कुछ लोग भाव को भी मानते हैं और अभाव को भी या दोनो को निरपेक्ष मानते हैं। परन्तु निरपेक्ष मान्यता युक्तिसगत नहीं है क्योकि जो स्याद्वाद न्याय से द्वेष रखने वाले हैं उनके यहा भाव और अभाव का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं बन सकता है। क्योकि दोनो के सर्वथा एकात्म्य मानने मे विरोध आता है। अवाच्यतैकान्त भी नहीं बन सकता क्योकि इसमे भी, यह अवाच्य है, ऐसे वाक्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।–13

वस्तु न तो सर्वथा सत्रूप ही है न सर्वथा असत् रूप ही है किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है और किसी अपेक्षा से असत् है। ऐसा नहीं है कि एक वस्तु सत् है और दूसरी असत् है। किसी अपेक्षा से जो वस्तु सत् है वही वस्तु अन्य अपेक्षा से असत् भी है। ऐसी ही स्थिति वस्तु के उभयात्मक तथा अवाच्य होने मे है। वस्तु न तो सर्वथा उभयात्मक है और न अवाच्य हैं। जैनशासन मे सर्वत्र नय दृष्टि से विचार किया जाता है अर्थात् वक्ता जिस अभिप्राय से किसी वस्तु को कहना चाहता है उस वस्तु का उसी दृष्टि से विचार किया जाता है। वक्ता के अभिप्राय का घ्यान न रखे जाने की स्थिति मे बडी अव्यवस्था हो सकती है। अत अव्यवस्था मिटाने के लिए एव किसी भी प्रमाण से बाधक न होने देने के लिए नय विवक्षा से वस्तुतत्त्व का निर्णय किया जाता है।–14

वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र,काल और स्वभाव की अपेक्षा सत् और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और स्वभाव की अपेक्षा असत् ऐसा कौन नहीं मानेगा अर्थात् सभी मानेगे क्योकि घट अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् रूप है पर पट के द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा असत् रूप है। ऐसी ही व्यवस्था जीव अजीव आदि में भी होती है। अत वस्तु न तो सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है किन्तु स्वद्रव्यादि की अपेक्षा सत् और पर द्रव्यादि की अपेक्षा असत् है।–15

सप्तभगी के दो भगो को स्पष्ट करने के बाद आचार्य कहते हैं कि जब कम से स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सत् तथा पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् होते हैं, उस समय वस्तु कथचित् उभयात्मक होती है।

जब कोई व्यक्ति स्वरूपादि चतुष्टय तथा पररूपादि चतुष्टय के द्वारा वस्तु के सत्वादि धर्मों का प्रतिपादन एक साथ करना चाहता है, तब कथनीय न होने के कारण वस्तु को अवाच्य या अवक्तव्य मानना पडता है। इसी प्रकार स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य सिद्ध होते हैं।–16

ब्रह्माद्वैतवादियो के अनुसार तत्त्व मे अस्तित्व गुण होता है, नास्तित्व नहीं क्योकि नास्तित्व तो परवस्तु के आश्रित है। अत वह वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्र इसका समाधान देते हुए लिखते है कि विशेषण होने से जहा जहा अस्तित्व गुण होता है वहा वहा नास्तित्व भी होता है कयोकि दोनो अविनाभावी हैं। इन दोनो धर्मों का अधिकरण एक ही होता है। एक वस्तु मे अस्त्तिव हो और दूसरी वस्तु मे नास्तित्व हो ऐसा मानना प्रतीति विरूद्ध है अस्तित्व और नास्तित्व ये एक ही वस्तु के विशेषण हैं। जैसे साधर्म्य और वैधर्म्य दोनो हेतु के विशेषण हैं तथा परस्पर एक दूसरे के सापेक्ष हैं। उसी तरह तत्त्व मे अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनो एक सिक्के के दो पहलू की तरह हैं।–17

यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि अस्तित्व और नास्तित्व का अविनाभाव सम्बन्ध है, यह मान लेने पर भी नास्तित्व और अस्तित्व का अविनाभावी कैसे हो सकता है, जैसे आकाश पुष्प मे अस्तित्व सम्भव नहीं है। आप्तमीमासा मे इसका समाधान यह दिया गया है कि एक ही वस्तु मे विशेषण होने से नास्तित्व अपने प्रतिषेध्य अस्तित्व का अविनाभावी है, जैसे हेतु मे वैधर्म्य साधर्म्य का अविनाभावी होता है। कुछ ऐसा मानते हैं कि अस्तित्व और नास्तित्व जीवादि वस्तुओ से सर्वथा भिन्न है और वस्तु अस्तित्व नास्तित्व रूप नहीं है। कुछ ऐसा कहते हैं कि अस्तित्व और नास्तित्व विशेषण ही हैं, विशेष्य नहीं एव अभिलाप्य भी नहीं हैं। समन्तभद्र ने इसका समाधान देते हुए बताया है कि अपेक्षा भेद से तत्त्व व्यवस्था मे कोई विरोध नहीं आता है, जैसे धूम बह्नि का रूप होता है और जल का हेतु नही होता है। वही धूम हेतु है और वही धूम अहेतु है। अपेक्षा के भेद से उसी धूम को हेतु और अहेतु मानने मे कोई विरोध नहीं है। विरोध तब होता है जब धूम को बह्नि

का हेतु और बह्नि का ही अहेतु माना जाता। उसी प्रकार वस्तु को भी कथचित् अस्तित्व और नास्तित्व रूप मानने मे किचित् मात्र भी विरोध नहीं है। वस्तु मे अस्तित्व दूसरी अपेक्षा से और नास्तित्व दूसरी अपेक्षा से है। अस्तित्व और नास्तित्व वस्तु के विशेशण हैं और वस्तु विशेष्य है। वस्तु निरश और निरभिलाप्य नहीं है किन्तु साश और शब्द गोचर है। इसी प्रकार शेष भग जैनशासन मे नय की अपेक्षा से अविरोधी मानना चाहिए। तात्पर्य कि वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने मे कोई विरोध नहीं है।

विधि और निषेध के द्वारा अनवस्थित अर्थात् उभयरूप अर्थ ही कियाकारी होता है अर्थात् जो द्रव्य की अपेक्षा से सत् और पर्याय की अपेक्षा से असत् होता है, वही पदार्थ अर्थकिया कर सकता है। इसके अभाव मे अर्थकिया का होना असम्भव है। जो पदार्थ सत् अथवा असत् है वह सैकडो सहकारी कारणो के मिलने पर भी कार्य नहीं कर सकता है।–18–21

जीवादि जितने पदार्थ हैं उन सबमे अनन्त धर्म पाये जाते हैं। उन अनन्त धर्मों मे से प्रत्येक धर्म का अर्थ अलग अलग होता है। एक धर्म के प्रधान होने पर शेष धर्मों की प्रतीति गौण रूप से होती है।–22 जिस प्रकार सत्व और असत्व मे सप्तभगी प्रकिया होती है उसी प्रकार एक अनेक आदि धर्मों मे भी होती है। एकत्व मे सप्तभगी प्रकिया का उदाहरण – 1 स्यादेक द्रव्यम् 2 स्यादनेक द्रव्यम् 3 स्यादेकमनेक द्रव्यम् 4 स्यादवक्तव्यम् 5 स्यादेकमवक्तव्य च द्रव्यम् 6 स्यादनेकमवक्तव्य च द्रव्यम् 7 स्यादेकमनेकमवक्तव्य च द्रव्यम्। इस प्रकार सभी द्रव्यो मे सत्व असत्व, एक अनेक आदि धर्म पाये जाते हैं। एक ही वस्तु का सद्भाव मानना अद्वैतेकान्त है या इस तरह के ब्रह्माद्वैत आदि जितने भी एकान्त हैं सभी दोषयुक्त हैं क्योकि उनमे भी कारक और कियाओ का प्रत्यक्ष सिद्ध भेद है, उसमे विरोध आता है। यह सत्य है कि एक वस्तु स्वय अपने से उत्पन्न नहीं हो सकती। जहा अद्वैत है वहा द्वैत की कल्पना करना भी मूर्खता है। अत अद्वैत एकान्त मे शुभ और अशुभ कर्म, पुण्य पाप रूप कर्म फल, इह लोक पर लोक, ज्ञान और अज्ञान, बन्ध और मोक्ष इनमे एक भी द्वैत सिद्ध नहीं होता।

ब्रह्माद्वैतवादियो के अनुसार अनुमान और आगम प्रमाण के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि होती है। परन्तु देखा जाये तो आगम से ब्रह्म की सिद्धि करने पर आगम को ब्रह्म से अभिन्न नही माना जा सकता। यदि ब्रह्म साधक आगम ब्रह्म से अभिन्न है तो ब्रह्म की सिद्धि सम्भव ही नहीं है। अत हेतु और ब्रह्म का द्वैत तथा आगम और ब्रह्म का द्वैत होने से अद्वैत की सिद्धि सम्भव नहीं है। द्वैत के विना अद्वैत नही हो सकता है, जो लोग उक्त कथन का निषेध करते है उन्हे ध्यान रखना चाहिए कि सज्ञी का निषेध वस्तु के अभाव मे सम्भव नहीं है। जैसे आकाशपुष्प या खरविषाण का निषेध तभी किया जा सकता है जबकि उसका सद्भाव हो । अत यह मानना होगा कि द्वैत तथा अद्वैत का एव अद्वैत द्वैत का, अविनाभावी है।–23–27

न्याय वैशेषिक पदार्थों को पृथक् पृथक् मानते है। समन्तभद्र की दृष्टि मे उनकी वह मान्यता ठीक नही है क्योकि उन्हे यह स्पष्ट करना होगा कि पृथक् पदार्थों से पृथकत्व गुण अपृथक् है या पृथक्, यदि पृथकत्व गुण पृथक् पदार्थों से अपृथक् है तो पृथकत्वैकान्त का त्याग कर देने से स्वमत विरोध स्पष्ट है। गुण और गुणी मे भेद मानने के कारण पृथकत्व गुण पृथग्भूत पदार्थों से अपृथक् नही कहा जा सकता । इसलिए पृथकत्व गुण के कारण सब पदार्थों को पृथक् पृथक् मानना ठीक नही है। क्योकि गुण गुणी आदि को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् मानने पर ज्ञान आत्मा का गुण है, गन्ध पृथ्वी का गुण है इत्यादि का व्यपदेश सम्भव नही हो सकता है। इसलिए गुण गुणी आदि न तो सर्वथा पृथक् हैं और न सर्वथा अपृथक्। कथचित् पृथक् हैं और कथचित् अपृथक्। पृथकत्व गुण के द्वारा सब पदार्थों को पृथक् पृथक् मानकर पृथकत्वैकान्त की कल्पना उचित नही है।–28

बौद्धों के यहा पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील माने गये है। कोई भी पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है उसका स्थिति काल केवल एक क्षण मात्र है। समन्तभद्र की दृष्टि मे उनकी यह मान्यता ठीक नही है। क्योकि एकत्व के अभाव मे निर्वाध सन्तान समुदाय साधर्म्य और प्रेत्य भाव का भी अभाव हो जायेगा। एकत्व मानना इसलिए भी आवश्यक है कि ज्ञान ज्ञेय से सत्व

की अपेक्षा से भी पृथक् है तो दोनो असत् हो जायेगे और ज्ञान के अभाव मे बहिरग और अन्तरग ज्ञेय भी असम्भव है। शब्द सामान्य का कथन करते हैं विशेष का नहीं अन्यथा सामान्य के मिथ्या होने से सामान्य प्रतिपादक समस्त वचन मिथ्या ही हैं। स्याद्वाद सप्तभगी को स्वीकार किये विना उभयैकान्त नहीं बन सकता है तथा अवाच्यतैकान्त पक्ष मे भी अवाच्य शब्द का भी प्रयोग नही किया जा सकता। प्रमाण से भी परस्पर निरपेक्ष पृथकत्व और एकत्व मे अवस्तु की सिद्धि होती है। इसलिए पृथकत्व एव एकत्व को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष मानना चाहिए। सत्ता सामान्य की अपेक्षा सब पदार्थ एक है और द्रव्य आदि के भेद से अनेक हैं जैसे असाधारण हेतु भेद की अपेक्षा से अनेक और अभेद की विवक्षा से एक होता है। विवक्षा और अविवक्षा करने वाले व्यक्ति अनन्त धर्म वाली वस्तु मे विद्यमान विशेषण की ही विवक्षा और अविवक्षा करते हैं, अविद्यमान की नहीं। भेद और अभेद प्रमाण के विषय होने से वास्तविक हैं काल्पनिक नहीं। अत गौण और प्रधान की विवक्षा से एक ही वस्तु मे उन दोनो के होने मे कोई विरोध नही है।–29–36

साख्य दर्शन मे पदार्थ को कूटस्थ नित्य माना गया है। उनका कहना है कि पर्याय की दृष्टि से भी किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश नही होता है। समन्तभद्र के अनुसार नित्यत्वैकान्त पक्ष मे भी विकिया उत्पन्न नही हो सकती है। जब पहले ही कारक का अभाव है तब प्रमाण और प्रमाण का फल ये दोनो कैसे बन सकते हैं। जब पदार्थ अकारक और विकिया रहित हैं तो प्रमाण और प्रमाण का फल भी नहीं बन सकता है। जो अकारक है वह प्रमाता नहीं हो सकता और प्रमाता के अभाव मे प्रमिति रूप फल भी सम्भव नही है। जो पदार्थ न किसी की उत्पत्ति करता है और न परिच्छित्ति ही करता है उसकी सत्ता असम्भव है। इन्द्रियो के द्वारा उनके विषय को अभिव्यक्ति के समान जिन प्रमाणो तथा कारको के द्वारा अव्यक्त को व्यक्त हुआ बतलाया जाता है वे प्रमाण और कारक दोनो ही जब सर्वथा नित्य माने गये हैं तब उनके द्वारा कौन सी विकिया बनती है। सर्वथा नित्य के द्वारा कोई भी विकार रूप किया नही बन सकती और न

अनित्य ही घटित हो सकता है। सर्वथा नित्य कार्यों से अनित्य कार्यों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति बन ही नही सकती। यदि कार्य सर्वथा सत् है तो पुरुष के समान उसकी उत्पत्ति नही हो सकती और उत्पत्ति न मानकर कार्य मे परिणाम की कल्पना करना नित्यत्वैकान्त की बाधक है। अगर नित्यत्वैकान्त मानते हैं तो पुण्य पाप की क्रिया, परलोक गमन, सुखादि फल, बन्ध और मोक्ष ये सब नहीं बन सकते हैं।–36–40

क्षणिकैकान्त पक्ष मे नित्य आत्मा के अभाव मे प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, इच्छा आदि सम्भव नहीं हैं। प्रत्यभिज्ञान के अभाव मे पुण्य पाप आदि कार्य भी नहीं हो सकते। पुण्य पाप के अभाव में प्रेत्यभाव, बन्ध, मोक्ष आदि भी नहीं हो सकते। आचार्य समन्तभद्र का स्पष्ट कथन है कि बौद्धो का क्षणिकवादी दृष्टिकोण उचित नहीं है। क्षणिकवाद में कार्यकारण सम्बन्ध असम्भव है। कार्यकारण सम्बन्ध के अभाव मे पुण्य पाप, प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से कार्य का आरम्भ सम्भव नहीं है और कार्य के अभाव मे उसका फल नहीं बन सकता है।

सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नही होती, ऐसा नियम है। कार्य कथचित् सत् है और कथचित् असत्। कार्य द्रव्य की अपेक्षा सत् और पर्याय की अपेक्षा असत् है। यदि द्रव्य की अपेक्षा से भी कार्य असत् हो तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। कार्य की उत्पत्ति मे उपादान कारण का नियम और विश्वास भी नहीं हो सकता। कार्य को सर्वथा असत् माना जाता है तो आकाश पुष्प की तरह उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कार्य उपादान रूप से सत् है, जैसे घट का उपादान मिट्टी है। मिट्टी रूप से घट का सद्भाव सदा रहता है। मिट्टी ही घट रूप से परिणमित होती है। उपादान कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति में विश्वास भी नहीं किया जा सकता। क्षणिकवाद मे अन्वय का भी सर्वथा अभाव है। अन्वय के अभाव मे हेतुफलभाव, वास्यवासकभाव, कर्मफलभाव, प्रवृत्ति निवृत्ति आदि कुछ भी नहीं बन सकते क्योकि जिन पदार्थों मे उक्त सम्बन्ध सम्भव हैं, वे पदार्थ अन्वय के अभाव मे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। अत असत् कार्यवाद एव क्षणिकवाद सदोष हैं।

बौद्धो का यह कहना कि प्रत्येक पदार्थ मे एक सन्तान पायी जाती है, जिसके कारण पदार्थो मे हेतुफल भाव आदि सम्बन्ध बन जाते हैं क्योकि अन्वय के अभाव मे जैसे एक सन्तान का दूसरी सन्तान के साथ सम्बन्ध नही है उसी प्रकार एक सन्तान के अनेक क्षणो मे भी कोई सम्बन्ध नहीं है। समन्तभद्र की दृष्टि मे यह सन्तानवाद भी ठीक नहीं है क्योकि जब प्रत्येक पदार्थ के समस्त क्षण परस्पर मे विल्कुल ही पृथक् हैं जैसे घट आदि के जितने क्षण हैं वे एक दूसरे से पृथक् हैं। सब क्षण पृथक् पृथक् होने से अन्य हैं उन अन्य क्षणो मे अनन्य की कल्पना अर्थात् पृथक् पृथक् क्षणो को एक मान लेना सन्तान है, परन्तु यह सन्तान की कल्पना केवल सवृत्ति या उपचार से ही हो सकती है। उपचार कथन मिथ्या की कोटि मे आता है। मुख्य अर्थ सवृत्ति रूप नहीं होता है और मुख्य अर्थ के विना सवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसे सिह के सद्भाव के विना सिह का चित्र नहीं बन सकता है। अत यह स्पष्ट है कि अनन्य प्रत्यय के अभाव मे सन्तान की सिद्धि किसी भी प्रकार नही हो सकती है। बौद्धो ने प्रत्येक धर्म मे चार प्रकार के विकल्प माने हैं – वस्तु सत् है, असत् है, उभय है या अनुभय रूप है। यदि सत् है तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती असत् है तो शून्यता की प्राप्ति होती है। उभय रूप मानने पर दोनो दोष आते हैं। अनुभय रूप मानना भी ठीक नही है, क्योकि एक धर्म का निषेध करने पर दूसरा स्वत प्राप्त होता है। दोनो धर्मो का निषेध सम्भव नहीं है, अगर सम्भव माना जाये तो वस्तु नि स्वभाव हो जायेगी। सत् असत् आदि की तरह सन्तान और सन्तानियो मे जो भिन्न अभिन्न आदि विकल्प किये गये हैं, वे भी ठीक नहीं हैं क्योकि उन्हे न भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न, किन्तु अवाच्य कह सकते हैं। यहा समन्तभद्र का कहना है कि सत् आदि रूप चतुष्कोटि विकल्पो को अवक्तव्य भी नहीं कहना चाहिए क्योकि जो सर्वधर्म रहित है वह अवस्तु है, वह न तो विशेष्य हो सकता है और न उसका कोई विशेषण हो सकता है। अत ऐसी किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता है, जो न तो विशेष्य हो और न उसका कोई विशेषण हो। अवस्तु मे विधि और निषेध भी सम्भव नहीं हैं क्योंकि जो पदार्थ अपने

द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् है, उसका दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से निषेध होता है परन्तु जो पदार्थ सर्वथा असत् है उसकी न तो विधि हो सकती है और न प्रतिषेध। असत् पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता है। अत विधि असम्भव ही है। विधि के अभाव मे प्रतिषेध सम्भव नहीं होता है।

जैनदृष्टि को स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो सर्व धर्मों से रहित है वह अवस्तु है और अवस्तु होने से वह अनभिलाप्य है। वस्तु ही प्रकिया के विपर्यय से अवस्तु हो जाती है।[31] सर्वधर्म अवक्तव्य है इसको स्वीकार कर लेने पर मौन धारण कर लेना चाहिए क्योकि उक्त कथन मे उसी प्रकार स्ववचन विरोध है, जिस प्रकार कोई कहे कि 'मैं सदा के लिए मौनव्रती हू'। सर्वधर्मों के सर्वथा अवक्तव्य होने पर उनकी कोई वार्ता नहीं बन सकती, उन्हे अवक्तव्य कहना भी नहीं बनता क्योकि अवक्तव्य कहना भी उन्हे वक्तव्य ठहराता है।–49 इसको सवृत्ति अर्थात् उपचार रूप कथन मानना भी सम्भव नहीं है क्योकि बौद्धो ने स्वय उपचार कथन को मिथ्या माना है। अवक्तव्य यदि मानते है, तब उनसे यह पूछा जाये कि ऐसा क्यो कहते हैं, क्या वक्ता मे उसके प्रतिपादन की शक्ति नहीं है या अभाव है या उसका ज्ञान नहीं है। इन तीनो विकल्पो मे आदि और अन्त के पक्ष तो बनते नहीं हैं। इसलिए छल से काम नहीं चलेगा, स्पष्ट रूप से कहना होगा कि पदार्थ का अभाव होने से अवक्तव्य है।–50

निरन्वय क्षणिक एकान्तवाद भी ठीक नहीं क्योकि जब क्षणिक एकान्त पक्ष की मान्यता मे पदार्थ का समूल विध्वस हो जाता है तब यह स्वाभाविक बात है कि जिस चित्त ने जिस क्षण मे किसी दूसरे को मारने का सकल्प किया वह चित्त सकल्प करने के साथ ही उसी क्षण मे मूलत विनष्ट हो गया, उत्तर क्षण मे जो द्वितीय चित्त हुआ है, उसने पहले मारने का सकल्प किया नहीं, विना सकल्प के ही उसने दूसरे को मारा। जिसका अभिप्राय हिंसा करने का नहीं है वह हिसा करता है, जिसका अभिप्राय हिंसा करने का है, वह हिसा नहीं करता है। जिसने हिसा का कोई अभिप्राय नहीं किया और न ही हिसा की, वह चित्त बन्धन को प्राप्त होता है और जिसका

बन्ध हुआ उसकी मुक्ति नहीं होती, किन्तु मुक्ति दूसरे की होती है। इस प्रकार भिन्न कर्तृता आने से बन्ध और मोक्ष की कुछ भी व्यवस्था नही बन सकेगी। अत यही उचित है कि जो हिसा का परिणाम करता है वही उसे मारता है और वही हिंसाजन्य पाप का बन्ध करता है, वही पाप से छूटता है। ऐसा मानने से वस्तु के प्रतिक्षण विनश्वरता मानने के एकान्त का निराकरण हो जाता है। अगर विनाश को अहेतुक माना जायेगा तो हिसा करने वालो मे स्वच्छन्दता आ जायेगी और चित्तसन्तति के नाश रूप मोक्ष भी अष्टाग हेतुक नहीं हो सकेगा।–51, 52

बौद्धो के अनुसार विनाश के कारणो से पदार्थ का विनाश नहीं होता, किन्तु अन्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि यदि विसदृशकार्य की उत्पत्ति के लिए हेतु का समागम होता है तो हेतु को नाश और उत्पाद से अभिन्न मानना होगा। नाश और उत्पाद भी अभिन्न हैं क्योकि पूर्व पर्याय के नाश का नाम ही उत्तर पर्याय की उत्पत्ति है। नाश और उत्पाद आश्रयी हैं और हेतु उसका आश्रय है। जब नाश और उत्पाद अभिन्न हैं तब उनका आश्रय हेतु भी अभिन्न होगा। क्षणिक परमाणुओ की एव स्कन्धो की असिद्धि के सम्बन्ध मे कहा गया है कि स्कन्धो की सततिया भी जब सवृत्ति रूप हैं तब वे अपरिमार्थ हैं और अपरिमार्थ पदार्थ या स्कन्ध मे स्थिति उत्पत्ति और व्यय का होना सम्भव नहीं हो सकता है। अत पदार्थ का अस्तित्व मानना उचित है। उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त मे दोष बतलाते हुए बताया गया है कि जो सर्वथा नित्य है, वह क्षणिक नहीं हो सकता और जो सर्वथा क्षणिक है उसमे नित्यता सम्भव नही है। क्षणिकैकान्त एव नित्यत्वैकान्त मे भिन्नता होने से उभयैकान्त सम्भव नहीं है। इसी प्रकार तत्त्व सर्वथा अवाच्य भी नहीं माना जा सकता है क्योकि तत्त्व प्रत्यभिज्ञान का विषय होने के कारण कथचित् नित्य है तथा कालभेद होने के कारण कथचित् क्षणिक भी है।–53–56

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप वस्तु की त्रयात्मकता के सम्बन्ध मे कहा गया है कि द्रव्य या वस्तु का लक्षण सत् है उसमे गुण एव पर्याये पायी जाती हैं। गुण का कभी नाश नहीं होता, पर्याये बदलती रहती हैं। अत

वस्तु का सामान्य की अपेक्षा न कभी नाश होता है और न उत्पाद क्योकि सभी पर्यायो मे उसका अन्वय रहता है। यद्यपि उत्पाद और व्यय दोनो का लक्षण भिन्न है, पर हेतु के क्षय होने का नाम ही कार्य का उत्पाद होता है। अत यह स्पष्ट है कि उत्पाद और विनाश दोनो एक हेतु से ही होते हैं। जाति की अपेक्षा अभिन्न है क्योकि विना उत्पाद के विनाश सम्भव नहीं है, विना विनाश के उत्पाद असम्भव है। उसी प्रकार ध्रुवता के विना उत्पाद व्यय दोनो सम्भव नहीं हैं। अत यह स्वत सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यय ध्रौव्य रूप है। जैसे एक पुरुष के पास सोने का घडा है, वह घडा ही रहने देने चाहता है, दूसरा मुकुट बनाना चाहता है, तीसरा सुवर्ण ही चाहता है। अगर मुकुट बनाता है तो हर्ष, सुवर्ण घट का नाश विषाद एव माध्यस्थभाव का कारण है। इससे सिद्ध है कि सुवर्ण घट के हेतु से हर्ष, विषाद एव माध्यस्थ भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए वस्तु मे उत्पाद, व्यय और ध्रुवता सिद्ध है अर्थात् तत्त्व तीन रूप है। तत्त्व को तीन रूप सिद्ध करने के लिए एक दूसरा भी उदाहरण दिया गया है कि जिसके दूध पीने का व्रत है वह दधि नहीं खाता है, जिसके दधि खाने का व्रत है वह दूध नहीं पीता है और जिसके गोरस नहीं लेने का व्रत है, वह दोनो नहीं लेता है। यदि दूध और दधि मे गोरस का अन्वय नहीं रहता तो उसका दुग्ध और दधि दोनो खा लेना चाहिए। अत यह सिद्ध होता है कि दुग्ध पर्याय का नाश होने पर दधि पर्याय की उत्पत्ति होती है तथा दुग्ध और दधि पर्याये अलग अलग हैं किन्तु गोरस का अन्वय दोनो मे पाया जाता है। अत तत्त्व उत्पाद आदि तीन रूप हैं।–57–60

नैयायिक एव वैशेशिक कार्य कारण मे, गुण गुणी मे, सामान्य सामान्यवान् मे भेद मानते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि भेद मानने पर एक की अनेको मे वृत्ति नहीं हो सकती है क्योकि उनके अश नही हो सकते हैं। यदि भाग करते हैं तो वह एक नही हो सकता है। अगर पृथक् मानते हैं तो उनकी स्थिति भिन्न देश एव भिन्न काल मे माननी पडेगी। यथार्थ यह है कि अवयव अवयवी गुण गुणी आदि न तो सर्वथा भिन्न हैं और न सर्वथा अभिन्न किन्तु कथचित् भिन्न एव कथचित अभिन्न है अर्थात् उनमे तादात्म्य

सम्बन्ध है। यदि यह कहा जाये कि समवायियो मे आश्रय आश्रयी भाव होने से स्वातन्त्र्य न होने के कारण देश काल भिन्न नहीं हैं। ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योकि जो समवायियो के साथ असम्बद्ध है वह सम्बद्ध नहीं हो सकता। अत समवायियो से असम्बद्ध समवाय को सम्बद्ध मानना ठीक नहीं है। जिस प्रकार सामान्य आश्रय के विना नहीं रहता उसी प्रकार समवाय भी आश्रय के विना नही रहता। जब सामान्य और समवाय दोनो की प्रत्येक द्रव्यादि नित्य व्यक्तियो मे पूर्णता होती है तब नाश या उत्पन्न हुए अनित्य कार्यो मे उनके सद्भाव की विधि व्यवस्था कैसे बन सकती है। सामान्य और समवाय का परस्पर मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। सामान्य और समवाय के साथ पदार्थ का भी सम्बन्ध नही है। अत सामान्य समवाय और पदार्थ तीनो ही आकाश पुष्प के समान अवस्तु हैं।–60–66

कुछ वैशेषिक या बौद्धौं की मान्यता है कि कार्य कारण आदि मे अन्यतैकान्त की सिद्धि न होने से कोई हानि नहीं क्योकि परमाणुओ के नित्य होने के कारण सब अवस्थाओ मे अन्यत्व का अभाव होने से परमाणुओ मे अनन्यतैकान्त है। आचार्य समन्तभद्र उनके मत का निराकरण करते हुए लिखते हैं कि परमाणु जब प्रचय रूप अवस्था मे होते हैं– स्कन्ध रूप अवस्था मे आते हैं तो उस अवस्था मे भी विभक्त घट पट पदार्थों की तरह वे विभक्त ही रहते हुए माने जायेगे अन्यथा रूपान्तर रूप परिणमन के सद्भाव मे अनन्यतैकान्त स्वभाव का अभाव मानना पडेगा। सघात स्कन्ध रूप अवस्था मे भी जब वे विभक्त माने जायेगे तब ऐसी स्थिति मे पृथ्वी, जल, तेज वायु ये चार भूत भ्रान्ति रूप ही ठहरेगे क्योकि भूतचतुष्क परमाणु स्वरूप नही हैं किन्तु उनकी सघात स्वरूप वह दूसरी अवस्था है। इस अवस्था को परमाणु रूप नही कहा जाता है। अत इस अनन्यता के एकान्त मे परमाणुओ के सघात स्वरूप से प्रतीयमान यह भूतचतुष्क भ्रान्तिरूप ही ठहरेगे। यदि इसे भ्रान्ति रूप नही माना जायेगा तो अनन्यता एकान्त नही ठहरता है। क्योकि कार्य के भ्रान्त होने से कारण भी भ्रान्त हो जायगा। जो ऐसा मानते हैं कि परमाणुओं के कार्य पृथ्वी आदि चार भूत मिथ्या है उनके अनुसार भूतों के कारण परमाणु भी मिथ्या होगे क्योकि

कार्य के द्वारा कारण का अनुमान करके परमाणुओ की सिद्धि की जाती है। परमाणु का ज्ञान प्रत्यक्ष तो होता नही है। कार्य के भ्रान्त होने से कार्य के द्वारा उनका अनुमान नही किया जा सकता है, जिससे परमाणुओ मे भ्रान्तता ही सिद्ध होती है। कार्य और कारण दोनो के भ्रान्त होने से दोनो का अभाव स्वत प्राप्त होता है। दोनो का अभाव होने से उनमे रहने वाले गुण सामान्य किया आदि का भी अभाव हो जायेगा। अत यदि गुण जाति आदि का सद्भाव अभीष्ट है तो कार्य द्रव्य को अभ्रान्त मानना भी आवश्यक है। स्कन्ध रूप कार्य द्रव्य अभ्रान्त तभी हो सकता है, जब परमाणु अपने पूर्व रूप को छोडकर स्कन्धरूप पर्याय को धारण करे। अत परमाणुओ मे अनन्यतैकान्त मानना ठीक नही है।–67, 68

साख्य दर्शन मे कार्य कारण को सर्वथा एक माना गया है। समन्तभद्र की दृष्टि मे यदि कार्य कारण आदि का सर्वथा एकत्व माना जाता है तो उनमे से किसी एक का अभाव हो जायेगा। एक के अभाव मे दूसरे का भी अभाव निश्चित है क्योकि उनका परस्पर मे अविनाभाव है। द्वित्वसख्या के मानने मे भी विरोध होगा। सवृत्ति के मिथ्या होने से द्वित्वसख्या को सवृत्तिरूप मानना भी ठीक नहीं है।–69

एकान्तमत सदोष है। स्याद्वाद न्याय को मानने वालो के यहा किसी भी दोष का आना सम्भव नही है। अवयव अवयवी आदि कथचित् भिन्न भी है और कथचित् अभिन्न भी हैं। तत्त्व कथचित् वाच्य भी है और कथचित् अवाच्य भी है। अपेक्षा भेद से वस्तु मे अनेक धर्मों के होने मे कोई विरोध सम्भव नही है।–70

द्रव्य और पर्याय मे कथचित् ऐक्य है, क्योकि उन दोनो मे अव्यतिरेक पाया जाता है। द्रव्य और पर्याय कथचित् नाना भी है क्योकि द्रव्य और पर्याय मे परिणाम का भेद है, शक्तिमान् और शक्तिभाव का भेद है, सज्ञा का भेद है, सख्या का भेद है स्वलक्षण का भेद है, प्रयोजन का भेद है और काल आदि का भेद है। इसलिए भेदैकान्त और अभेदैकान्त सदोष हैं।–71, 72

अपेक्षैकान्त और अनपेक्षैकान्त भी त्रुटिपूर्ण हैं। यदि पदार्थों की सिद्धि सर्वथा आपेक्षिक होती है, तब दोनो की सिद्धि नही हो सकती है। अनपेक्षिक मानने पर उनमे सामान्य विशेष भाव नही बन सकता है। सर्वथा उभयवादियो के मत मे विरोध और अनुभय वादियो के मत मे अनुभय शब्द के द्वारा कथन न हो सकने का दोष दिया गया है।—73 74

धर्मधर्मी भाव, कार्यकारण भाव, विशेषणविशेष्य भाव, प्रमाणप्रमेय भाव का व्यवहार अपेक्षा से सिद्ध होता है, परन्तु उनका स्वरूप स्वत सिद्ध है। कार्य मे कार्यता, कारण मे कारणता, प्रमाण मे प्रमाणता आदि स्वय सिद्ध हैं, वे परापेक्ष नही अन्यथा किसी भी वस्तु का अपना स्वतत्र स्वरूप नही बन सकेगा।—75

सर्वथा हेतुवाद से सिद्धि मानने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणो से वस्तुज्ञान के अभाव का प्रसग तथा आगम से सर्वसिद्धि स्वीकार करने पर परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तो के प्रतिपादक वचनो मे भी विरोधी तत्त्वो की सिद्धि का प्रसग उपस्थित होता है। उभयैकान्त मे विरोध और अवाच्यतैकान्त मे अवाच्य शब्द द्वारा भी उसका निर्वचन न कर सकने का दोष प्रदर्शित है।—76—77

आगे की कारिकाओ मे समन्तभद्र ने हेतुवाद और अहेतुवाद दोनो से वस्तुसिद्धि होने का निर्देश करके सप्तभगात्मक अनेकान्त को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जहा आप्त वक्ता न हो वहा हेतु से साध्य की सिद्धि की जाती है और उस सिद्धि को हेतु साधित कहा जाता है। जहा आप्त वक्ता हो वहा उनके वचन से वस्तु की सिद्धि होती है, वह सिद्धि आगम साधित कही जाती है। इस प्रकार वस्तुसिद्धि का उपायतत्त्व हेतुवाद और अहेतुवाद भी अनेकान्तात्मक है।—78

बाह्य अर्थ के विना सर्वथा ज्ञान तत्त्व मानने पर सभी बुद्धिया और वचन मिथ्या हो जायेगे क्योकि दोनो का प्रामाण्य बाह्य अर्थ पर निर्भर है। जिनका ज्ञात बाह्यार्थ सत्य निकलता है, उन्हे प्रमाण और जिनका सत्य नही निकलता उन्हे प्रमाणाभास कहा जाता है। बाह्यार्थ के विना जब प्रमाणता का निश्चय नहीं हो सकता तब प्रमाण के अभाव मे प्रमाणाभास भी नही

कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानतत्त्व के स्वीकार करने पर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनो नहीं बनते और उनके नहीं बनने पर किस तरह ज्ञानमात्र को वास्तविक और बाह्यार्थ को अवास्तविक सिद्ध किया जा सकता है। साध्य और साधन की विज्ञप्ति मात्र तत्त्व की सिद्धि के प्रयास भी निरर्थक हैं क्योकि उक्त प्रकार से सिद्धि करने पर प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष आते हैं। यह स्पष्ट है कि विज्ञप्तिमात्र तत्त्व मानने वालो के यहा न साध्य है और न हेतु अन्यथा द्वैत का प्रसग आयेगा।–79,80

बहिरगार्थतैकान्त मे दोष देते हुए बताया गया है कि सर्वथा बाह्य अर्थ की सत्ता मानने पर प्रमाणाभास का लोप हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्षादिविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले सभी के मतो की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार इनका विरोध दोष के कारण उभयैकान्त नही बन सकता है और अवाच्यतैकान्त मे अवाच्य शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।–81,82

इसके पश्चात् प्रमाण और प्रमाणाभास के विषय मे अनेकान्त की प्रकिया बताते हुए स्याद्वाद से वस्तु व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। इसमे बताया गया है कि भाव (ज्ञान) को प्रमेय मानने की अपेक्षा से कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है और बाह्य अर्थ को प्रमेय मानने की अपेक्षा से ज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभास दोनो होता है। बाह्यार्थ मानने की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि ऐसा कोई शब्द नहीं होता जिसका वाच्य बाह्यार्थ न हो। इसके उदाहरण मे 'जीव' शब्द को दिया गया है। इसमे बताया गया है कि जीव शब्द सज्ञा शब्द होने से हेतु शब्द की तरह बाह्यार्थ सहित है। माया आदि जो भ्रान्तिमूलक सज्ञाए हैं वे भी अपने माया आदि भावात्मक अर्थों सहित हैं। जिस प्रकार कि प्रमा शब्द का बाह्यार्थ पाया जाता है। अपनी इस बात को पुष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने प्रत्येक वस्तु की बुद्धि, शब्द अर्थ ये तीन सज्ञाए बताकर इनको कमश बुद्धि, शब्द और अर्थ का समान रूप से वाचक और तीनो से श्रोता के उनके प्रतिबिम्बात्मक बुद्धि का समान रूप से बोध होना भी बताया है।–83–85

सर्वथा अन्तर्ज्ञेयवादियो के प्रति यह कहा गया है कि हेतु सज्ञा होने से असिद्ध है क्योकि उनके यहा विज्ञान के अतिरिक्त सज्ञा शब्द नहीं है। इसके लिए ग्रन्थकार ने बताया है कि वक्ता, श्रोता और प्रमाता को जो बोध, वाक्य और प्रमा होते हैं वे सभी अलग अलग हैं। इसलिए इसके साधक प्रमाण को भ्रान्त कहा जाता है तो प्रमाण के भ्रान्त होने पर अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय रूप बाह्य अर्थ भी भ्रान्त होगे। वस्तुत बुद्धि और शब्द मे प्रमाणता बाह्य अर्थ के होने पर ही होती है। बाह्य अर्थ के अभाव मे नहीं तथा सत्य और असत्य का प्रमापक अर्थ की प्राप्ति है। अर्थ की प्राप्ति होने पर सत्य की व्यवस्था और प्राप्ति न होने पर असत्य की व्यवस्था की जाती है।–86,87

इस प्रकार ज्ञापकोपाय तत्त्वो की स्याद्वाद न्याय से अनेकान्तात्मक सिद्धि करके दैव और पौरुष पर विचार किया गया है। सर्वथा दैववाद मे दोष बताते हुए कहा गया है कि दैव से ही सर्वथा अर्थ की सिद्धि मानने पर दैव की पुरुषार्थ से सिद्धि कैसे बन सकती है। यदि दैव से दैव की सिद्धि मानी जाती है तो कभी भी किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना व्यर्थ हो जायेगा। इसी प्रकार सर्वथा पौरुष से ही अर्थ की सिद्धि मानी जाती है तो दैव से पौरुष की सिद्धि कैसे होगी तथा पौरुष से ही पौरुष की सिद्धि मानने पर सब प्राणियो के पुरुषार्थ को सफल होना चाहिए। दैव और पौरुष के सर्वथा उभयैकान्त मानने पर विरोध और अनुभयैकान्त मे अनुभय शब्द से उसका प्रतिपादन नहीं हो सकने की आपत्ति बताकर स्याद्वाद से इन एकान्तो की व्यवस्था बताते हुए कहा गया है कि अबुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होती है वह अपने दैव से होती है और बुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति हेती है, वह अपने पौरुष से होती है।–88–91

दैव और पौरुष के इस समीक्षण के बाद दैवकारकोपायतत्त्व पुण्य और पाप कैसे उत्पन्न होते हैं, यह बताते हुए कहा गया है कि पर मे सुख उत्पन्न करने से पुण्य और दुख उत्पन्न करने से पाप बन्ध मानना ठीक नही है, क्योकि पर के सुख और दुख मे निमित्त होने से अचेतन पदार्थ

और कषाय रहित जीव को भी कर्मबन्ध हो जायेगा। इसी प्रकार अपने मे दु ख उत्पन्न करने से पुण्य और सुख उत्पन्न करने से पाप के बन्ध का एकान्त मानना भी दोषपूर्ण बताया गया है, क्योकि वीतराग और विद्वान् मुनि भी अपने सुख दु ख मे निमित्त होते हैं। इसलिए उनको भी कर्मबन्ध होने की आपत्ति आयेगी। इन एकान्तो के उभयैकान्त मे विरोध और अनुभयैकान्त मे अनुभय शब्द से भी उसका निर्वचन नहीं हो सकने की आपत्ति आती है। किन्तु इन एकान्तो की अनेकान्त दृष्टि से सिद्धि बन जाती है। सुख दु ख चाहे अपने मे उत्पन्न किये जाये और चाहे पर मे, यदि वे विशुद्धि अथवा सक्लेश से पैदा होते है तो कमश उनसे पुण्यास्रव और पापास्रव होता है। यदि विशुद्धि या सक्लेश दोनो मे से किसी का भी अग नही है, तो वह बन्ध का कारण नही होता।–92–95

साख्यदर्शन मे प्रकृति और पुरुष मे भेद विज्ञान न होने से अज्ञान से बन्ध माना गया है। ज्ञान का पुरुष से कोई सम्बन्ध नही है वल्कि ज्ञान प्रकृति का धर्म है। मोक्ष मे ज्ञान नहीं रहता, वहा पुरुष अपने चैतन्य स्वभाव मात्र मे लीन रहता है। अत मोक्ष मे प्रकृति का ससर्ग न होने से ज्ञान मोक्ष मे नही रह सकता। इस एकान्त मान्यता के निरसन पूर्वक समन्तभद्र ने बताया है कि यदि ज्ञान के अभाव मे बन्ध होता है तब कोई भी पुरुष केवली नही हो सकता है क्योकि ज्ञेय अनन्त हैं। उन अनन्त ज्ञेयो का ज्ञान सम्भव न होने से सदा बन्ध होता रहेगा क्योकि केवलज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व समस्त ज्ञेयो का ज्ञान होता नहीं है। इन्द्रियप्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नही हो सकता है। अनुमान भी अत्यन्त परोक्ष अर्थ को नहीं जानता है। आगम के द्वारा भी पदार्थों का सामान्य ज्ञान ही होता है।

इस प्रकार समस्त अर्थो का ज्ञान किसी भी प्रमाण से सम्भव न हो सकने के कारण सदा अज्ञान रहेगा कोई भी केवली नही हो सकेगा। अल्प ज्ञान से मोक्ष मानना भी उचित नहीं क्योकि बहुत अज्ञान के कारण बन्ध का अभाव नही हो सकेगा और बन्ध का अभाव न होने से मोक्ष का होना भी सम्भव नहीं है।–96

अज्ञान से बन्ध होता है यह एक एकान्त है। अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, यह दूसरा एकान्त है। दोनो एकान्त परस्पर विरोधी हैं। अत युक्तिसगत नही हैं। बन्ध और मोक्ष के विषय मे अवाच्यतैकान्त मानना भी ठीक नही है, क्योकि इसमे अवाच्य शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।—97

वस्तुत मोह सहित अज्ञान से बन्ध होता है, मोह रहित अज्ञान से नहीं। इसी तरह मोह रहित अल्पज्ञान से मोक्ष सम्भव है, मोह सहित अल्पज्ञान से नही।—98

ससार का प्रत्येक कार्य ईश्वर कृत ही है, कोई भी कार्य कर्म के निमित्त से नही होता, यह न्यायवैशेषिक की मान्यता है। आप्तमीमासा मे इसका यह समाधान बताया गया है कि इच्छा, द्वेष, शरीर आदि जो भी कार्य होते देखे जाते हैं, वे अपने कर्म के अनुसार ही होते हैं। कर्म की उत्पत्ति अपने हेतुओ से होती है, जिन्हे कर्म बन्ध होता है वे जीव शुद्धि और अशुद्धि के भेद से दो प्रकार के होते हैं। पाक्य और अपाक्य शक्ति की तरह शुद्धि और अशुद्धि ये दो शक्तिया हैं। शुद्धि की व्यक्ति सादि और अशुद्धि की व्यक्ति अनादि है क्योकि स्वभाव तर्क का विषय नही होता है।—99, 100

तत्व अर्थात् यथार्थ रूप से जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है। प्रथम अकमभावि एव द्वितीय कमभावी। जो एक साथ समस्त पदार्थों का प्रकाशन करता है, वह अकमभावी है, वह केवलज्ञान है और वही पूर्णतया प्रमाण रूप होता है। जो कमश पदार्थों का प्रकाशन करता है, वह कमभवि है तथा वह स्याद्वाद प्रमाण और नय दोनो रूप होता है।—101

युगपत्सर्वभासन रूप ज्ञान प्रमाण केवलज्ञान है, उसका फल उपेक्षा है। शेष मत्यादि कमश भासन रूप जो ज्ञान समूह है, उसका फल ग्रहण और त्याग की बुद्धि है तथा उपेक्षा भी है। वास्तव मे अपने विषय मे अज्ञान का नाश होना सब ज्ञानो का फल है।—102

प्रस्तुत ग्रन्थ मे स्यात् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध मे लिखा है कि श्रुतकेवलियो के भी वाक्यो में प्रयुक्त होने वाला स्यात् शब्द का अर्थ के

साथ सम्बन्ध होने के कारण अनेकान्त का द्योतक और गम्य अर्थ का विशेषण होता है। स्यात् शब्द निपात् है।–103

सर्वथा एकान्त का त्याग करके कथचित् विधान करने को स्याद्वाद बताया गया है। इसी का नाम 'किवृत्तचिद्विधि' भी है। सप्तभगो और नयो की अपेक्षा रखने वाला वह हेय और उपादेय का विशेषक–भेदक माना गया है। स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो समस्त तत्त्वो के प्रकाशक हैं। दोनो मे केवल इतना अन्तर है कि केवलज्ञान तत्वो का साक्षात् प्रकाशक है जबकि स्याद्वाद उसका असाक्षात् प्रकाशक है। तत्त्वप्रकाशन न केवल स्याद्वाद से होता है प्रत्युत नय से भी होता है और नय वह है जो साध्य का साधर्म्य दृष्टान्त के साथ साधर्म्य द्वारा और वैधर्म्य दृष्टान्त के साथ वैधर्म्य द्वारा विना किसी विरोध के स्याद्वाद के विषयभूत अर्थ का विशेष व्यजक होता है। अकलक, विद्यानन्द और वसुनन्दि आदि आचार्यों ने नय से सम्बन्धित समन्तभद्र के विवेचन की व्याख्या मे त्रैरूप्य आदि विभिन्न हेतु लक्षणो की समीक्षा कर अन्यथानुपपत्ति एकलक्षण रूप हेतु को सिद्ध किया है।–102–106

नय और हेतु के इस स्वरूप के पश्चात् द्रव्य का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि उपनयो और त्रिकालवर्ती धर्मों के समुच्चय का नाम द्रव्य है। यह समुच्चय अविभ्राट् भाव सम्बन्ध–तादात्म्य रूप है। द्रव्य एक भी है, अनेक भी है। यह कथन निरर्थक है कि यदि पृथक् पृथक धर्म एकान्त मिथ्या हैं, तो अनन्त धर्मों के समुदाय अनेकान्त को भी मिथ्या होना चाहिए क्योकि स्याद्वादियो के यहा वस्तु मे निरपेक्ष एकान्तता नही है, वे सापेक्ष एकान्त को मानते हैं और उनके ही समूह को अनेकान्त कहते हैं, निरपेक्ष एकान्तो के समूह को नही। निरपेक्ष नयो को मिथ्या और सापेक्ष नयो को अर्थक्रियाकारी वस्तु कहा गया है। वस्तुत अनेकान्तात्मक अर्थ का विधिवाक्य और निषेधवाक्य द्वारा नियमन होता है। इसके विपरीत एकान्तरूप अर्थ अवस्तु है।–107–109

वाच्य के स्वरूप की स्थापना पूर्वक बताया गया है कि जो अर्थ को तत् रूप ही मानते हैं, उनका मत उचित नही है। क्योकि वस्तु तत् और अतत् दोनो रूप है। यह भी असत्य है कि वाक्य निषेध द्वारा ही नियमन करता

है, क्योकि वाणी का स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का निषेध करती हुई अपने अर्थ सामान्य का भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी इस प्रकार नहीं है, वह खपुष्प के समान मिथ्या है। सामान्य वाक्य दूसरे के अभावरूप विशेष मे रहता है, यह विचार भी ठीक नहीं, क्योकि सामान्य वाक्य विशेष मे शब्दार्थ रूप नहीं हैं। इसलिए वह वाक्य मिथ्या है। अन्यव्यावृत्ति भी मृषा होने से शब्द का वाच्य नहीं हो सकती। अभिप्रेत विशेष की प्राप्ति सत्यलाछन वाले स्यात्कार से युक्त होने पर हो सकती है। अकलक ने समन्तभद्र के इस मन्तव्य के माध्यम से अन्यापोहवादियो का खण्डन किया है।–110–112

अन्तिम दो कारिकाये उपसहार रूप मे हैं। प्रथम कारिका में स्याद्वाद सस्थिति का उपसहार है, जिसमे बताया गया है कि जो विधेय अभीप्सित अर्थ का कारण है और प्रतिषेध्य का अविरोधि है, वही शब्द का विधेय और उपादेय है तथा उसका प्रतिषेध्य हेय है, यही स्याद्वाद सस्थिति है। इस तरह कल्याण चाहने वालो को सम्यक् और मिथ्या उपदेश मे भेद का ज्ञान कराने के लिए इस आप्तमीमासा की रचना की गयी है।–113,114

सन्दर्भ

1 आप्त0 1
2 वहीं, 2
3 अ0 श0 1
4 वही, 1
5 वही 2
6 आगम और त्रिपिटक, एक अनुशीलन, पृष्ठ 5 और 14
उद्धृत् ती0म0आ0प0 भाग 1 पृष्ठ 73 और 74
7 उपासगदशाव, 3–10
8 आप्त0 3
9 अ0 श0 3
10 अ0 स0 3
11 आप्त0 4
12 वही, 5
13 वहीं, 6
14 अ0 स0 6

परिच्छेद द्वितीय
आप्तमीमांसा के दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुशीलन

प्रस्तुत परिच्छेद मे आप्तमीमासा मे वर्णित सर्वज्ञ का स्वरूप, अनेकान्त वस्तु स्वरूप, स्याद्वाद, सप्तभगी, नय, प्रमाण आदि जैनदार्शनिक सिद्धान्तो का ऐतिहासिक सन्दर्भ मे समीक्षण प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न एकान्तवादो के समीक्षण करते हुए समन्तभद्र ने उनका समाधान जैनदृष्टिकोण से किया है तथा स्वसिद्धान्तो का सक्षिप्त विवेचन भी प्रस्तुत किया है।

सर्वज्ञ संस्थिति

आप्तमीमासा मे समन्तभद्र ने युक्तियो– अनुमान प्रमाण आदि का आश्रय लेकर सर्वज्ञ की सिद्धि की है। इस सम्बन्ध मे समन्तभद्र से पूर्व के आचार्यो ने बताया है कि भगवान महावीर के समय अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे, जो अपने अपने धर्म प्रवर्तको को सर्वज्ञ या आप्त कहते थे। कुछ ऐसी भी परम्पराऐ थीं जो सर्वज्ञत्व का निषेध भी करती थी। इसके फलस्वरूप भारतीय दर्शन मे एक सर्वज्ञवादी परम्परा और दूसरी असर्वज्ञवादी परम्पराऐ दृष्टिगोचर होती हैं। चार्वाक और मीमासको को छोडकर सभी सर्वज्ञवादी हैं। बुद्ध को प्राचीन परम्परा मे धर्मज्ञ माना गया परन्तु बाद की दार्शनिक परम्परा मे उन्हे धर्मज्ञ होने के साथ सर्वज्ञ भी स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा मे जो सर्वज्ञ है वही आप्त है और उनका मोक्ष के साथ सीधा सम्बन्ध है। प्रारम्भ से अद्यावधि इसके स्वरूप मे भी कोई अन्तर नहीं पाया जाता है।

जैन परम्परा मे ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। समस्त ज्ञेयो मे ऐसा कोई ज्ञेय नही है जो ज्ञस्वभाव आत्मा के द्वारा न जाना जाये। ज्ञानावरण और मोहादि दोष दूर होने पर जब आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप प्रकट हो जाता है वस्तुत तब सर्वज्ञता कही जाती है। षट्खण्डागम के अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त भगवान समस्त लोकाकाश को एक साथ जानते है।[1] कुन्दकुन्द ने आत्मा को ज्ञान प्रमाण, ज्ञान को ज्ञेय प्रमाण

और ज्ञेय को लोक प्रमाण बताकर सर्वज्ञत्व के द्वारा लोकालोक को एक साथ जानने की गुत्थी को सुलझाया है। इसी आधार पर आचार्य उमास्वामी और समन्तभद्र ने आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द को यद्यपि सर्वज्ञता सम्बन्धी चिन्तन की परम्परा पूर्वाचार्यों से प्राप्त थी और कुन्दकुन्द का उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनुकरण भी किया परन्तु उन्होने जो निश्चय दृष्टि से सर्वज्ञ की व्याख्या की वह अद्वितीय है। उनके अनुसार जो एक आत्मद्रव्य को जानता है, वह सब कुछ जान सकता है।[2] यह कथन सर्वज्ञ का साधक है। जीव के भाव शुभ, अशुभ और शुद्ध तीन प्रकार के होते हैं। जीवद्रव्य जब जिस स्वभाव रूप परिणमन करता है तब वह उसी रूप हो जाता है।[3] इसलिए जब जीव शुद्ध स्वभाव रूप परिणमन करता है तब जीव शुद्ध हो जाता है। शुद्ध उपयोग से युक्त होने पर जीव पदार्थों का ज्ञाता, सयम, तप से युक्त तथा सुख दु ख को समान अनुभव करने वाला होता है।[4] यही शुद्धोपयोग अवस्था ही सर्वज्ञता की ओर ले जाने वाली है। उपयोग के पूर्ण शुद्ध होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का आवरण समाप्त होने पर[5] आत्मा, वास्तविक स्वभाव केवलज्ञान रूप हो जाता है। वही आत्मा स्वयम्भू कहलाती है। इसी का नाम सर्वज्ञ है।[6] वस्तुत देखा जाये तो केवली सभी द्रव्यो को जानते हुए भी परमार्थत वह आत्मा को ही जानते हैं।[7] इस कथन मे विरोध नही है क्योकि आत्मा ज्ञान के बराबर है और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। ज्ञेय सम्पूर्ण लोक तथा अलोक है। इसलिए ज्ञान सर्वगत है।[8] उमास्वामी ने केवलज्ञान का प्रतिपादन करके केवलज्ञानी के रूप मे कुन्दकुन्द के सर्वज्ञ के स्वरूप का ही समर्थन किया है।[9]

दार्शनिक युग मे सर्वप्रथम समन्तभद्र ने तर्क का आश्रय लेकर सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया है। उन्होने आप्त को धर्मेश्वर कहकर उसके लिए निर्दोष, सर्वज्ञ और उसको आगम का स्वामी होना आवश्यक बताया है।[10] उन्होने आप्तमीमासा मे सर्वज्ञसिद्धि के लिए दृष्टान्त पूर्वक निम्न प्रकार अनुमान का प्रयोग किया है11 –

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षा· कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति·।।

सूक्ष्म स्वभाव विप्रकृष्ट पदार्थ, अन्तरित कालविप्रकृष्ट पदार्थ और दूरवर्ती देशविप्रकृष्ट पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, क्योकि वे अनुमेय हैं। जो पदार्थ अनुमान से जाने जाते हैं, उनको कोई न कोई प्रत्यक्ष से भी जानता है। जैसे – पर्वत मे अग्नि को दूरवर्ती पुरुष अनुमान से जानता है, परन्तु पर्वत पर रहने वाला पुरुष उसी को प्रत्यक्ष से जानता है। इस प्रकार सर्वज्ञ वह है जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। उनके वचन, युक्ति और आगम से अविरोधि होने के कारण यह उनकी निर्दोषता का प्रमाण है।[12]

आप्तमीमासा के भाष्यकार अकलक ने उस समय तक के प्राय सभी असर्वज्ञवादियो और जैनेतर सर्वज्ञवादियो का सयुक्तिक समीक्षण करके समन्तभद्र द्वारा की गयी सर्वज्ञ सिद्धि का नवीन तर्कों द्वारा समर्थन किया है। उन्होने बताया है कि सर्वज्ञ के सुनिश्चत बाधक प्रमाण असम्भव होने के कारण सर्वज्ञ की सत्ता मे किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। आप्तमीमासा मे सर्वज्ञ को **कश्चिदेव** कहा गया है, जिसका अर्थ **क** परमात्मा **चित्** अर्थात् चैतन्य पुरुष होता है। यह चैतन्य रूप अवस्था आवरण निमित्तक लब्धि और उपयोग के सस्कारों के नाश हो जाने पर प्राप्त होती है।[12] ये चैतन्य परमात्मा ही ससारी प्राणियो के गुरु हैं। जो लोग सर्वज्ञ के साधक और बाधक प्रमाण के रूप मे सशयालु बने हुए हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि जहा सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्व प्रमाण हेतु है वहा सुनिश्चतासम्भवद्साधकत्व प्रमाण हेतु सम्भव नहीं हैं।[14] आत्मा का स्वभाव ज्ञान स्वरूप है। सभी वस्तुओ को जानने मे इसका कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है। इसलिए समग्र ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला अज्ञ नही रह सकता। सभी सब पदार्थों के ज्ञाता नहीं हो सकते, क्योकि सत् रूप चेतन के सम्बन्ध्यन्तर–ज्ञानावरणादि कर्म मोह का उदय है। जिससे मदिरा पिये हुए पुरुष की तरह जीव की ज्ञान शक्ति तिरोहित हो जाती है। जब मोह सहित ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो जाता है तब उस आत्मा के त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं।[15] सर्वज्ञत्व के लिए आत्मा के दोष और आवरण की पूर्णत हानि होना नितान्त आवश्यक है। दोष जीव का तथा

आवरण पुद्गल का स्वभाव है। इन दोनो मे कार्यकारण सम्बन्ध होने के कारण इनकी हानि सिद्ध की गयी है, जो पूर्ण रूप से अर्हन्त मे सम्भव है। यह हानि अत्यन्ताभाव न होकर प्रध्वसाभावरूप होती है।[16] वस्तुत सर्वज्ञ का अभाव तथा उसके सद्भाव का सशय किसी को भी नहीं होना चाहिए, क्योकि प्रमेय, सत् और वस्तु होने से वे सूक्ष्म आदि पदार्थ किसी के अवश्य ही प्रत्यक्ष हैं।[17]

न्यायविनिश्चय मे अकलक ने सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हुए बताया है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थो मे सवादी और स्पष्ट होता है। उसमे इन्द्रियो की आशिक भी सहायता नहीं होती। यदि ऐसा नही होता तो सूर्य, चन्द्र ज्योतिर्ग्रहो का ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओ और उनसे होने वाला शुभाशुभ का अविसवादी उपदेश इन्द्रियो की अपेक्षा के विना भी कैसे हो सकेगा। एक अन्य युक्ति द्वारा उन्होने बताया है कि अणु की तरतमता देखे जाने से जैसे वह अपने परिणाम से बढकर आकाश मे महापरिणाम या विभुत्व का रूप ले लेता है, उसी प्रकार ज्ञान के प्रकर्ष मे भी तारतम्य देखा जाता है। अत जहा ज्ञान सम्पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाता है, वहा सर्वज्ञता आ जाती है।[18]

देवागमन आदि विभूतियो[19] अन्तरग बहिरग अतिशयता[20] आदि मात्र से सर्वज्ञत्व की सिद्धि नही हो सकती। सभी तीर्थंकरो–कपिल, सुगत आदि मे परस्पर विरोध पाये जाने के कारण उनमे भी आप्तत्व सम्भव नही है।[21] आप्त–सर्वज्ञ वही है जिसके आत्मा के दोष और आवरण के क्षय हो जाने पर कुछ भी जानने को शेष नही रह जाता। जिस प्रकार मल विरोधी कारणो को पाकर बाह्य और अन्तरग मल पूर्णत क्षय हो जाता है, उसी प्रकार विरोधी कारणो को पाकर दोष और आवरण की पूर्ण हानि मे अतिशय पाया जाता है।[22]

अनेकान्त

आप्तमीमासा मे सद्वाद–असद्वाद, एकवाद–अनेकवाद, नित्यवाद–अनित्यवाद और वक्तव्यवाद–अवक्तव्यवाद आदि अनेक एकान्तवादो की

मीमासा की गयी है। इस मीमासा मे सर्वत्र अनेकान्तवाद, नय और स्याद्वाद का आश्रय लिया गया है। इससे पूर्व कुन्दकुन्द ने सत्ता को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप प्रतिपक्षी धर्मों से युक्त अनेक रूप और अनन्त पर्यायो से सहित बताया तथा उसी को द्रव्य कहा।[23] उन्होने बताया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त होता है। विनाश द्रव्य का नही होता अपितु पर्याय का होता है।[24] ये उत्पाद और विनाश तभी घटित हो सकते है जब स्थिति को माना जाये।[25] इस दृष्टि को ध्यान मे रखकर उन्होने द्रव्य मे स्थिति को माना।[26] अभेद दृष्टि की विवक्षा से उन्होने द्रव्य को ही उत्पादादि त्रयात्मक बतलाया।[27] तत्त्वार्थसूत्र मे उमास्वामी ने भी इसी का समर्थन किया है।[28] समन्तभद्र की यह विशेषता है कि उन्होने इस उत्पादादि त्रयात्मकता का गम्भीर तार्किक विश्लेषण उपस्थित किया है। उनके अनुसार एक धर्म के प्रधान होने पर शेष धर्मों की प्रतीति गौण रूप से होती है। इसलिए तत्त्व भावाभावात्मक है और एकानेकात्मक है।

तत्त्व सर्वथा नित्य या अनित्य मानने पर प्रत्यभिज्ञा, स्मृति, पुण्य पाप, बन्ध मोक्ष, आपसी रिश्ते आदि कुछ भी नहीं बन सकते। क्योकि प्रत्येक द्रव्य, पर्याय रूप परिणमन से बधा है। द्रव्य की अपेक्षा किसी भी पदार्थ का न उत्पाद होता है और न व्यय सिर्फ उसकी पर्याये बदलती रहती हैं। इस प्रकार वस्तु नित्यानित्यात्मक एव त्रयात्मक है। उत्पाद और विनाश लक्षण की अपेक्षा से अलग अलग हैं। वस्तुत जाति के अवस्थान के कारण उसमे कोई भेद नहीं है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी हैं।[29] जिस प्रकार सुवर्ण घट, सुवर्ण मुकुट और मात्र सुवर्ण के इच्छुक व्यक्ति के उदाहरण मे तीनो अवस्थाए दृष्टिगोचर हो जाती है। इसी को स्पष्ट करने के लिए समन्तभद्र ने गोरस का भी उदाहरण दिया है।[30]

भेद और अभेद वास्तविक होते हुए भी इनमे किसी एक को अवास्तविक मानने पर दृष्टि दोषपूर्ण हो जाती हैं। अभेद और भेद आपस मे विरुद्ध इसलिए दिखलाई पडते हैं क्योकि इनमे से किसी एक को पूर्ण प्रमाण मान लिया जाता है। अनेकान्तवाद मे दोनों दृष्टियो को अविरुद्ध रूप मे वास्तविक माना गया है। अभेद और भेद या द्रव्य एव पर्याय मे कथचित्

एक्य है, क्योकि उनको एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता है। इनमे जो भेद या नानात्व पाया जाता है, उसके निम्न कारण हैं।[31] द्रव्य और पर्याय मे परिणाम शक्तिमान और शक्तिभाव का भेद है। दोनो मे सज्ञा, सख्या, स्वभाव और प्रयोजन का भेद है।

आप्तमीमासा मे वक्तव्यवाद– अवक्तव्यवाद, अपेक्षावाद–अनपेक्षावाद आदि एकान्तिक मान्यताओ की समीक्षा पूर्वक बताया गया है कि उनमे कब किस अश मे सत्यता असत्यता हो सकती है। यदि अनेकान्त का आश्रय लिया जाये तो भाव अभाव रूप परस्पर विरुद्ध दिखने वाले धर्मों के साथ रहने मे कोई आपत्ति नही है क्योकि वस्तु मे अनन्त धर्म पाये जाते हैं। वस्तुत प्रत्येक धर्मो का अर्थ भिन्न भिन्न होते हुए भी विवक्षित या अर्पित धर्म की दृष्टि से उनका मुख्य रूप मे अविवक्षित या अनर्पित की दृष्टि से गौण रूप मे रहने मे कोई आपत्ति नही है।[32]

आप्तमीमासा के अतिरिक्त समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थो मे भी अनेकान्त के स्वरूप आदि का विवेचन किया है।[33] स्वयम्भूस्तोत्र मे एक विशेष बात यह कही गयी है कि किस प्रकार अनेकान्त मे भी अनेकान्त घटित होता है। इसमे बताया गया है कि अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनो से युक्त होने के कारण अनेकान्त स्वरूप होता है तथा इसमे विवक्षित नय की अपेक्षा से एकान्त रूप भी सिद्ध होता है।[34]

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। आप्तमीमासा मे बताया गया है कि जिस प्रकार असाधरण हेतु भेद की विवक्षा से अनेक और अभेद की विवक्षा से एक दिखाई देता है, उसी प्रकार सत्ता सामान्य की अपेक्षा से समस्त तत्त्व एक रूप हैं। भेद या अनेकता द्रव्य, गुण और पर्याय की दृष्टि से है।[35] यह सत्ता और द्रव्य तीनो कालो को विषय करने वाले नयो और उपनयो के विषयभूत अनेक धर्मों के तादात्म्य सम्बन्ध को प्राप्त होकर समुदाय के रूप मे अवस्थित हैं।[36] यद्यपि अनन्तधर्म वाले प्रत्येक धर्मी के प्रत्येक धर्म का अर्थ भिन्न भिन्न है पर वे सर्वथा रूप से अलग होकर नहीं रहते अपितु उनमे भेद विवक्षा से अनेक और अभेद की विवक्षा से एक दिखाई देता है

उसी प्रकार सत्ता सामान्य की अपेक्षा से समस्त तत्त्व एक रूप हैं। भेद या अनेकता द्रव्य, गुण और पर्याय की दृष्टि से हैं।[37] वस्तु त्रयात्मक है। प्रत्येक द्रव्य, पर्याय रूप परिणमन से बधा है। द्रव्य की अपेक्षा किसी भी पदार्थ का न उत्पाद होता है और न व्यय, मात्र उसकी पर्याये बदलती रहती हैं। उत्पाद और विनाश लक्षण की अपेक्षा से अलग अलग हैं। वस्तुत जाति के अवस्थान के कारण उनमे कोई भेद नही है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी हैं।[38] वस्तु के सम्बन्ध मे इस त्रयात्मकता को सुवर्ण का उदाहरण देकर समझाया गया है।[39] जिसका विस्तृत विवेचन पूर्व के अध्याय मे दृष्टव्य है।

आप्तमीमासा मे अनेकान्तात्मक अर्थ के नियमन के सम्बन्ध मे बताया गया है कि वस्तु अनन्त धर्म वाली होने से उसमे अस्तित्व नास्तित्व आदि सभी धर्मों के एक साथ रहने में कोई विरोध नही है। इसलिए एकान्त दृष्टि से सर्वथा तत् रूप या सर्वथा अतत् रूप मे तत्वार्थ का प्रतिपादन वचनो के द्वारा सम्भव नही हो सकता। इसलिए उस अनेकान्तात्मक अर्थ का नियमन विधि और निषेध वाक्यो के द्वारा हो सकता है क्योकि अर्थ विधि और निषेध उभय रूप है।[40] अनेकान्तवाद एकान्तवादो का मिश्रित रूप न होकर एक स्वतन्त्र दृष्टि है, जिसके द्वारा वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रतिभासित होता है।

स्याद्वाद

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने से कोई भी वाक्य केवलज्ञान की तरह अपने वाच्य को एक साथ नही कह सकता। इसलिए वक्ता का प्रयोजन भी पूर्ण हो जाये और वस्तु के वास्तविक स्वरूप को भी हानि न पंहुचे, एतदर्थ जैनदर्शन मे जो पदार्थ के कथन करने की पद्धति है, उसका नाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद का शाब्दिक अर्थ

स्याद्वाद 'स्यात्' और वाद शब्दो से मिलकर बना है। अस् धातु से विधिलिग मे 'स्यात्' शब्द बनता है। आप्तमीमासा के अनुसार यह स्यात् शब्द तिडन्त

प्रतिरूपक निपात है। यह स्यात् शब्द वाक्यो मे अनेकान्त का द्योतक है। इसका अर्थ के साथ सम्बन्ध है। गम्य अर्थ का विशेषण है और केवलियो तथा श्रुतकेवलियो को भी अभिमत है।[41] व्याख्याकार अकलक की दृष्टि मे स्यात् निपात् भी एवकार आदि निपातो की तरह है। इसलिए यह वाक्यो एव विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होने से प्रकृत अर्थ के स्वरूप को पूर्ण रूप से सूचित करता है। निपात द्योतक भी होते हैं। अत स्यात् शब्द के अनेकान्त के द्योतक होने मे भी कोई दोष नहीं है।[42] विद्यानन्द के अनुसार **सामान्योपकम विशेषाभिधानम्** अर्थात् सामान्य के उपकम होने पर विशेष का कथन होता है, इस न्याय से **स्याज्जीवः** यहा जीवादि पद के ग्रहण करने मे भी कोई विरोध नहीं हैं। केवल स्यात् शब्द के प्रयोग से अनेकान्त सामान्य की ही प्रतिपत्ति सम्भव है। सूचक पक्ष मे तो गम्य अर्थ का विशेषक होने से स्यात् शब्द गम्य अर्थ का विशेषण होता है। कोई भी वचन केवलज्ञान की तरह सम्पूर्ण वस्तु का युगपत् अवगाहन नहीं कर सकता है। जिससे उस वाक्य के अभिधेय अर्थ के विशेष रूप का सूचक स्यात् शब्द का वाक्य मे प्रयोग न किया जाये।[43]

आप्तमीमासा के अतिरिक्त समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थो मे बताया गया है कि पद का वाच्य एक और अनेक दोनो रूप होता है। इसलिए स्यात् निपात् के उभय अर्थ होने मे कोई आपत्ति नही है। जिस प्रकार वृक्षा यह पदज्ञान और सद् शब्द का वाच्य एक और अनेक दोनो हो तो अस्ति का प्रयोग करने पर नास्तित्व के भी बोध का प्रसग आने से दूसरे पद नास्ति का प्रयोग निरर्थक हो जायेगा। इसका समाधान समन्तभद्र के इस कथन से हो जाता है[45] –

आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेतं नियमेऽपवादः।।

अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु के अस्तित्वादि किसी एक धर्म का प्रतिपादन करने पर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्म के प्रतिपादन मे जिसकी आकाक्षा रहती है ऐसे आकाक्षी सापेक्षवादी का स्यात् यह निपात गौण की अपेक्षा न रखने वाले नियम मे निश्चित् रूप से बाधक होता है।

वसुनन्दि ने आप्तमीमासावृत्ति मे लिखा है कि अस्तिशब्द आदि वाक्यो मे अस्तित्व आदि गम्य है और स्यात शब्द अस्तित्व आदि का समर्थक है।[46]

स्याद्वाद का स्वरूप

आप्तमीमासा मे स्याद्वाद का स्वरूप निम्न प्रकार बताया गया है[47] –

स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किवृत्तचिद्विधि ।
सप्तभंगनयापेक्षा हेयादेयविशेषकः।।

अर्थात् सर्वथा एकान्त का त्याग करके कथचित् विधान करने का नाम स्याद्वाद है। वह सात भगो और नयो की अपेक्षा रखता है तथा हेय उपादेय भेद का व्यवस्थापक है।

समन्तभद्र के अनुसार एकान्तवाद मे कोई भी व्यवस्था सम्भव नहीं है। वस्तु व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि सर्वथा एकान्त का त्याग कर दिया जाये। एकान्त के त्याग के लिए उन्होने किवृत्तचिद्विधि का प्रयोग आवश्यक बताया है। अकलक ने इसका कथचित् अर्थ करके उसको स्याद्वाद का पर्याय माना है।[48] स्वयम्भूस्तोत्र के टीकाकार प्रभाचन्द्र ने स्याद्वाद उवते प्रति वाचते ये नासावाद शब्द स्यादिति वादो वाचक शब्दो यस्यानेकान्तवादस्यासा स्याद्वाद ।[49]

स्याद्वाद और केवलज्ञान

जब युगपत् सर्वावभासक ज्ञान को स्याद्वाद रूप माना जाता है तब केवलज्ञान और स्याद्वाद मे क्या अन्तर है, इसका समाधान बताते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि सभी तत्त्वो के प्रकाशक रूप मे स्याद्वाद और केवलज्ञान मे कोई अन्तर नहीं है। अन्तर उनके परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप जानने मे है।[50] अर्थात् स्याद्वाद असाक्षात्–परोक्ष रूप मे तत्त्वो को जानता है और केवलज्ञान साक्षात्–प्रत्यक्ष रूप मे सभी तत्त्वो को जानता है।

अकलक और विद्यानन्द ने अपनी व्याख्यायो मे इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान का एक साथ होने का तात्पर्य यह

है कि दोनो मे से कोई एक पूज्य नही है, अपितु दोनो ही पूज्य हैं। इसका करण यह है कि दोनो एक दूसरे के हेतु है। केवलज्ञान से स्याद्वाद रूप आगम की उत्पत्ति होती है और स्याद्वाद रूप आगम के अभ्यास से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। यहा यह आशका हो सकती है कि श्रुतज्ञान की परिभाषा के अनुसार वह द्रव्यो की कुछ ही पर्यायो को जानता है। इसलिए स्याद्वाद श्रुत, केवलज्ञान की तरह सभी तत्त्वो का प्रकाशक कैसे हो सकता है, इसका समाधान यह दिया गया है कि स्याद्वाद सर्व तत्त्वो का प्रकाशक पर्याय की अपेक्षा से नही है, अपितु द्रव्य की अपेक्षा से है। जीवादि सात तत्त्वो का प्रकाशन जिस प्रकार केवलज्ञान करता है उसी प्रकार स्याद्वाद भी, अन्तर मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का हैं।[51]

इस प्रकार आप्तमीमासा मे स्याद्वाद के स्वरूप, महत्त्व, उपयोगिता आदि का प्रतिपादन किया गया है तथा उसमे बताया गया है कि स्याद्वाद निर्दोष है, इसका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो के साथ कोई विरोध नहीं है तथा यह अभिप्रेत अर्थ विशेष की प्राप्ति का सच्चा साधन है।

सप्तभंगी

सातभगो और नयो के विना स्याद्वाद को नहीं समझा जा सकता। जितने अभिप्राय हैं उतनी ही सप्तभगिया हैं। अवगत हो अनन्त धर्मों की अपेक्षा अनन्त सप्तभगिया तो बन सकती हैं, पर अनन्त भगी नहीं बनती। वस्तुत विधि और निषेध के विकल्प से अर्थ मे शब्द की प्रवृत्ति सात प्रकार से की जा सकती है, वही सप्तभगी कहलाती है।

आप्तमीमासा मे निम्नलिखित सात भग बतलाये गये हैं[52]–

1 कथचित् सत् | 2 कथचित् असत्
3 कथचित् उभयात्मक | 4 कथचित् अवाच्य
5 कथचित् सत् अवाच्य | 6 कथचित् असत् अवाच्य
7 कथचित् सतासत् अवाच्य

आप्तमीमासा के अतिरिक्त समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थो मे भी इन सात भगो का वर्णन पाया जाता है।[53] समन्तभद्र के पूर्व कुन्दकुन्द ने

1 स्यात् अस्ति 2 स्यात् नास्ति 3 स्यात् उभय 4 स्यात् अवक्तव्य 5 स्यात् अस्ति अवक्तव्य 6 स्यात् नास्ति अवक्तव्य 7 स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य – ये सात भग बताये है।[54]

अकलक ने सप्तभगी का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि **प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभगी** अर्थात् प्रश्न के वश से एक वस्तु मे अविरुद्ध विधि और निषेध की कल्पना को सप्तभगी कहते है।[55] अपरिमित जितने भी विधेय हैं वे सदा एक दूसरे की अपेक्षा को लिए हुए रहते हैं। कोई भी धर्म या विशेष एक दूसरे की अपेक्षा से रहित कभी नहीं होते तथा वे सप्तभग के नियम को अपना विषय किये रहते है।[56] सात ही भग होने का समाधान यह दिया जाता है कि वस्तु मे सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं, उससे अधिक नही। सात प्रकार के प्रश्न होने के कारण वस्तु मे सात प्रकार की जिज्ञासा है। सात प्रकार की ही जिज्ञासा क्यो होती है, इसका कारण सात प्रकार के सशय हैं। सशय सात प्रकार का इसलिए होता है[57] क्योकि सशय का विषयभूत धर्म सात प्रकार का है।[58]

कथंचित् सत् और कथचित् असत्

स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी पदार्थ सत् है तथा पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी पदार्थ असत् रूप हैं।[58] सभी पदार्थ सभी पदार्थों के कार्यों को नहीं कर सकते हैं। इसलिए तत्त्व को सदसदात्मक मानना आवश्यक है। जिस प्रकार पट का कार्य शरीर का आच्छादन आदि कार्य करना है और घट का कार्य जलाहरण आदि। इस प्रकार पट और घट दोनो के कार्य अलग अलग हैं। पट के कार्य को घट नहीं कर सकता क्योकि पट स्व से सत् है, पररूप से नहीं। यदि घट पट रूप से भी सत् होता, तो उसे पट का कार्य करना चाहिए था, लेकिन ऐसा देखा नहीं जाता यही बात सर्वत्र उपलब्ध होती है।[59]

अस्तित्व और नास्तित्व

अस्तित्व और नास्तित्व के सम्बन्ध मे ये विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं कि तत्त्व अस्तित्व रूप ही है और नास्तित्व पद वस्तु के आश्रित है। इसलिए

ये एक वस्तु के स्वरूप कैसे हो सकते हैं। आप्तमीमासा मे इसका यह सामाधन दिया गया है कि अस्तित्व और नास्तित्व विशेष्य के विशेषण हैं। अत अस्तित्व नास्तित्व का और नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभावी है। द्रष्टव्य है कि साध्य का धर्म अपेक्षा भेद से हेतु भी होता है और अहेतु भी। इसी तरह शब्द का विषय होने से विशेष्य विधेय और प्रतिषेध्यात्मक होता है।[60]

कथंचित् सदसत् आदि पांच भग

कथचित् सत् और असत् की क्रम से विवक्षा होने पर वस्तु उभयात्मक है तथा एक साथ विवक्षा होने से कथन की असामर्थ्य के कारण अवाच्य है। इसी प्रकार स्यादस्ति अवक्तव्य आदि तीन भग भी अपने कारण से बन जाते है।

प्रमाण

सामान्य रूप से भारतीय दर्शनो मे प्रमीयते येन तत्प्रमाणम् अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, उस धारा का नाम प्रमाण है। जैनदर्शन मे जो जानने की प्रमारूप किया है, वह चेतन होने से उसमे साधकतम उसी का गुण ज्ञान ही हो सकता है, क्योकि जानने रूप किया ज्ञान गुण की पर्याय है। इस दृष्टि से उसमे साधकतम करण ज्ञान ही होता है। जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य नैयायकादि प्रमा मे साधकतम इन्द्रिया और सन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानते हैं। इसलिए मौलिक दृष्टि से जैन तथा अन्य परम्पराओ मे प्रमाण के लक्षण मे पार्थक्य पाया जाता है।

प्रमाण की व्युत्पत्ति•करते हुए पूज्यपाद ने बताया है कि **प्रमिणोति प्रमीयतेनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्**[61] जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमिति मात्र प्रमाण है। प्रमाण के द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं और जीवादि पदार्थों के ज्ञान मे प्रमाण को कारण मानने पर अनवस्थादि दोष नहीं आते। जिस प्रकार दीपक घटादि पदार्थों के प्रकाश करने मे और अपने स्वरूप के प्रकाश करने मे हेतु होने से उसे प्रकाशान्तर नहीं खोजना पडता, उसी प्रकार

प्रमाण भी है।[62] तत्त्वार्थवार्तिक मे बताया गया है कि प्रमाण शब्द भाव, कर्तृ और करण तीनो साधनो मे निष्पन्न होता है। जब भाव की विवक्षा होती है तब प्रमा को प्रमाण कहा जाता है। जब कर्तृ की विवक्षा होती है तब प्रमातृत्व शक्ति की मुख्यता से प्रमाण कहा जाता है तथा करण विवक्षा मे प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की भेद विवक्षा होती है।[63]

प्रमाण का स्वरूप

जैन परम्परा मे अद्यावधि ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। जैनाचार्यों ने ज्ञान पद के साथ सम्यक्, तत्त्व, स्वपरावभाषक, अनधिगतार्थ, व्यवसायात्मक, बाधविवर्जित, अविसवाद, अपूर्व आदि विशेषण जोडकर प्रमाण की परिभाषाये दी हैं। दार्शनिक युग के प्रथम आचार्य और इस अर्थ मे जैन वाङ्मय मे प्रमाण शब्द का प्रथम वार प्रयोग करने वाले आचार्य उमास्वामी ने ज्ञान का प्रमाणो मे वर्गीकरण करके भी प्रमाण की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी। इनके परवर्ती आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण की स्पष्ट परिभाषा देने के साथ उसके भेद, फल और विषयादि सहित प्रमाण की तार्किक चर्चा का सूत्रपात किया। उन्होने लिखा है कि[64] –

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
कमभावी च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसस्कृतम्।।

अर्थात् युगपत् सभी का अवभास कराने वाला तत्त्वज्ञान प्रमाण है। स्याद्वाद, नय सस्कृत कमभावि ज्ञान भी प्रमाण हैं।

समन्तभद्र ने तत्त्वज्ञान को प्रमाण इसलिए कहा कि जिससे, जो ज्ञान तत्त्वज्ञानात्मक नहीं हैं वे प्रमाण न माने जा सके। इससे बौद्धो द्वारा मान्य निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानने का आग्रह समाप्त हो जाता है, क्योकि निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है। इसी प्रकार नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। सन्निकर्ष भी अज्ञान रूप होने से प्रमाण नहीं है। साख्य द्वारा मान्य इन्द्रियवृत्ति भी अचेतन और अज्ञान रूप होने से प्रमाण नहीं है।[65] जो स्व और पर का व्यवसायात्मक निश्चयात्मक ज्ञान है, वही प्रमिति के प्रति साधकतम होता है। तत्त्वज्ञान प्रमिति के प्रति साधकतम है,

इसलिए वह प्रमाण है। प्रमाता और प्रमेय प्रमिति के प्रति साधकतम नही हैं, क्योकि प्रमाता कर्ता है और प्रमेय कर्म है। इसलिए प्रमाता और प्रमेय प्रमाण नहीं है। ये तो मात्र साधक हैं।[66]

तत्त्वज्ञान को प्रमाण मानने के सम्बन्ध मे अकलक का यह विचार है कि तत्त्वज्ञान सर्वथा प्रमाण नहीं है, वह कथचित् प्रमाण है। क्योकि तत्त्वज्ञान को प्रमाण मानने मे अनेकान्त है। एक वस्तु मे अनेक आकार रहते हैं। उन आकारो मे से जिस आकार से तत्त्व का ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा से वह ज्ञान प्रमाण है अन्य आकारो की अपेक्षा से वह प्रमाण नही है।[67] यही कारण है कि प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास मे भी सकीर्ण विजातीयता के सयोगरूप प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सद्भाव पाया जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष हो या प्रत्यक्षाभास दोनो मे कथचित् प्रमाणता और अप्रमाणता पायी जाती है। उदाहरण के लिए चन्द्र और सूर्य का प्रत्यक्ष तो सत्य है पर उनमे निकटता की प्रतीति होना मिथ्या है। इस दृष्टि से चन्द्र और सूर्य मे प्रत्यक्ष रूप प्रमाणता रहने के साथ कुछ अश नैकट्य रूप अप्रमाणता का भी है। काचकामल आदि दोषो के प्रभाव से कभी कभी एक चन्द्रमा मे द्विचन्द्रत्व की भी प्रतीति होती है, जिसको प्रत्यक्षाभास माना गया है। वहा द्वित्व सख्या का ज्ञान प्रमाण नही है, प्रत्यक्षाभास है, फिर भी उसमे चन्द्र का ज्ञान प्रमाण है। इस दृष्टि से प्रत्यक्षाभास मे भी आशिक प्रमाणता पायी जाती है।[68] यहा यह आशका होना स्वाभाविक है कि जब ज्ञान प्रमाणाप्रमाण रूप है तब किसी ज्ञान को प्रमाण और किसी ज्ञान को अप्रमाण क्यो कहा जाता है।[69] इसका समाधान यह दिया गया है कि गन्ध द्रव्य की तरह सवाद और विसवाद के प्रकर्ष की अपेक्षा से ज्ञान मे प्रमाण और अप्रमाण का व्यवहार होता है।[70] जिस प्रकार कस्तूरी मे गन्ध गुण की अधिकता होने से उसे गन्ध द्रव्य कहा जाता है उसी प्रकार जिस ज्ञान मे सवाद के अश अधिक और विसवाद के कम होगे उसे प्रमाण कहा जायेगा एव जिस ज्ञान मे विसवाद के अश अधिक और सवाद के कम होगे उसे अप्रमाण कहा जायेगा।[71] यही प्रमाण व्यवस्था अनुमान आदि प्रमाणो और प्रमाणाभासो मे घटित होता है।[72] प्रमाण और अप्रमाण के विषय मे सर्वथा एकान्त की

कल्पना करने पर अन्तरग या बहिरग किसी भी प्रकार के तत्त्व का सवेदन सिद्ध नही हो सकता।[73] तत्त्वज्ञान प्रमाण है और प्रमाण तत्त्वज्ञान रूप है। प्रमाणो मे पाया जाने वाला प्रतिभासभेद कारण सामग्री के भेद से होता है।[74] प्रत्यक्ष विशद है और लिग आदि से उत्पन्न होने के कारण अनुमान आदि अविशद हैं। इस प्रकार प्रतिभास भेद होने पर भी उन प्रमाणो की प्रमाणता मे कोई अन्तर नहीं आता।[75] इस प्रकार तत्त्वज्ञान को प्रमाण मानने मे कोई दोष नही है।

समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान प्रमाण से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से ज्ञान की स्व और पर अवभासकता सिद्ध हो जाती है। जिसको उन्होने अन्यत्र[76] प्रमाण का लक्षण भी कहा है। समन्तभद्र के बाद सिद्धसेन ने स्वपरावभासी बाधारहित ज्ञान को प्रमाण का लक्षण बताया है।[77] उन्होने प्रमाण लक्षण की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है कि प्रमाण एव उसके कार्य की स्वय प्रसिद्धि है, फिर भी उसको प्रतिपादित करने की आवश्यकता इसलिए पडी कि जिन मन्द बुद्धि वाले लोगो की प्रमाण के विषय मे पहचान नहीं है उनका व्यामोह दूर हो जाये।[78] पात्रस्वामी ने भी प्रमाण के लक्षणो पर प्रकाश डाला है, पर वर्तमान मे उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। सर्वार्थसिद्धि मे पूज्यपाद ने ज्ञानो मे ही प्रमाणता को विभिन्न तर्कों द्वारा सिद्ध किया है।[79] अकलक ने अविसवादी और अनधिगतार्थग्राही इन दो नये पदो का समावेश करके अवभासक के स्थान पर व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है।[80] प्रमाण परीक्षा मे आचार्य विद्यानन्द ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण बताकर उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है।[81] उन्होने प्रमाण के लक्षण मे अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है क्योकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे गृहीत अर्थ को जाने या अगृहीत को वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है।[82] आचार्य माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के लक्षण मे अपूर्व विशेषण का समावेश करके स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।[83] परन्तु उत्तरवर्ती जैन आचार्यो ने सम्यग्ज्ञान या सम्यक् अर्थ निर्णय को ही प्रमाण माना है।[84]

प्रमाण के भेद

आप्तमीमासा मे युगपद्सर्वभासी (अकमभावी) और कमभावी के रूप मे प्रमाण के दो भेद किये गये हैं।[85] जैनदर्शन मे प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप मे प्रमाण के दो भेद सभी आचार्यों ने स्वीकार किये हैं, परन्तु देश, काल परिस्थितियो के अनुसार बढते दार्शनिक प्रभाव के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद के सम्बन्ध मे दो दृष्टिया दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम आगमिक दृष्टि और दूसरी दार्शनिक दृष्टि। प्रथम दृष्टि से केवल आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान केवलज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना गया है। तत्पश्चात् उमास्वामी ने इन्द्रिय और मन के सहयोग से उत्पन्न होने वाले आत्मिक ज्ञान अवधिज्ञान और मनपर्ययज्ञान को भी केवलज्ञान के साथ प्रत्यक्ष माना। समन्तभद्र ने युगपद् सर्वभासी केवलज्ञान को वास्तविक प्रमाण मानकर अकमभावी ज्ञान के रूप मे प्रत्यक्ष प्रमाण तथा कमभावी के रूप मे मति, श्रुत, अवधि और मनपर्यय को लेकर उनका परोक्ष प्रमाण की ओर सकेत किया हैं। वस्तुत समन्तभद्र के सामने दार्शनिक युग का दुहरा दायित्व आ गया था। एक ओर उन्हे पूर्वाचार्य परम्परा द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यो का सरक्षण करना था। दूसरी ओर प्रमाणशास्त्र के रूप मे विकसित हो रहीं अन्य दार्शनिक परम्पराओ के साथ इनका सामजस्य भी स्थापित करना था। समन्तभद्र ने बडी ही कुशलता के साथ इस दुहरे दायित्व का निर्वाह किया है। प्रमाण भेद विषयक समन्तभद्र की यह परम्परा आगे नहीं बढ सकी। बाद के सभी जैन आचार्यों ने उमास्वामी का अनुकरण किया है।

प्रमाण का विषय

आप्तमीमासा मे[86] प्रमाण का विषय प्रमाणगोचरौ सन्तो भेदाभेदौ कहकर समन्तभद्र ने स्पष्ट कर दिया है अर्थात् प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति का भेदाभेदात्मक या सामान्य विशेषात्मक तत्त्व मे ही उपलब्धि होने के कारण वही प्रमाण का विषय है।

प्रमाण का फल

भारतीय दर्शनो मे ज्ञान की उपादेयता अज्ञान निवृत्ति के पश्चात् मोक्ष प्राप्ति माना गया है। जैनाचार्यों की भी प्राय यही विचारधारा रही है। परम्परागत

प्राप्त इस चिन्तन को सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने सयुक्तिक आत्मा को ज्ञानमय बताकर उसे मोक्ष के साथ सयुक्त कर दिया। आप्तमीमासा मे ज्ञानो की तरतमता के आधार पर युगपद् सर्वावभासक ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा कमभावी ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा अथवा हेय एव उपादेय बुद्धि बताकर सामान्य रूप से सभी ज्ञानो के प्रमाण का फल अपने विषय मे अज्ञान का नाश बताया गया है।[87]

प्रमाण फल के दो रूप

अकलक ने प्रमाण के साक्षात् फल और परम्पराफल इन दो फलो को मानकर प्रमाणफल का विवेचन किया है। उन्होने साक्षात्फल को प्रमाण से कथचित् अभिन्न और परम्पराफल को प्रमाण से कथचित् भिन्न माना है। युगपद् सर्वभासक प्रमाण का साक्षत्फल अज्ञान की निवृति है एव परम्परागत उपेक्षा है। मति आदि ज्ञानो – कमभावी प्रमाण का साक्षात्फल अज्ञान की निवृत्ति है तथा इनका परम्पराफल हान, उपादान और उपेक्षा है, परन्तु इनका परम्परागतफल प्रयोजन पर निर्भर करता है। यदि प्रयोजन इष्ट है तो उसका ग्रहण और प्रयोजन इष्ट नही है तो उसका त्याग किया जाता है, प्रयोजन के अभाव मे उसकी उपेक्षा की जाती है।[88]

प्रमाणफल : भिन्नत्व या अभिन्नत्व

अकलक के अनुसार प्रमाण (करण) से फल (किया) कथचित् भिन्न भी होती है और कथचित् अभिन्न भी।[89] वस्तुत प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी। कम से उत्पन्न होने वाले अवग्रह आदि ज्ञानो मे से पूर्व पूर्व का ज्ञान प्रमाण और उसका उत्तर उत्तर का ज्ञान फल होता है।[90] प्रमाण फल की यह व्यवस्था जैनदर्शन के प्राय सभी आचार्यो ने स्वीकार की है। विद्यानन्द ने अज्ञान निवृत्ति रूप स्वार्थ व्यवसिति को प्रमाण फल की व्याख्या मे और जोडकर अपनी प्रखर तार्किक बुद्धि का परिचय दिया है।[91]

प्रमाणाभास

समन्तभद्र की दृष्टि से प्रमाण का स्वरूप जिसमे घटित न हो वह प्रमाणाभास है। उन्होने इसकी चर्चा निम्न प्रकार की है –

1 ज्ञान के मिथ्या होने से प्रमाणाभास होता है। प्रमाण के विना प्रमाणाभास नही होता है।[92]

2 प्रमाणाभास के निह्नव होने पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले सभी लोगो के कार्य की सिद्धि हो जाती है।[93]

3 भाव–ज्ञान को प्रमेय मानने की अपेक्षा से कोई ज्ञान प्रमाणाभास नही है। बाह्य अर्थ को प्रमेय मानने की अपेक्षा से ज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभास दोनो होता है।[94]

4 प्रमा शब्द की तरह माया आदि भ्रान्ति की सज्ञाये भी अपने भ्रान्ति रूप अर्थ से युक्त है।[95]

5 प्रमाण के भ्रान्त होने पर बाह्य और अन्तरग दोनो अर्थ भ्रान्त होते हैं।[96]

आप्तमीमांसा मे नय

ज्ञान की दो वृत्तिया मानी गयी है – 1 प्रमाण और 2 नय। प्रमाण सकलादेशी है और नय विकलादेशी। वस्तु की अनेकान्तात्मकता और विभिन्न मनुष्यो के दृष्टिकोण, नय के मूल कारण हैं। अपने पूर्वाचार्यों की तरह ही समन्तभद्र ने अनेकान्त की सिद्धि के लिए प्रमाण और नय इन दो साधनो का प्रतिपादन किया है।[97]

आप्तमीमासा मे नय का स्वरूप निम्न प्रकार बताया गया है[98]–

स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नय।

अर्थात् जो स्याद्वाद द्वारा गृहीत अर्थ के विशेष नित्यत्व आदि धर्मो का जो अलग अलग कथन करता है, वह नय कहलाता है। धर्मो को विषय करने वाले नय प्रमाण के अश हैं। प्रमाण स्याद्वाद रूप है। इसलिए नय विशारदो को एक अनेक आदि धर्मों मे भी सात भग वाली प्रक्रिया की नय के अनुसार योजना करना चाहिए[99] क्योकि निरपेक्ष नय मिथ्या हैं।[100]

सापेक्ष नय और निरपेक्ष नय

नय परस्पर सापेक्ष होकर ही व्यवहार मे साधक हो सकते है। जो अश–नय परस्पर निरपेक्ष होते हैं वे पुरुषार्थ के हेतु नही हो सकते है।[101] सापेक्ष और

निरपेक्ष नय के इस विवेचन से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि सम्यक् नय और मिथ्या नय के रूप मे नय के दो भेद परवर्ती दार्शनिको के लिए सुनय दुर्नय[102] आदि भेद करने के लिए पृष्ठभूमि रही।

प्रमाण सप्तभंगी नय सप्तभगी

आप्तमीमासा मे समन्तभद्र ने प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभगी का भी विवेचन किया है। जिसका बाद के आचार्यों ने अनुकरण किया है। वस्तु के अनन्त धर्मो को ध्यान मे रखकर सप्तभगी की प्रकिया बतायी गयी है। नय की अपेक्षा से वस्तु सत आदि रूप है, सर्वथा नही।[103] अनन्त धर्म वाले धर्मी के प्रत्येक धर्म का अर्थ भिन्न भिन्न होता है। एक धर्म के प्रधान होने पर शेष धर्मों की प्रतीति गौण रूप से होती है। इसलिए समन्तभद्र ने भिन्न भिन्न अर्थ समझने के लिए एक अनेक आदि धर्मों मे भी नय के अनुसार सप्तभगी प्रकिया की योजना को आवश्यक बताया है।[104] इससे स्पष्ट है कि उन्होने नय सप्तभगी के साथ प्रमाण सप्तभगी का नाम नहीं लेने पर भी दोनो का प्रतिपादन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आप्तमीमासा मे जैनदर्शन के उन समस्त तत्त्वो एव सिद्धान्तो का वर्णन किया गया है, जो परवर्ती आचार्यों के चिन्तन मे विकास को प्राप्त हुआ।

सन्दर्भ

1 षट्ख0पर्या0सू078
2 प्र0 सार 1 48 49
3 वही 1 9
4 वहीं 1 14
5 वही 1 15
6 वही 1 16
7 नि0सा0 159
8 प्र0सा0 1 23
9 त0सूत्र 1 29 एव 10 1
10 रत्न0 1
11 आप्त0 5
12 वही 6
13 आप्त0 भाष्य 3
14 वही
15 वही
16 वही 4
17 वही 5
18 न्यायवि0 361 362,410 415 465
19 आप्त0 1
20 वहीं 2
21 वही 3
22 वही 5
23 पचा0 काय 8
24 वही, 11, 15
25 प्र0सार 2 8

26 वही, 2 9
27 वही 2 10
28 त0 सूत्र 5 29–30 5 38, 39
29 वही 57 58
30 देखे, प्रस्तुत अध्याय प्र0परि0टि036
31 वही 71, 72
32 वही 22
33 देखे, अ0 प0प्र0प0टिप्पण
34 स्वय0 103
35 आप्त0 34
36 वही 102
37 वही, 34
38 वही 57 58
39 वही 59 60
40 वही 109–111
41 वही 103
42 आप्त0 भाष्य 103
43 अ0 स0 पृष्ठ 286
44 स्वय0 44 45
45 वही, 44
46 देवा0 वृत्ति 103
47 आप्त0 104
48 आप्त0 भाष्य 104
49 स्वय0 टीका 138
50 आप्त0 105
51 अ0 स0 पृष्ठ 288
52 आप्त0 14 16
53 स्वय0 118 एव युक्त्य0 45
54 पचा0 14 एव प्र0 सार 2 23
55 त0 वा0 1 6 5
56 स्वय0 118
57 अ0 स0 पृष्ठ 126
58 आप्त0 15
59 आप्त0 भाष्य 15
60 आप्त0 17–19
61 स0 सि0 पृष्ठ 69
62 वहीं पृष्ठ 69
63 त0 वा0 1 10
64 आप्त0 101
65 अ0 स0 पृष्ठ 276
66 वही 275, 276
67 आप्त0 भाष्य 101
68 वही 101
69 अ0 स0 पृ0 276
70 आप्त0 भाष्य 101
71 अ0 स0 पृष्ठ 276
72 आप्त0 भाष्य 101
73 वही 101
74 वही 101
75 अ0 स0 पृष्ठ 278
76 स्वय0 63
77 न्या0
78 वही 2, 3
79 स0 सि0 पृष्ठ 68
80 अ0 स0 पृष्ठ 175 एव लघी0
60 81 प्र0 प0 पृष्ठ 1
82 त0 श्लो0 1 10 77 78
83 प0 मु0 1 1
84 न्यायदी0 पृष्ठ 3 एव प्र0 मी0 1 1 2
85 आप्त0 101
86 आप्त0 36 एव युक्त्य0 7
87 आप्त0 102
88 आप्त0 भाष्य 102
89 वही
90 लघी0 6
91 प्र0 प0 पृष्ठ 66
92 आप्त0 79
93 वही 81
94 वही 83
95 वही 84
96 वही 86
97 स्वय0 103 एव युक्त्य0 6
98 आप्त0 106
99 वही 22, 23
100 वही, 108
101 वही 108
102 आप्त0 भाष्य 108
103 आप्त0 14
104 वही 23

परिच्छेद तृतीय
आप्तमीमांसा एवं अन्य भारतीय दर्शन

आप्तमीमासा मे विभिन्न एकान्तवादो के माध्यम से भारतीय दर्शनो का समीक्षण किया गया है। इन एकान्तवादो के समीक्षण के दौरान् समन्तभद्र ने विभिन्न दार्शनिक मन्तव्यो को सम्प्रदायो के अनुसार वर्गीकृत नहीं किया और न ही षड्दर्शनो के रूप मे विभाजन किया। उन्होने एक भी स्थान पर किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के प्रणेता के नाम का भी उल्लेख नहीं किया। आप्तमीमासा की यह विशेषता है कि एक दार्शनिक सिद्धान्त यदि अनेक सम्प्रदायो मे मान्य है तो उसका समीक्षण सामान्य रूप से एक साथ एक स्थान पर किया गया है, जिससे एक साथ जैसे सभी सम्प्रदायो का समीक्षण हो जाता है। समन्तभद्र के व्याख्याकारो ने इन्ही एकान्तवादो को विभिन्न सम्प्रदायो के सिद्धान्त मानकर उनकी समीक्षा प्रस्तुत की है। आप्तमीमासा मे जिन एकान्तवादो का समीक्षण किया गया है, उनकी तालिका अधोलिखित है –

क	1	भावैकान्त	2	अभावैकान्त
	3	भावाभावैकान्त	4	अवाच्यतैकान्त
ख	5	अद्वैतैकान्त	6	द्वैतैकान्त
	7	द्वैताद्वैतैकान्त	8	अवाच्यतैकान्त
ग	9	नित्यत्वैकान्त	10	अनित्यत्वैकान्त–क्षणिकैकान्त
	11	नित्यानित्यत्वैकान्त	12	अवाच्यतैकान्त
घ	13	अन्यत्वैकान्त	14	अनन्यत्वैकान्त
	15	अन्यानन्यत्वैकान्त	16	अवाच्यतैकान्त
ङ	17	अपेक्षैकान्त	18	अनपेक्षैकान्त
	19	अपेक्षानपेक्षैकान्त	20	अवाच्यतैकान्त
च	21	हेत्वैकान्त	22	आगमैकान्त
	23	हेत्वागमैकान्त	24	अवाच्यतैकान्त

छ	25	अन्तरगार्थतैकान्त	26	बहिरगार्थतैकान्त
	27	अन्तरगबहिरगार्थतैकान्त	28	अवाच्यतैकान्त
ज	29	देवैकान्त	30	पौरुषैकान्त
	31	देवपौरुषैकान्त	32	अवाच्यतैकान्त
झ	33	परत्रसुखदु खपुण्यपाप – बन्धैकान्त	34	स्वायतसुखदु खपुण्यपापबन्धैकान्त
	35	स्वपरसुखदु खपुण्यपाप – बन्धैकान्त	36	अवाच्यतैकान्त
ट	37	अज्ञानात् बन्धैकान्त	38	अल्पज्ञानात् मोक्षैकान्त
	39	अज्ञानाल्पज्ञानबन्धमोक्षैकान्त	40	अवाच्यतैकान्त

आप्तमीमासा मे उपर्युक्त सभी एकान्तवादो का समीक्षण किया गया है।[1] इस समीक्षण मे बताया गया है कि यदि कोई भी एकान्तवाद अपने विरोधि धर्म का निषेध नही करके उन्हे सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार किया जाता है तो वे अपनी मर्यादा के अन्तर्गत सत्य है। परन्तु निरपेक्ष रूप मे असत्य है।

भारतीय दर्शनो मे वैदिक अवैदिक षड् दर्शनो के रूप मे जिस प्रकार विभाजन किया गया है, उस क्रम से, आप्तमीमासा के अन्तर्गत उनका यहा समीक्षण प्रस्तुत है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक विचारधारा का समन्तभद्र द्वारा युक्त्यनुशासन मे विस्तृत समीक्षण किया गया है, जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। आप्तमीमासा मे आये सम्बन्धित मन्तव्यो का समीक्षण टीकाकारो के आधार पर यहा प्रस्तुत है।

चार्वाक दर्शन मे मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रमाण माना गया है। इन्द्रियो से दृष्टिगोचर नहीं होने वाले आत्मा परमात्मा, पुण्य पाप, स्वर्ग नरक, बन्ध मोक्ष आदि किसी का भी अस्तित्व नहीं है।[2] उपर्युक्त मान्यता का आप्तमीमासा की 'तीर्थकृत्समयानाम्[3]' कारिका की व्याख्या मे बताया गया

है कि मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण, सर्वज्ञ, अनुमान, तर्क, आगम आदि के अभाव को सिद्ध नही कर सकता क्योकि उसमे अतिप्रसग दोष आता है तथा उन विषयो मे उस प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही मानी जा सकती। यदि प्रवृत्ति मानी जाती है तो वही प्रत्यक्ष पुरुषान्तर देशान्तर, कालान्तरवर्ती पुरुषो के अनुमान तर्क आदि का अभाव पृथ्वी आदि विषयो सहित ज्ञात करा देता, जिससे बृहस्पति आदि के प्रत्यक्ष के विषय का भी अभाव सिद्ध हो जायेगा।[4] चार्वाक के मत से सवाद और असवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से दूसरे के चित्त का अवबोध तथा अनुपलब्ध हेतु से जनित अनुमान हेतु से परलोकादि का प्रतिषेध आदि कहा गया कथन स्वसिद्धान्त के विरुद्ध है और प्रमाणान्तर अनुमान आदि की ही सिद्धि होती है।[5]

इन्द्रिय जनित प्रत्यक्ष मे स्वप्रमा घटित नहीं होती क्योकि उनके यहा उस ज्ञान को अस्वसविदित माना गया है। इससे प्रत्यक्ष प्रमाण मे स्वप्रमा (ज्ञान) की व्यावृत्ति सिद्ध ही है। प्रत्यक्ष से ही प्रमाण अप्रमाण रूप सामान्य की स्थिति नही बन सकती अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण मे ज्ञान की व्यावृत्ति न मानने से ज्ञान मे स्वार्थ व्यवसायात्मक सिद्ध हो ही जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद का आश्रय लेने से एकान्तिकत्व का अभाव हो जाता है और एकान्त का अभाव होने पर अनेकान्त की सिद्धि हो जाती है।[6]

चार्वाक के दो और प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं – प्रथम भूतचैतन्यवाद–स्वभाववाद और अर्थकामाचारवाद। भूतचैतन्यवाद के अनुसार जिसप्रकार पिष्टोदक, गुड, धातकी आदि मद्यागो के सयोजन से मदशक्ति आविर्भूत होती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि चारो भूतो के मिलने से "ज्ञ" चेतन की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। आकाश पुष्प के अभाव की तरह गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त चैतन्य विशिष्ट शरीर धारण करने वाले पुरुष के जन्म से पूर्व और मरण के बाद भवान्तर नाम का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योकि उसकी उपलब्धि नहीं होती।[7] परन्तु इस प्रकार चार्वाक के द्वारा भवान्तर की अनुपलब्धि मे दिया गया अनुमान असिद्ध है, क्योकि प्राणियो के आदि

का चैतन्य, चैतन्य रूप उपादान कारण से उत्पन्न होता है, इसका कारण यह है कि वह चैतन्य पर्याय है। जैसे पूर्ण चैतन्य को प्राप्त पर्याय परिवर्तित होकर मध्यवर्ती चैतन्य की पर्याय के लिए उपादान रूप है। इसी प्रकार अन्त्य चैतन्य का परिणाम करणावस्था रूप चैतन्य का कार्य रूप है। इस अनुमान से पूर्व और उत्तर पर्यायो मे चैतन्य स्वभाव के मौजूद होने से ससार तत्त्व की सिद्धि हो जाती है।[8] उनका यह कथन भी असिद्ध है कि भूत और चैतन्य मे सजातीयत्व है क्योकि भूत और चैतन्य का अलग अलग लक्षण पाया जाता है। ससार प्रत्यक्ष का विषय न होने से प्रत्यक्ष से उसका खण्डन भी नहीं हो सकता। मोक्ष की सत्ता अनुमान और आगम आदि प्रमाणो से सिद्ध ही है। मोक्ष के कारणो मे भी प्रमाण से बाधा उपस्थित नही होती।[9] इसलिए चार्वाक की मान्यताऐ असिद्ध हैं।

बौद्धदर्शन का समीक्षण

आप्तमीमांसा मे पृथक्त्वैकान्त, अनित्यत्वैकान्त, अन्यत्वैकान्त, अभावैकान्त, अन्तरगार्थतैकान्त आदि विभिन्न एकान्तवादो के समीक्षण के अन्तर्गत बौद्ध सम्मत विभिन्न सिद्धान्तो – क्षणिकवाद, सन्तानवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि का समीक्षण किया गया है, जिसका विवेचन प्रस्तुत है।

क्षणिकवाद

क्षणिकवाद बौद्धदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। इसका प्रारम्भिक रूप जगत की अनित्यता के रूप मे होता है।[10] बाद मे बुद्ध की अनित्यता को आधार मानकर उत्तरकाल मे स्थिविरवादियो ने चित्–चैतसिको की क्षणिकता को स्वीकार किया है। सर्वास्तिवादियो ने बाह्य जगत् को किंचित् क्षणिक माना तथा आगे चलकर सौत्रान्तिक पूर्ण रूप से क्षणिकवाद मानने लगे। इसके बाद असग, बसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, कमलशील आदि दार्शनिको ने इसे पूर्ण विकसित रूप प्रदान किया।[11] सामान्य रूप से क्षणिकवाद के सन्दर्भ में यह माना गया है कि जो सत् है वह क्षणिक है। एक चित्तक्षण दूसरे चित्तक्षण को उत्पन्न करता जाता है। इस प्रकार यह क्रम बराबर बना रहता है और एक दूसरे को उत्पन्न करता रहता है, इससे द्रष्टा को उनके सादृष्य के कारण एकत्व की प्रतीति होती है।

धारा के रूप मे चल रही यह सन्तान परम्परा काल्पनिक मानी गयी है।[12] योगाचार मे सत् की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति है, जो पदार्थ सत् है वह निश्चित रूप से क्षणिक है। अर्थक्रियाकारित्व भी इसी मे माना गया है।[13] आप्तमीमासा मे बताया गया है कि क्षणिकवाद मानने पर अनेक आपत्तिया आती हैं। क्षणिकैकान्त मे प्रेत्यभावादिक नही बन सकते क्योकि प्रत्यभिज्ञादि के अभाव होने से जब कार्य का आरम्भ ही नहीं बनता तो उसका फल कैसे बन सकता है।[14]

सन्तानवाद : संघातवाद

बौद्धदर्शन के अनुसार चलचित्र की तरह सभी सस्कार क्षणमात्र अवस्थित रहकर विनष्ट हो जाते हैं एव दूसरे दूसरे उत्पन्न होते चले जाते हैं। यही क्रम बराबर बना रहता है, इस सन्तति क्रम को सन्तानवाद कहा गया है।[15] इस दृष्टि से नित्य आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। वर्तमान मे जो कुछ भी प्रतीत होता है वह नामरूपात्मक पच स्कन्धो का सघात मात्र है। रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार ये पाच स्कन्ध हैं।[16] आप्तमीमासा के अनुसार यह मान्यता समीचीन नहीं है। क्योकि पृथक् धर्मों मे या एकत्व के अभाव मे सन्तान, समुदाय, साधर्म्य आदि निरकुश रूप मे नही बन सकते हैं। इनको सवृत्ति रूप मानने पर वे मिथ्या सिद्ध होते हैं, क्योकि विना मुख्य अर्थ के सवृत्ति बन नहीं सकती और मुख्यार्थ सवृत्ति रूप हो नहीं सकता। स्कन्ध सन्ततिया सवृत्ति रूप होने से असस्कृत हैं। इसलिए उनका खरविषाण की तरह स्थिति, उत्पत्ति और व्यय नहीं बन सकता है।[17]

कार्यकारण भाव आदि का अभाव

कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे भारतीयदर्शनो मे तीन दृष्टिया दिखलायी पडती हैं। 1 सत्कार्यवादी 2 असत्कार्यवादी और 3 सतासत् कार्यवादी। बौद्धदर्शन में असत् से सत् की उत्पत्ति मानी गयी है एव सत् का निश्चय विनाश। उनके अनुसार जिस स्थान पर जिस समय मे जो वस्तु है वह उसी समय नष्ट हो जाती है, दो धर्मों का आपस मे कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।[18] एक सिद्धान्त बौद्धदर्शन मे प्रतीत्यसमुत्पाद भी है। जिसके अनुसार न कार्य

को कारण का परिणाम माना जाता है और न असत् से उत्पन्न। कारण न कार्य का उपादान है न आरम्भक, किन्तु कारण की सत्ता और कार्य की सत्ता मे सापेक्षता है।[19]

आप्तमीमासा मे बताया गया है कि अनन्वयी क्षणो मे हेतुफलभाव आदि नही बन सकता क्योकि एक सन्तान दूसरी सन्तान से सर्वथा भिन्न होती है और सन्तान सन्तानी से भिन्न नहीं होता।[20] इसकी व्याख्या मे अकलक ने बताया है कि जिस प्रकार आकाश पुष्प के सर्वथा असत् होने से उसकी उत्पत्ति नहीं बन सकती तदवस्थ कार्य को असत् मानने पर उसकी भी उत्पत्ति नहीं बन सकती। जब कार्य सर्वथा असत् माना जायेगा तो बाझ पुत्र की तरह उसका कारण भी नही बन सकता है। कार्यकारण भाव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त मे ही सम्भव है, क्योकि उनमे अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है।[21] कार्यकारण भाव आदि बन जाने पर ही पूर्व पूर्व पर्याय उत्तर उत्तर पर्याय मे परिणत हो जाती है। जैसे मृत्पिण्ड, स्थास, कोश, कुसूलादि मे पूर्व पर्याय उत्तर उत्तर मे परिणत होती जाती है। इसको समस्त लोक जानता है। आगे आगे सदृश पर्याय की उत्पत्ति के आधार पर उसमे उपादान का नियम मानना भी उचित प्रतीत नही होता, क्योकि जिस प्रकार घट और पट मे वैलक्षण्य है उसी प्रकार अन्वय व्यतिरेक के अभाव मे मृत्पिण्ड और घट मे भी पाया जाता है। अत्यन्त असत् से कार्य की उत्पत्ति मानने पर तन्तु से पट ही उत्पन्न होता है कुटादिक नही, ऐसा नियम भी कैसे बन सकता है। इसके लिए तो कारण का ऐसा स्वभाव मानना नितान्त आवश्यक है, जो पूर्वस्वभाव को त्याग कर उत्तर स्वभाव को ग्रहण करता हुआ द्रव्य रूप से स्थिर बना रहे। अन्यथा न तो उपादान का नियम सुघटित होता है और न कार्य की उत्पत्ति म विश्वास। वस्तु की व्यवस्था तो कथचित् सत् और कथचित् असत् मानने पर ही बन सकती है। तन्तुओ मे पट रूप से परिणत होने की विशेषता के कारण पट की उत्पत्ति होती है। अत तन्तुओ की अपेक्षा से पट सत् है तथा अन्य घट आदि की अपेक्षा से वह असत् है।[22]

निर्हेतुक विनाश असम्भव

क्षणिकवादियो के मत मे विनाश निर्हेतुक है। विनाश दो प्रकार का है – 1 अनुभवात्मक विनाश और 2 अनुभवातीत विनाश। अनुभवात्मक विनाश प्रध्वश कहलाता है तथा अनुभवातीत विनाश क्षणिक (अनित्य) होता है। स्वय यथार्थ ही विनाश है जो परमार्थ सत् है। जिसकी सत्ता क्षणिक होती है, वह अहेतुक होता है।[23] आप्तमीमासा के अनुसार[24] 1 यदि कार्य के आरम्भ के लिए हेतु का समागम किया जाता है तो अपृथक् के समान आश्रितो मे परस्पर कोई भेद न होने से वह हेतु आश्रियो से भिन्न नही माना जा सकता है। 2 पदार्थ को प्रलय स्वरूप आकस्मिक मानने पर कृत कर्म का प्रणाश और अकृत कर्म के भोग का प्रसग आता है। 3 कर्म असचेतित–अविचारित ठहरते हैं। 4 हिस्य हिसक भाव नही बनता। 5 बन्ध और मुक्ति नहीं बनती। 6 चित्त सन्तति के नाश रूप अष्टागहेतुक मोक्ष नही बनता।

ज्ञान और ज्ञेय के लोप होने की आपत्ति

पृथक्त्वैकान्त मे सत् स्वरूप की अपेक्षा से यदि ज्ञान को ज्ञेय से पृथक् माना जाता है, तो ज्ञान और ज्ञेय दोनो असत् हो जायेगे। लेकिन एकान्तवादियो के यहा ज्ञान के अभाव मे बहिरग और अन्तरग ज्ञेय कैसे हो सकता है।[25] अकलक की दृष्टि मे ज्ञान और ज्ञेय मे सत्ता की अपेक्षा तादात्म्य सम्बन्ध है। यदि सत्ता की अपेक्षा से भी ज्ञान और ज्ञेय को पृथक् पृथक् माना जाता है तो वे असत् सिद्ध होते है। इसमे ज्ञान और ज्ञेय दोनो के लोप होने की आपत्ति आती है। इसलिए ज्ञान और ज्ञेय मे कथंचित् स्वभाव भेद होने पर भी सत्ता की अपेक्षा से तादात्म्य मानना आवश्यक है।[26]

अवक्तव्य एकान्त निरर्थक

क्षणिकवादियो के यहा सभी धर्मों मे चतुष्कोटि विकल्प के कथन का अयोग होने से सन्तान और सन्तानी को अवाच्य कहना युक्त नहीं है, क्योकि चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है तो यह भी नहीं कहा जाना चाहिए। सभी धर्मों से रहित अवस्तु होती है, जिसमे विशेष्य विशेषण नहीं बन सकता

है, क्योकि द्रव्यादि के अन्तर्भाव से सत् रूप सञ्ज्ञी का ही निषेध होता है। सर्वथा असत् के विधि निषेध का भाव नही बन सकता। सभी धर्मों से रहित होने के कारण अवस्तु ही अभिलाप्य कहलाती है तथा प्रकिया के विपर्यय होने से वस्तु ही अवस्तु हो जाती है। सभी धर्म अवक्तव्य हैं, इसको यदि सवृत्ति रूप कहा जाता है तो सवृत्ति परमार्थ से विपरीत होने के कारण मिथ्या ही है तथा सभी धर्म अवक्तव्य हैं, यह अशक्ति, अभाव या अबोध के कारण कहा गया है तो इनमे अशक्ति और अज्ञान कारण हो नहीं सकते। इसलिए पूर्वपक्षियो द्वारा मायाचारी करने से क्या लाभ, अभाव को ही कारण रूप मे कहा जाना चाहिए।[27]

आप्तमीमासाभाष्य मे लिखा है कि चतुष्कोटि विकल्प के रूप मे अवक्तव्यवाद की कल्पना निराधार है, क्योकि यदि स्वलक्षण अवक्तव्य है तो चारो कोटियो को सर्वथा अवक्तव्य भी कैसे कहा जा सकता है। अन्यथा स्वलक्षण को भी कथचित् वक्तव्य मानना पडेगा। क्योकि वक्तव्य आदि सभी विकल्पो से रहित वस्तु अवस्तु हो जायेगी। जिससे सर्वथा असत् रूप वस्तु मे विशेषण विशेष्य भाव भी नहीं बन सकेगा। सञ्ज्ञी सत् का ही इसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से प्रतिषेध किया जाता है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नहीं। असत् विधि निषेध रूप नहीं हो सकता। जो पदार्थ कथचित् अभिलाप्य हैं उसी मे उसके अभिलाप्यत्व का निषेध करके अनभिलाप्यत्व सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार विशेषण विशेष्य का भी समझना चाहिए। परस्पर विरुद्ध दिखने वाले अभिलाप्य और अनभिलाप्य एव विशेष्य विशेषण और अविशेष्य अविशेषण के साथ रहने मे कोई विरोध नहीं है। बौद्धो के यहा भी स्वलक्षण को अनिर्देष्य मानकर अनिर्देष्य शब्द के द्वारा निर्देष्य माना गया है। अभाव को भी अनभिलाप्य नहीं कहना चाहिए क्योकि जहा अभाव है वहीं भाव का भी अभिधान होता है।[28] अवक्तव्य आदि सभी धर्मों को वाग्गोचरातीत मानने पर भी उनका अभिलपन नहीं बन सकता है। सवृत्ति से मानने पर विकल्प की अनुपपत्ति आती है। स्वरूप से अभिलाप्य मानने पर अनभिलाप्य नहीं बनता। पररूप से मानने पर वह पररूप ही उनका स्वरूप हुआ। इसमे मात्र वचन का स्खलन ही

हुआ। उभय पक्ष मे उभय दोष आते है। इसलिए तत्त्वत अवक्तव्य कैसे हो सकता है।[29]

क्षणिकवाद कथंचित् सत्य

यदि पदार्थ को कथचित् क्षणिक माना जाता है तो क्षणिकवाद भी सत्य हो सकता है, क्योकि तत्त्व कथचित् नित्य और क्षणिक दोनो है। तत्व कथचित् नित्य इसलिए है कि वह प्रत्यभिज्ञान का विषय है, प्रत्यभिज्ञान का सद्भाव विना किसी कारण के नही होता है तथा अनेकान्त मत मे काल भेद होने से कथचित् क्षणिक भी है। सर्वथा नित्य तथा सर्वथा क्षणिक तत्व मे बुद्धि का सचार नही हो सकता है।[30] किसी वस्तु का अस्तित्व उत्पाद, व्यय और धौव्य के एक साथ रहने मे ही निहित है। वस्तु मे उत्पाद आदि की व्यवस्था सामान्य और विशेष की अपेक्षा से बन जाती है। सामान्य की अपेक्षा वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न ही नष्ट क्योकि सभी पर्यायो मे उसका अन्वय पाया जाता है। वस्तु नष्ट और उत्पन्न विशेष की अपेक्षा से ही होती है।[31] एक हेतु का नियम होने से हेतु के क्षय होने का नाम ही कार्य का उत्पाद है। लक्षण की अपेक्षा उत्पाद और विनाश पृथक् पृथक् है तथा जाति के अवस्थान के कारण उनमे कोई भेद नहीं है। परस्पर निरपेक्ष उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आकाशपुष्प की तरह अवस्तु रूप हैं।[32] इसको समन्तभद्र ने सुवर्ण के उदाहरण के माध्यम से समझाते हुए बताया है कि सुवर्ण के घट का, सुवर्ण के मुकुट का और मात्र सुवर्ण का इच्छुक व्यकित क्रमश सुवर्ण के घट के नाश होने पर शोक को, सुवर्ण के मुकुट के उत्पन्न होने पर हर्ष को तथा दोनो ही स्थितियो मे सुवर्ण की स्थिति विद्यमान रहने से माध्यस्थ भाव को प्राप्त होता है। ये सभी अपने कारण सहित ही होता है। अपनी बात को और अधिक पुष्ट करने के लिए समन्तभद्र ने एक अन्य लोकोत्तर उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस व्यक्ति के दूध पीने का व्रत है वह दधि नही खाता है, जिस व्यक्ति के दधि खाने का व्रत है वह दूध नही पीता है और जिस व्यक्ति के गोरस लेने का व्रत है, वह दोनो नही लेता। इसलिए तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक सिद्ध होता है।[33]

विज्ञानवाद समीक्षा

विज्ञानवाद को योगाचार भी कहते है। यह बौद्धो का विकसित दार्शनिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार ससार की समस्त वस्तुए स्वप्न, भ्रम आदि की तरह असत् हैं। बाह्यपदार्थों की कोई सत्ता नही, केवल अन्तरग पदार्थ विज्ञान मात्र की ही सत्ता है। बाह्य जगत् मे जो कुछ भी दिखाई पडता है वे हमारे चित्त के ही प्रतिविम्ब हैं।[34] वसुबन्धु ने चित्त, मन और विज्ञप्ति को विज्ञान का ही पर्याय माना है। उनके अनुसार दृष्य जगत् मिथ्या है और उसकी सभी वस्तुए मिथ्या–प्रतिभास हैं। इसलिए एकमात्र विज्ञप्तिमात्र ही परम सत्य है।[35] तथता भी इसी को कहते हैं।[36] लकावतारसूत्र मे इसे आलयविज्ञान कहा गया है।[37] दिग्नाग ने विज्ञप्ति को शाश्वत न कहकर उसको विज्ञानो का प्रतिक्षण परिवर्तनशील सन्तति माना है।[38]

आप्तमीमासा मे अन्तरगार्थतेकान्त या विज्ञप्तिमात्रता मे अधोलिखित आपत्तिया बतायी गयी हैं।

1 बुद्धि और वाक्य मिथ्या सिद्ध होते हैं।

2 बुद्धि और वाक्य के मिथ्या होने से प्रमाणाभास कहलायेगे और प्रमाणाभास विना प्रमाण के असम्भव है।[39]

3 साध्य साधन और दृष्टान्त नही बनते क्योकि उसमे प्रतिज्ञा और हेतु दोष आते हैं।

4 साध्य साधन की बुद्धि को निरर्थक मानने पर विज्ञानमात्र की सिद्धि मे हेतु का अभाव आता है।[40]

योगिगम्य स्वसवेद्य विज्ञानाद्वैत तत्त्व मानने पर भी अनेक आपत्तिया आती हैं। समन्तभद्र के अनुसार इसको भी निम्न प्रकार से व्यवस्थित रूप दिया जा सकता है। इसके लिए उन्होने निम्न तर्क दिये है।[41]

1 भाव प्रमाण की अपेक्षा से सभी ज्ञान प्रमाण हैं।

2 बाह्यप्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाणाभास दोनो सिद्ध हो जाते हैं।

3 सज्ञापना होने से प्रत्येक वस्तु अपने अर्थ को लिए हुए है।

4 जीव शब्द भी बाह्यार्थ सहित है।

5 मायादि भ्रान्त सज्ञाए भी अपने अर्थ को लिए हुए हैं।

6 बुद्धिसज्ञा, शब्दसज्ञा और अर्थसज्ञा के क्रमश बुद्धि शब्द और अर्थ का बोध अपने सज्ञापने के कारण समान रूप से होता है।

7 बोध, वाक्य और प्रमाण ये तीनो पृथक् पृथक् हैं।

8 प्रमाण के भ्रान्त होने पर अन्तर्बाह्य ज्ञेय भी भ्रान्त होते हैं।

9 बुद्धि और वाक्य की प्रमाणता बाह्य अर्थ पर निर्भर है।

10 सत्य और असत्य की व्यवस्था भी बाह्य अर्थ पर अवलम्बित है।

प्रमेय की अपेक्षा से कोई ज्ञान प्रमाणाभास नही होता अपितु सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं तथा बाह्यप्रमेय की अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोनो होते हैं। अकलक की दृष्टि मे जैनदर्शन की यह व्यवस्था प्रकारान्तर से बौद्धो को भी मान्य है क्योकि वे सभी चित्त चैतसिको को स्वसवेदन प्रत्यक्ष मानते हैं परन्तु उनका निर्विकल्पक रूप से मानना अयुक्त है क्योकि स्वार्थ व्यवसायात्मक होने पर ही प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है।[42] बौद्ध यद्यपि सवेदन प्रत्यक्ष मानते हैं लेकिन वह सवेद्य प्रतिक्षण निरश रूप होने से उचित नहीं है, क्योकि प्रतिक्षण निरश रूप सवेदन का प्रत्यक्ष अनुभव मे दिखाई नहीं देता। अनुभव मे जैसा दिखाई देता है वैसा बौद्ध मानते नहीं हैं। स्थिर आत्मा मे ही सुखदु ख आदि बुद्धि रूप हर्ष विषादि का अनुभव होता है। यदि इस अनुभव को सर्वदा भ्रान्त माना जाता है तो वह अप्रत्यक्ष हीं रहेगा तथा कथचित् भ्रान्त मानने पर उनका स्वय का सिद्धान्त भी स्थिर नहीं होगा।[43]

निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे ही केवल अप्रत्यक्षत्व की समानता नहीं है वल्कि सविकल्पक ज्ञान मे भी है। इसलिए स्वसवेदन की अपेक्षा से कोई भी ज्ञान सर्वथा अप्रमाण नहीं है तथा बाह्य अर्थ की अपेक्षा से तो प्रमाण और प्रमाणाभास दोनो की व्यवस्था बन जाती है। जैसे आकाश मे जो केश

मशकादि का ज्ञान होता है, वह क्वचित् स्वरूप की अपेक्षा से सवादक और विसवादक होने से प्रमाण तथा अप्रमाण है।[44] विद्यानन्द ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि आकाश मे केशादि का ज्ञान बाह्य मे विसवादक होने से प्रमाणाभास है तथा स्वरूप मे सवादक होने से प्रमाण है। इसलिए एक ही ज्ञान मे प्रमाण और प्रमाणाभास के होने मे कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण के ऊपर की कालिमा आदि हटने के बाद उत्कृष्ट, जघन्य परिणाम बनते हैं। उसी प्रकार एक जीव के आवरण आदि हटने के पश्चात् सत्य और असत्य आभास रूप सवेदन परिणाम सिद्ध होता है।[45]

सज्ञा अभिप्राय मात्र को सूचित करती है, बाह्य पदार्थ के अर्थ को नहीं, बौद्धो की यह मान्यता उचित नही क्योकि सज्ञात्व होने से हेतु शब्द की तरह जीव शब्द बाह्यार्थ सहित है।[46] इसको स्पष्ट करते हुए अकलक ने लिखा है कि[47] –

1 सज्ञा को अभिप्राय मात्र मानने पर अर्थक्रिया मे नियम का योग नही बनता।

2 जिस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होने पर अर्थक्रिया मे विसवाद नहीं होता, उसी प्रकार बाह्य अर्थ सहित पुरुष की अर्थक्रिया मे विसवाद नहीं होती।

3 साधन और साधनाभास मे कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। यदि यह कहा जाये कि परम्परा से अर्थानुभव पूर्वक वासना और वासना पूर्वक शब्द एक सत्य अर्थ मे वाच्य होता है।

4 शब्द के विषय मे कहीं व्यभिचार देखकर सभी जगह व्यभिचार की कल्पना अयुक्त है। अन्यथा चक्षुरादि इन्द्रियो मे भी व्यभिचार मानना पडेगा।

5 इसी प्रकार कार्य कारण भाव मे भी व्यभिचार हो जायेगा, जिससे धूम से अग्नि का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

6 कहीं पर कार्य कारण में व्यभिचार भी देखा जाता है। काष्ठादि से जिस प्रकार अग्नि का जन्म होता है उसी प्रकार सूर्यकान्तमणि आदि से भी अग्नि का जन्म होता है।

7 अभिप्राय की विचित्रता से अभिधान मे व्यभिचार देखा जाता है। प्रत्यक्ष और अनुमान मे भी कारण सामग्री की विचित्रता से व्यभिचार देखा जाता है। इसलिए कही प्रत्यक्ष और अनुमान को अर्थ के प्रतिपादक रूप मे और शब्द को अभिप्राय मात्र सूचक रूप मे कथन करना युक्त नहीं है।

सत्य और असत्य की व्यवस्था

आप्तमीमासा के अनुसार बुद्धि और शब्द की प्रमाणता बाह्य अर्थ के होने पर होती है। सत्य और असत्य की व्यवस्था क्रमश अर्थ की प्राप्ति अप्राप्ति पर निर्भर है।[48] अकलक ने इसकी व्याख्या मे लिखा है कि स्व और पर के बोध के लिए क्रमश बुद्धि और शब्दसाधन हैं। स्वसवृत्ति मात्र माने जाने पर दूसरो को बोध नही हो सकता है। बाह्य अर्थ के सद्भाव होने पर तथा बुद्धि और शब्द द्वारा ज्ञेय अर्थ और उसकी प्राप्ति होने पर ही उसमे प्रमाणता सिद्ध होती है। बाह्य अर्थ के सद्भाव एव अर्थ की प्राप्ति नहीं होने पर प्रमाणाभास सिद्ध होता है। बाह्य अर्थ के माने विना न तो कोई अपने पक्ष की सिद्धि कर सकता है और न ही दूसरे के पक्ष का खण्डन। अन्यथा स्वप्न और जागरण मे भी कोई विशेषता नही देखी जायेगी और विना बाह्य अर्थ के किसमे क्या साधन दूषण दिया जायेगा, इसका भी निश्चय नही हो सकेगा।[49]

शून्यवाद की समीक्षा

बुद्ध के मध्यममार्ग का अनुगमन करने के कारण शून्यवाद को माध्यमिक भी कहते हैं। शून्यवाद को प्रतीत्यसमुत्पादवाद की व्याख्या का फलितवाद कहा गया है। इस सिद्धान्त मे वस्तुत सभी पदार्थ शून्य माने गये हैं। उनकी शून्यता के प्रतिपादक शब्द भी शून्य माने गये हैं। यह शून्यता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण है। प्रतीत्यसमुत्पाद, शून्यता, उपादायप्रज्ञप्ति और मध्यमाप्रतिपदा ये शून्य के ही नामान्तर हैं।[50] इस मत मे तत्व न सत् रूप है, न असत् रूप, न सतासत उभय रूप और न अनुभय रूप है, अपितु इन चार कोटियो से रहित है।[51]

समन्तभद्र ने आप्तमीमासा या अपने किसी ग्रन्थ मे शून्यवाद या माध्यमिको का नामोल्लेख नही किया है, किन्तु अभावैकान्त के अन्तर्गत उनके व्याख्याकारो ने शून्यवाद की समीक्षा की है। प्रतीत होता है कि चतुष्काटि से रहित शून्यवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य नागार्जुन पर आचार्य समन्तभद्र कृत आप्तमीमासा के चार एकान्तो के समीक्षण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

आप्तमीमासा मे अभावैकान्त के समीक्षण के माध्यम से बताया गया है कि भाव को नहीं मानने पर सर्वथा अभावैकान्त पक्ष मे बोध प्रमाण और वाक्य प्रमाण नही बन सकते। जिसके कारण न कोई मत सिद्ध किया जा सकता है और न उसमे दूषण दिया जा सकता है।[51] स्वमत सिद्धि और परमत मे दूषण देने के लिए अन्तरग और बहिरग की वास्तविक सत्ता मानना नितान्त आवश्यक है। साधन और दूषण के लिए पक्ष सपक्ष और विपक्ष व्यावृत्ति रूप जो हेतु की कल्पना की गयी है वह भी मूल अर्थ के समाप्त होने पर सुघटित नही हो सकती। साध्य और साधन की व्यवस्था सवृत्ति से मानना भी ठीक नही है, क्योकि साधन के काल्पनिक होने से साध्य भी काल्पनिक होगा। जब शून्य अपरिमार्थिक है तब सद्भाव का निराकरण कैसे किया जा सकता है। इसलिए अन्तरग और बहिरग की सत्ता स्वत सिद्ध हो जाती है। सवृत्ति का अर्थ विचारानुपपत्ति करना भी ठीक नहीं है क्योकि जब शून्यवादियो के यहा विचार का ही अस्तित्व नही है तब विचार नही किया जा सकता। अकलक तर्क प्रहार करते हुए लिखते हैं कि उपर्युक्त स्थिति मे शून्यवादियो के यही दूसरो को समझाने के लिए जो शास्त्र और उपदेशक माने गये हैं वे उन्मत्त प्रलाप के समान हैं तथा उपदेश करने वाले शुद्धोधन का प्रज्ञा के प्रति अपराध है, जिन्होने लोकमार्ग का उल्लघन कर इस प्रकार उपदेश दिया।[52] वस्तुत भाव की तरह अभाव भी वस्तु धर्म है। अभाव मे दोष उसको निरपेक्ष मानने मे हैं। अभाव को यदि सापेक्ष माना जाता है तो वस्तु की व्यवस्था मे कोई हानि नहीं पहुचती। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सभी पदार्थ सत् (भाव) रूप है एव परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से सभी पदार्थ असत् (अभाव) रूप हैं।[53]

न्यायवैशेषिक दर्शन समीक्षा

न्यायदर्शन मे नि श्रेयश की प्राप्ति के लिए सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान आवश्यक बताया गया है।[54] इस दर्शन का मुख्य प्रयोजन प्रमाणो के द्वारा प्रमेय का विस्तृत निरूपण करना है। वैशेषिकदर्शन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय[55] और अभाव[56] पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि श्रेयस की प्राप्ति की सम्भावना की गयी है। ये दोनो दर्शन ईश्वरवादी हैं।

आप्तमीमासा मे पृथक्त्वैकान्त, कार्यकारणभेदैकान्त, अणुओ के अनन्यतैकान्त, अनपेक्षैकान्त और बन्धमोक्षैकान्त के अन्तर्गत न्यायवैशेषिक दर्शनो का समीक्षण किया गया है[57], जो निम्न प्रकार है–

1 कार्यकारण, गुणगुणी, सामान्य सामान्यवान्, मे सर्वथा भेद मानना असगत है।

2 एक की अनेक मे वृत्ति नही हो सकती, क्योकि उसके भाग नहीं होते।

3 यदि एक के अनेक भाग हैं, तब भागवाला होने के कारण वह एक नही हो सकता।

4 कार्यकारण, गुणगुणी, आदि को पृथक् पृथक् मानने पर उनको पृथक् सिद्ध पदार्थो की तरह भिन्न देश और भिन्न काल मे उनकी वृत्ति मानना पडेगी क्योकि मूर्त कारण और कार्य मे समानदेशता नही बन सकती।

5 स्वय असम्बद्ध दूसरे के साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकता।

6 सामान्य और समवाय के अपने अपने आश्रय मे रहने पर, नष्ट और उत्पन्न होने वाले पदार्थों मे उनके रहने की व्यवस्था नहीं बन सकती।

7 सामान्य और समवाय मे परस्पर मे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है और न इनका पदार्थों के साथ सम्बन्ध है। इसलिए सामान्य समवाय और पदार्थ तीनो अवस्तु हैं।

8 परमाणुओ का अनन्यतैकान्त मानने पर उनका सघात होने पर भी विभाग के समान अन्यत्व ही रहेगा। इस स्थिति मे भूतचतुष्क भ्रान्त होगे।

9 कार्य के भ्रान्त होने पर अणु भी भ्रान्त होगे, क्योकि कार्य के द्वारा कारण का ज्ञान किया जाता है।

10 कार्य और कारण दोनो के अभाव मे, उनमे रहने वाले गुण, जाति आदि का भी अभाव हो जायेगा।

11 द्रव्य गुण आदि पृथकत्व गुण से अपृथक है तो स्वमत विरोध होता है।

12 द्रव्य गुण आदि पृथकत्व गुण से पृथक हैं तो वह पृथकत्व गुण ही नहीं हो सकता, क्योकि पृथकत्व गुण अनेक पदार्थो मे रहता है।[58]

13 ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा पृथक् नही रह सकते अन्यथा असत् की आपत्ति आती है।[59]

14 सर्वथा अनपेक्षिक सिद्धि मानने पर सामान्य विशेष भाव नही बन सकते।[60]

स्वय असम्बद्ध दूसरे का सम्बन्ध कराने मे असमर्थ होता है। इस दृष्टि से प्रश्न उपस्थित होता है कि न्याय वैशेषिक समवाय को अपने समवायियो मे अन्य समवाय से रहना मानते हैं अथवा स्वत। यदि समवाय अपने समवायियो मे समवायान्तर से रहता है तो उस समवाय का सम्बन्ध भी समवायियो के साथ तीसरे समवाय से मानना पडेगा, जिसमे अनवस्था दोष आता है और यदि समवायियो मे समवाय स्वत रहता है तो अवयवी भी अपने अवयवो मे विना समवाय की अपेक्षा के स्वत ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि यह माना जाता है कि समवाय का कोई आश्रय नहीं है इसलिए उसे कोई सम्बन्ध की जरूरत नहीं है, तब वह असम्बद्ध है क्योकि जो स्वय असम्बद्ध है उसका अवयव अवयवी के साथ सम्बन्ध कैसे बन सकता है। इस प्रकार समवाय का समवायियो के साथ सम्बन्ध नही बन सकता है।[61]

जब सामान्य और समवाय अपने अपने आश्रयो मे पूर्ण रूप से रहते हैं तो ये भी सुनिश्चित् है कि आश्रय के विना वे नही रह सकते। इस स्थिति मे जब पदार्थ नष्ट से उत्पन्न होता हे उस समय सामान्य और समवाय के रहने की व्यवस्था कैसे बन सकती है। आश्रय के नही रहने से उनको

पहले से विद्यमान थी, नहीं माना जा सकता। यह भी अयुक्त है कि सामान्य और समवाय का एक अश पूर्व मे रहे और अश उत्पन्न होने वाले पदार्थ मे, क्योकि उनके निरश नित्य होने से पदार्थ के उत्पन्न होने पर सामान्य और समवाय उत्पन्न नही हो सकते हैं। पदार्थ के नष्ट होने के उपरान्त उनके रहने का स्थान भी कहा रहेगा अर्थात् वे निराश्रित हो जायेगे।[62]

परमाणुवाद की समीक्षा

न्यायवैशेषिकदर्शन का परमाणुवाद सिद्धान्त भी उनकी मान्यता से नही बनता। अगर कार्य भ्रान्त होगा तो कारण भी भ्रान्त होगा। परमाणुओ को दो तरह से जाना जा सकता है – प्रत्यक्ष से तो शक्य नहीं है, क्योकि उससे तो स्थूलाकार स्कन्ध की ही प्रतीति होती है, परमाणुओ की नही। कार्य के आधार पर अनुमान नही किया जा सकता, कयोकि कार्य तो भ्रान्त है। इसलिए कार्य भ्रान्त होने से कारण रूप परमाणु भी भ्रान्त होगे। कार्य कारण दोनो के भ्रान्त होने से उनका अभाव ही माना जायेगा। दोनो के अभाव होने से उनमे रहने वाली जाति गुण किया आदि का भी अभाव हो जायेगा।[63]

समन्तभद्र ने बताया है कि पृथक्त्वैकान्त, कार्यकरण भेदैकान्त आदि की व्यवस्था कथचित् दृष्टिकोण से सम्भव है। उन्होने बताया है कि सत्ता सामान्य की अपेक्षा से सभी पदार्थ एक हैं और द्रव्य आदि के भेद से अनेक हैं।[64] द्रव्य और पर्याय मे कथचित् ऐक्य है क्योकि उन दोनो मे अव्यतिरेक पाया जाता है और द्रव्य और पर्याय कथपित् नाना भी हैं, क्योकि उनमे परिणाम आदि का भेद पाया जाता है।[65] कोई वस्तु न सर्वथा अनपेक्ष है और न सर्वथा सापेक्ष। धर्म और धर्मी का अविनाभाव ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है, उनका स्वरूप नहीं। वह तो कारक और ज्ञापक के अगो की तरह स्वत सिद्ध है।[66] इसलिए पृथक्त्वैकान्त अनपेक्षैकान्त आदि को कथचित् रूप से मानने मे कोई हानि नहीं है।

साख्ययोगदर्शन समीक्षा

साख्ययोग दर्शन का साख्य सैद्धान्तिक रूप है और योग व्यावहारिक। इस दर्शन का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दु खो की निवृत्ति करना है। इसके लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है।[67] साख्यदर्शन मे पच्चीस तत्त्व माने गये हैं। इनमे मूल प्रकृति है, पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया, पाच महाभूत और मन विकृति रूप हैं। पाच तन्मात्राए, बुद्धि और अहकार प्रभृति विकृति रूप हैं। पुरुष प्रकृति और विकृति दोनो से रहित है।[68] उनके परिणामवाद, सत्कार्यवाद आदि प्रमुख सिद्धान्त हैं।

आप्तमीमासा मे भावैकान्त और नित्यत्वैकान्त के अन्तर्गत साख्ययोग दर्शन का समीक्षण किया गया है। उसमे बताया गया है कि भावैकान्त मानने पर पदार्थों के प्राग्भाव आदि अभावो के कारण सभी पदार्थ अनादि अनन्त, अस्वरूप और सब रूप हो जाने का प्रसग उपस्थित होता है।[69]

1 अभाव के चार भेद बताये गये है – 1 प्राग्भाव 2 प्रध्वसाभाव 3 अन्योन्याभाव और 4 अत्यन्ताभाव[70] । भावैकान्त मे ये चारो अभाव घटित नही होते। प्राग्भाव के निराकरण करने पर घट आदि कार्य द्रव्य को अनादि मानना होगा। प्रध्वसाभाव को न मानने पर कार्यद्रव्य को अनन्त स्वीकार करना होगा। अन्योन्याभाव न मानने पर एक इष्ट तत्त्व सर्वात्मक हो जायेगा तथा अत्यन्ताभाव के अस्वीकार करने पर किसी भी इष्ट तत्त्व का किसी भी प्रकार से कथन नहीं हो सकेगा।[71]

2 साख्यदर्शन मे सभी पदार्थ प्रधान के परिणाम होने से घट भी प्रधान का परिणाम है। विचार करने पर उनका यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योकि कम रहित प्रधान से घट आदि परिणामो को अभिन्न मानने पर घट आदि परिणामो को भी कम रहित होना चाहिए। घट आदि परिणामों को घट से भिन्न मानने पर, घट आदि प्रधान के हैं, ऐसा कथन भी नहीं बन सकता। साख्य सभी तत्त्वो को अपने मूल कारण मे ही तिरोहित होना मानते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मत मे प्राग्भाव को ही तिरोभाव के रूप मे माना गया है, अन्तर नाम मात्र का है।[72]

3 साख्यदर्शन मे पुरुष कूटस्थ नित्य है तथा वह स्वय निष्क्रिय, अकर्ता और द्रष्टा है। परन्तु इसमे विक्रिया उत्पन्न न होने एव पूर्व से कारकत्व का अभाव होने के कारण प्रमाण, प्रमाण का फल, प्रेत्यभाव, परलोकादि सुखादि फल तथा बन्ध मोक्ष आदि भी नही बन सकते।[73]

4 साख्यो के अनुसार आत्मा की अर्थक्रिया चैतन्य रूप होने से कार्य की उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति को उसकी अर्थक्रिया नहीं माना गया है। चैतन्य पुरुष का स्वभाव है इसलिए चैतन्य भी नित्य है।[74] वस्तु का लक्षण अस्तित्व है, अर्थक्रिया करना नहीं। जिस प्रकार अर्थक्रिया स्वय अर्थक्रिया स्वभाव वाली होने से वस्तु स्वरूप है, उसी प्रकार चैतन्य रूप अर्थक्रिया आत्मा का स्वभाव होने से उसमे भी वस्तुत्व की सिद्धि हो जाती है। इसलिए विक्रिया के अभाव मे भी नित्य आत्मा के सिद्ध होने मे कोई आपत्ति नही है।[75] परन्तु जैनदर्शन के अनुसार नित्य पुरुष मे चैतन्य रूप अर्थक्रिया किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। पूर्व स्वभाव का परिहार और उत्तर स्वभाव के ग्रहण का नाम अर्थक्रिया है। वह कूटस्थ नित्य मे किसी भी तरह सम्भव नहीं है। पुरुष की चैतन्य रूप अर्थक्रिया उत्पत्ति रूप और ज्ञप्ति रूप न होने के कारण उसमे कारक और ज्ञापक का व्यापार भी नहीं बनता।[76]

5 इन्द्रियो के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति के समान यदि प्रमाण और कारको के द्वारा अव्यक्त को व्यक्त माना जाता है तो साख्यो के यहा प्रमाण और कारक दोनो नित्य होने से वस्तु विकार्य नहीं हो सकती।[77] वस्तुत प्रमाण और कारको से अभिव्यक्त होने वाले महदादि को भी नित्य मानना न्याय सगत नहीं है, क्योकि जो अनभिव्यक्त आकार को त्यागकर अभिव्यक्त आकार को ग्रहण करता है उसमे अनित्यत्व की प्राप्ति अवश्य होगी। प्रमाण और कारको के व्यापार होने के पश्चात् भी यदि व्यक्त अपने अनभिव्यक्त आकार का त्याग नहीं करता तो उसको अभिव्यक्त हुआ नही कह सकते। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर वह अभिव्यक्त कहा जाता है। विना परिवर्तन के पदार्थ का ज्ञान होना असम्भव है।[78]

6 साख्यदर्शन मे कार्य को सत् माना गया है।[79] आप्तमीमासा के अनुसार कार्य को सर्वथा सत् मानने पर पुरुष के समान उसकी उत्पत्ति नही हो सकती। उत्पत्ति न मानकर कार्य को परिणाम मानने पर नित्यत्वैकान्त नहीं बन सकता। कार्य कारण को सर्वथा एक मानने पर एक के अभाव मे दूसरे का भी अभाव हो जाता है क्योकि उनका परस्पर मे अविनाभाव है।[80] साख्य चैतन्य को कार्य नही मानते अन्यथा चैतन्य स्वरूप पुरुष को भी कार्य मानना होगा। असत् से कार्य को मानना स्वय साख्य सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त व्यक्त महदादि तत्त्व जो कि नित्य नहीं है, का प्रधान मे तिरोभाव होने के बाद भी उनके विनाश का प्रतिषेध होने से, उनका अस्तित्व विवर्त रूप मानते है तो उसको अनेकान्त ही कहा जायेगा, क्योकि पूर्व आकार के त्याग और उत्तर आकार की उत्पत्ति का नाम ही परिणाम विवर्त है। इसलिए यह मात्र अन्धसर्पविलप्रवेशन्याय का ही अनुकरण कहा जायेगा।[81]

7 समन्तभद्र के अनुसार अज्ञान से बन्ध मानना भी ठीक नही है क्योकि इससे ज्ञेयो की अनन्तता के कारण कोई भी केवली नही हो सकता है[82] प्रकृति पुरुष के अल्प भेदविज्ञान की अपेक्षा अनन्त पदार्थो का अज्ञान अधिक है। इसलिए अधिक अज्ञान के कारण प्रकृति और पुरुष मे भेद विज्ञान होने पर भी बन्ध का अभाव नही हो सकता है।[83] यह कथन सत्य है कि अल्पज्ञान से मोक्ष मानने पर बहुत अज्ञान से बन्ध की भी प्राप्ति होगी।[84] इसलिए यह मानना कि अल्पज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्ध होता है, उचित नही ।

इस प्रकार समन्तभद्र द्वारा भावैकान्त–नित्यत्वैकान्त और उनके द्वारा मान्य बन्ध मोक्ष की मान्यताओ मे आपत्तिया बतायी गयी हैं, वे चाहे किसी भी सम्प्रदाय मे मान्य हो। इसलिए सुगम मार्ग वही है, जिसमे किसी भी प्रमाण से किसी भी प्रकार बाधा न आये और वह मार्ग स्याद्वाद है। इसका आश्रय लेने से विधि और निषेध रूप दोनो प्रकार के अभिमत सुगठित हो जाते हैं। वस्तु कथचित् भाव रूप है और कथचित् अभाव रूप। इसी प्रकार

वस्तु कथचित नित्य है और कथचित् अनित्य। स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा से भाव या नित्य रूप है एव पर चतुष्टय की अपेक्षा से अभाव या अनित्य रूप है।[85] बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध मे भी समन्तभद्र का स्पष्ट अभिमत है कि बन्ध, मोह सहित अज्ञान से होता है, मोह रहित अज्ञान से नही तथा मोक्ष, मोह रहित अल्पज्ञान से भी सम्भव है, किन्तु मोह सहित अल्प ज्ञान से मोक्ष कदापि सम्भव नहीं है।[86]

मीमांसादर्शन समीक्षा

वैदिक कर्मकाण्ड को प्रधानता देने वाले मीमासक हैं। इस दर्शन मे वैदिक वाक्यो को पूर्णत प्रमाण माना गया है। वेदो को अपौरुषेय और शब्द को प्रमाण आदि मानने के कारण यह दर्शन प्रसिद्ध है।

आप्तमीमासा के आप्तसिद्धि एव भावैकान्त आगमैकान्त आदि एकान्तो के समीक्षण की व्याख्या मे अकलक और विद्यानन्द ने मीमासको के सिद्धान्तो की विस्तृत समीक्षा की है।

तीर्थकृत् समयाना च परस्परविरोधत आप्तमीमासा की इस कारिका मे आये 'तीर्थकृत् का अर्थ बताते हुए विद्यानन्द ने अष्टसहस्री मे लिखा है कि 'तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमासका अर्थात् तीर्थ का नाश करने वाले तीर्थकृत कहलाते हैं। सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम का निराकरण करने के कारण मीमासक तीर्थकृत है। इस प्रसग मे उन्होने मीमासक विद्वानो भाट्‌ट और प्रभाकर के मतो का खण्डन किया है।[87] परोक्षवर्ती पदार्थों का अभाव मानने वाले जैमिनीय का खण्डन करते हुए विद्यानन्द ने दोष को आत्मा का स्वभाव मानने वाले मीमासको का निरसन करके अन्यथानुपपत्ति से आत्मा को ज्ञानादि गुणो से युक्त स्वभाव वाला सिद्ध किया है। धर्म, अधर्म, पुण्य और पाप आदि मे अनुमान को नही मानने वाले मीमासको की मान्यता मे अनुमान हेतु को सिद्ध कर, प्रमेयत्व, अस्तित्व और वस्तुत्व रूप हेतुओ से सर्वज्ञ की असिद्धि मानने वाले उनकी इन्हीं तीन हेतुओ से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया है।[88]

भावैकान्त के प्रसग मे समन्तभद्र ने कथचित् अभाव को मानने की आवश्यकता पर बल दिया है।[89] इसके व्याख्याकारो ने इस प्रसग मे मीमासक मान्य शब्दनित्यत्ववाद का समीक्षण किया है।[90]

आगम से सभी की सिद्धि मानने पर परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक मतो की भी सिद्धि हो जाती है। इसलिए कथचित् आगम से सिद्धि मानकर कथचित् हेतु से भी सिद्धि मानना आवश्यक है। इससे आगम के रूप मे वेद को अपौरुषेय मानने वालो का समीक्षण हो जाता है।[91]

मीमासक बुद्धि सज्ञा, शब्द सज्ञा और अर्थ सज्ञा मे से जीव अर्थ वाचक जीव शब्द का ही बाह्यार्थ मानते हैं। शब्द और बुद्धि वाचक जीव शब्द का नहीं। परन्तु जीव शब्द सज्ञा शब्द होने से हेतु शब्द की तरह बाह्यार्थ सहित है तथा मायादि भ्रान्ति की सज्ञाओ मे भी अपना भ्रान्ति रूप अर्थ पाया जाता है। बुद्धि, शब्द और अर्थ सज्ञाए कमश बुद्धि, शब्द और अर्थ की समान रूप से वाचक हैं। उन सज्ञाओ के प्रतिविम्ब स्वरूप बुद्धि आदि का बोध भी समान रूप से होता है।[91]

अद्वैतवेदान्त दर्शन समीक्षा

अद्वैतवेदान्त मे पारमार्थिक दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता मानी गयी है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ, जितनी, जिस रूप मे या द्वैतबुद्धियो की प्रतीति होती है, वह सब मायिक या अविद्यात्मक है। इस अद्वैतवेदान्त की, आप्तमीमासा मे प्रतिपादित अद्वैतैकान्त के अन्तर्गत उनके व्याख्याकारो ने समीक्षा की है। आप्तमीमासा मे बताया गया है कि –

अद्वैतैकान्त मे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले कारको और क्रियाओ के भेद मे विरोध आता है, क्योकि एक वस्तु स्वय अपने से उत्पन्न नहीं हो सकती।[92] आचार्य विद्यानन्द ने अद्वैतवादियो के सामने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि क्रिया या कारक किसी से उत्पन्न होता है कि नहीं। यदि वह किसी से उत्पन्न नही होता तो वह नित्य ही कहा जायेगा, परन्तु कारक क्रिया की कभी कभी प्रतीति होने के कारण उसको नित्य नहीं माना जा सकता। यदि क्रिया कारक के भेद को अनित्य माना जाता है तो उसकी

उत्पत्ति की समस्या आती है। इनकी उत्पत्ति अद्वैतमात्र से मानने पर पुन प्रश्न उपस्थित होता है कि अद्वैत और उसके कार्य मे भेद या अभेद। भेद पक्ष मे द्वैत की सिद्धि होती है और अभेद पक्ष मे स्व की उत्पत्ति स्व से ही कही जायेगी। अद्वैत तत्व यदि अपने कार्य से अभिन्न है तो वह नित्य कैसे कहा जा सकता है। किया कारक आदि भेद की उत्पत्ति अन्य पदार्थ से मानने पर अद्वैत और पर के भेद से द्वैत की ही सिद्धि होती है।[93] भेद को अनादि अविद्या से उत्पन्न मानना भी अयुक्त है, क्योकि अविद्या न वस्तु रूप सिद्ध होती है और न अवस्तुरूप। उसको अवस्तु रूप मानने पर कार्यकारण भाव नहीं बनता एव वस्तु रूप मानने पर द्वैत की आपत्ति आती है। इस तरह अद्वैतवाद मे किया और कारक का भेद न स्वत हो सकता है और न परत ।[94]

सर्वथा अद्वैतवाद मे कर्म फल, विद्या अविद्या, बन्ध मोक्ष, पुण्य पाप, सुख दु ख, इहलोक परलोक आदि कोई भी द्वैत नहीं बन सकते।[95]

हेतु के द्वारा अद्वैत की सिद्धि मानने पर हेतु और साध्य के सद्भाव मे द्वैत की सिद्धि हो जाती है तथा हेतु के विना अद्वैत की सिद्धि करने पर वचनमात्र से द्वैत की सिद्धि का भी प्रसग उपस्थित होता है। द्वैत के विना अद्वैत इसलिए भी नहीं हो सकता क्योकि कहीं भी प्रतिषेध्य के विना सज्ञी का निषेध नहीं देखा जाता।[96]

आप्तमीमासा की 3, 6, 9, 76 आदि कारिकाओं की व्याख्याओ मे अकलक और विद्यानन्द ने अद्वैतवादियो के विभिन्न सिद्धान्तो का समीक्षण किया है।

समन्तभद्र ने उपर्युक्त का समाधान देते हुए लिखा है कि वस्तु अद्वैत रूप भी है और द्वैत रूप भी। जिस प्रकार साधन के एक होने पर भी वह अपने भेदो के द्वारा अनेक भी है। एकान्तिक दृष्टि से एकत्व या पृथकत्व रूप मे उनको स्वीकार करने पर दोनो दो हेतुओ से अवस्तु रूप सिद्ध हो जाते हैं। क्योकि पृथकत्व एकत्व निरपेक्ष है और एकत्व पृथकत्व निरपेक्ष है। वस्तुत प्रत्येक धर्म परस्पर सापेक्ष होकर ही सत्य है। सत्ता सामान्य की

अपेक्षा से सब पदार्थ एक हैं और द्रव्य आदि के भेद से अनेक हैं। एक और अनेक, भेद और अभेद सभी प्रमाण के विषय हैं। गौण और प्रधान की विवक्षा से एक ही वस्तु के दोनो रूप होने मे कोई बाधा नहीं है।[95]

सन्दर्भ

1 दृष्टव्य जैन, न0कु0स0अ0पृष्ठ 195
2 आप्त0भाष्य 3 एव स0स0पृष्ठ 13–17
3 आप्त0 3
4 आप्त0भाष्य 3 अ0स0पृष्ठ 36–37
5 अ0स0 पृष्ठ 43
6 वही 44
7 दृष्टव्य अध्याय पचम
8 अ0स0पृ0 63
9 वही, 62 63
10 उपाध्याय भ0सिह बौ0द0भा0द0भाग 1 पृ0705
11 आचार्य न0देव, बौद्धधर्म दर्शन पृ0 238
12 हेतुविन्दु पृ0 54
13 वहीं 2 146
14 आप्त0 29 41
15 तत्त्वसग्रह, पृ0 138, 139
16 विशुद्धिमग्ग 14
17 वही 29, 44 45
18 प्र0 वा0 2 149
19 पाण्डेय,गो0च0बौद्धधर्म के विकास का इतिहास पृष्ठ 82
20 आप्त0 42
21 आप्त0भाष्य, 42
22 वही
23 Th Stherbatsky B L 94
24 आप्त0 51–53
25 वहीं 30
26 आप्त0 भाष्य, 30
27 वही 45–50
28 आप्त0 भाष्य, 47
29 वही, 49
30 वही 56
31 वही 57
32 वही 58
33 वही, 59 60
34 भट्टाचार्य, वि0शे0दि सेण्ट्रल कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म पृ033
35 विशतिका 1
36 त्रिशिका 25
37 लकावतारसूत्र 10 102
38 भारतीयदर्शन स0देवराज पृ0223
39 आप्त0 79
40 वही, 80
41 वहीं, 83–87
42 अ0 स0 पृष्ठ 246
43 आप्त0भाष्य 83
44 वही, 83
45 अ0स0पृष्ठ 248
46 आप्त0 84
47 आप्त0भाष्य, 84
48 आप्त0 87
49 आप्त0भाष्य 87
50 मध्यमकशास्त्र 24 8
51 अद्वयवज्रसग्रह, पृष्ठ 19
52 आप्त0 13

53 आप्त0 15
54 न्यायसूत्र, 1 1
55 वैशेषिकसूत्र, 1 4
56 वही, 9 1 1–5
57 आप्त0 61–68
58 वहीं, 28
59 वहीं, 30
60 वही, 75
61 आप्त0भाष्य, 64
62 वही 65
63 वही 68
64 वहीं 34
65 वहीं 71, 72
66 वही 75
67 साख्यकारिका, 1
68 वही, 3
69 आप्त0 9
70 मिश्र वाचस्पति न्यायवार्तिक ता0टी0 2 2 12
71 आप्त0 10, 11
72 वही 10
73 वही, 37, 40
74 योगशास्त्र, 1 9
75 अ0स0 37 178, 179
76 आप्त0भाष्य 37
77 आप्त0 38
78 आप्त0भाष्य 38
79 साख्यकारिका, 9
80 आप्त0 39 69
81 आप्त0भाष्य 39
82 आप्त0 96
83 अ0स0 96 262
84 आप्त0 96
85 वहीं 14 15 56
86 वही 98
87 अ0स03 5
88 वही अ0स0 4
89 आप्त0 9–11
90 आप्त0भाष्य 10, अ0स010 104–109
91 आप्त078,84,85 आप्त0भाष्य 76,78, अ0स0 पृष्ठ 235, 237
92 आप्त0 24
93 अ0स0 पृष्ठ 157
94 आप्त0भाष्य 157
95 आप्त0 25
96 वही, 26, 27

पचम अध्याय

युक्त्यनुशासन परिशीलन

परिच्छेद प्रथम

युक्त्यनुशासन परिचय एवं दार्शनिक विवेचन

युक्त्यनुशासन आचार्य समन्तभद्रकृत एक लघुकाय भक्तिपरक दार्शनिक स्तोत्र है। दार्शनिक दृष्टि से जितना महत्त्व आप्तमीमासा का है, उतना ही महत्त्व प्रस्तुत स्तोत्र का है। आप्तमीमासा मे समन्तभद्र ने आप्त की मीमासा परीक्षा न्यायिक और तार्किक ढग से की है। युक्त्यनुशासन मे उन्होने आप्त के शासन का प्रतिपादन किया है। इसके अन्तर्गत स्याद्वाद, अनेकान्त, स्यात् एव एवकार आदि शब्दो का तार्किक विश्लेषण करके उनका व्यवहारिक जगत् मे प्रयोग को युक्तियो पूर्वक विवेचित किया है। इस दृष्टि से सम्भवत जैन दार्शनिक साहित्य मे युक्त्यनुशासन जैनदर्शन का प्रथम स्तुति ग्रन्थ है। इस परिच्छेद मे हम सर्व प्रथम इस स्तुति ग्रन्थ का बहिरग परिचय देकर पश्चात् उसकी विषयवस्तु की चर्चा करेगे।[1]

ग्रन्थ का नाम

युक्त्यनुशासन के स्तुति, वीरस्तोत्र, परमेष्ठिस्तोत्र[2] और परमात्मस्तोत्र आदि नाम भी उपलब्ध होते हैं।[3] 'युक्त्यनुशासन' यह नाम स्वय ग्रन्थकार का दिया हुआ है, यह नही कहा जा सकता, परन्तु उक्त नाम की सूचना इस ग्रन्थ के 48 वे पद्य से अवश्य अनुमानित होती है।[4] क्योकि परवर्ती टीकाकारो[5] एव ग्रन्थकारो[6] ने मुख्य रूप से इस ग्रन्थ को 'युक्त्यनुशासन' के नाम से ही अभिहित किया है। पाण्डुलिपियो मे युक्त्यनुशासन नाम के साथ परमेष्ठिस्तोत्र नाम भी पाया जाता है।[7] इस ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध मे यह अनुमान भी किया जाता है कि जिस प्रकार समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थो के दो दो नाम पाये जाते हैं उसी प्रकार इस ग्रन्थ के भी युक्त्यनुशासन और वीरजिनस्तोत्र ये दो नाम हैं।[8] इस सम्बन्ध मे यह प्रतीत होता है कि

अपने ग्रन्थो का कोई भी नाम देना समन्तभद्र को अभीष्ट नही रहा होगा। परवर्ती पाण्डुलिपिकारो, टीकाकारो समीक्षक विद्वानो ने ही उनकी कृतियो की विषयवस्तु को देखकर उसी के आधार पर एक या उसके अनेक नामो की कल्पना करली होगी। क्योकि प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ऐसा कहीं भी कोई उल्लेख प्राप्त नही होता जिससे कि यह कहा जा सके कि समन्तभद्र ने अपने अमुक ग्रन्थ की रचना अमुक नाम से की है। प्रतीत होता है कि समन्तभद्र ने आप्तमीमासा करने के बाद कमश विना किसी ग्रन्थ के नामोल्लेख के उनके अनुशासन का युक्तियो से प्रतिपादन किया हो, तत्पश्चात् चौबीस तीर्थकरो की उनके द्वारा अलग अलग तीर्थकर की स्तुति की गयी हो। बाद मे वही ग्रन्थ कमश आप्तमीमासा या देवागम, युक्त्यनुशासन या वीरजिनस्तोत्र और स्वयम्भूस्तोत्र या समन्तभद्र स्तोत्र कहलाये।[9] डॉ दरबारी लाल कोठिया ने युक्त्यनुशासन प्रस्तावना मे ग्रन्थ मे उपलब्ध तत्त्वो के आधार पर तार्किक ढग से यह सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष और आगम से अबाधित तथा प्रमाण और नय से निर्णीत अर्थप्ररूपण वीरशासन मे ही उपलब्ध होता है और उसी प्रकार का अर्थप्ररूपण समन्तभद्र ने प्रस्तुत युक्त्यनुशासन ग्रन्थ मे किया है। अत प्रत्यक्ष और आगमाविरुद्ध अर्थ (तत्त्व) का प्रत्यक्ष होने से वीरशासन युक्त्यनुशासन है और वीरशासन का ही इस ग्रन्थ मे प्रत्यक्ष होने से इसे युक्त्यनुशासन नाम दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है।[10] समन्तभद्र की अन्य कृतियो से यह सूचना उपलब्ध होती है कि ग्रन्थ का नाम ग्रन्थ के प्रारम्भ मे या अन्त मे रहा है। परन्तु विषापहार आदि स्तोत्रो की तरह युक्त्यनुशासन इस नाम की सूचना मध्य श्लोक से प्राप्त होती है।[11]

युक्त्यनुशासन मे कुल चौसठ पद्य प्राप्त होते हैं। आदि के बासठ पद्य उपजाति एव दो पद्य शिखरिणी छन्द मे हैं। डॉ कोठिया ने **भवत्यभद्रोपि समन्तभद्र**- नामक बासठवे पद्य मे ग्रन्थकार का नामाल्लेख होने से यहीं ग्रन्थ की परिसमाप्ति का अनुमान किया है तथा बताया है कि अन्तिम दो पद्य ग्रन्थकारोक्त ज्ञात नही होते।[12]

मूलग्रन्थ की पाण्डुलिपियो मे 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ का प्रस्तावो मे विभाजन नही है। विद्यानन्द ने उन्तालीसवे पद्य की व्याख्या के बाद प्रथम प्रस्ताव लिखा है। यद्यपि आगे या अन्त मे अन्य प्रस्तावो का उल्लेख नही है।[14] फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यानन्द को ग्रन्थ को दो प्रस्तावो मे वर्गीकृत करना अभीष्ट रहा है।[15]

युक्त्यनुशासन की रचना का आधार

समीक्षक विद्वान्[16] यह अनुमान करते हैं कि समन्तभद्र ने आप्तमीमासा ग्रन्थ मे आप्त की मीमासा करने के पश्चात् आप्त के शासन का युक्तियो से युक्त्यनुशासन मे प्रतिपादन किया है। सर्व विदित है कि समय समय पर विभिन्न दर्शनो का प्रचार करने की दृष्टि से दार्शनिको ने विभिन्न ग्रन्थो की रचनाए की है। सख्या के नाम पर भी रचनाए की गयी हैं, जैसे बौद्धदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन ने इक्सठ पद्यो वाली 'युक्तिषष्ठिका' की रचना की थी। हो सकता है आचार्य समन्तभद्र ने उन्ही से प्रभावित होकर चौसठ पद्यो से युक्त युक्त्यनुशासन नामक ग्रन्थ की रचना की हो। जिस तरह युक्तिषष्ठिका मे नागार्जुन ने भाव अभाव आदि रूप से तत्त्व का निराश करके शून्याद्वैत की सम्पुष्टि की है उसी तरह समन्तभद्र ने भी भाव अभाव आदि अनेकान्तात्मक वस्तु की स्याद्वाद द्वारा व्यवस्था दी है। अत यह सिद्ध है कि युक्त्यनुशासन नागार्जुन की युक्तिषष्ठिका के उत्तर मे लिखा गया प्रतीत होता है। युक्ति शब्द से आरम्भ कर रचे जाने वाले ग्रन्थो के निर्माण की परम्परा उत्तरवर्ती दार्शनिको मे भी रही है। फलस्वरूप युक्तिदीपिका–साख्यकारिका जैसे ग्रन्थ उत्तरकाल मे रचे गये हैं।17 लकावतारसूत्र के पद्यकार ने बुद्ध के सिद्धान्त को शब्दो द्वारा युक्तिदेशना' प्रतिपादित किया है और समन्तभद्र ने वर्द्धमान वीर के सिद्धान्त को युक्त्यनुशासन कहा है। अत असम्भव नही है कि युक्त्यनुशासन युक्तिदेशना का जवाव हो क्योकि दोनो का अर्थ प्राय एक ही है। अन्तर इतना मात्र है कि लकावतार सूत्रपद्यकार बुद्ध के उपदेश को 'युक्तिपुरस्सर उपदेश' कहते है और समन्तभद्र वीर के उपदेश को। इतना विशेष है कि समन्तभद्र उस युक्तिपुरस्सर उपदेश को प्रत्यक्ष और आगम से अबाधित होना आवश्यक मानते है, मात्र युक्ति बल पर टिका हुआ नहीं।[18]

युक्त्यनुशासन की विषयवस्तु का परिचय

समन्तभद्र के टीकाकारो के आधार पर, समन्तभद्र के मूल विचारो का मूल्याकन करने वाले विद्वानो के समक्ष उक्त अन्तर स्पष्ट रहे, जिससे भविष्य मे भ्रममूलक निष्कर्ष न निकाले जा सके इस दृष्टि से युक्त्यनुशासन की विषयवस्तु यहा मूल रूप मे प्रस्तुत है।

युक्त्यनुशासन के प्रथम पद्य मे वर्द्धमान जिन की स्तुति करते हुए उन्हे सभी दोषाशयों से रहित और निश्चित रूप मे प्रवृद्धमान बताकर स्तुति के योग्य बताया गया है। आगे की पाच कारिकाओ मे स्तोता और स्तुत्य का नाम, स्तोता की सीमा, स्तुत्य के गुणो की सीमा एव उनके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसमे बताया गया है कि लोक मे यथार्थता का उल्लघन करके गुणो के उदय–उत्कर्ष की व्याख्या करने को स्तुति कहते हैं, परन्तु ग्रन्थकार स्तुति के इस लक्षण के अनुरूप स्तुति करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करता है। तत्पश्चात् स्तोता अपनी शक्ति के अनुसार इष्ट प्रयोजन की सिद्धि की तरह स्तुति करने की प्रवृत्ति को सूचित करते हुए वर्द्धमान का महत्त्व बतलाया है। इसमे कहा गया है कि वीरजिन शुद्धि और शक्ति मे अनुपमेय, शान्तिरूप ब्रह्मपथ के नेता और महान् हैं। इनके शासन मे एकाधिपतित्व रूप लक्ष्मी का स्वामी होने की शक्ति है, लेकिन वह दृष्टि गोचर नहीं होती क्योकि इसके कलिकाल, प्रवक्ता का वचनानय और श्रोता का कलुषित आशय–ये तीन कारण है।[19]

जिन के शासन की चार विशेषताऐ बबलायी गयी हैं–

1 जिनका शासन दया, दम, त्याग और समाधि का प्रश्रयदाता है।

2 नयो और प्रमाणो से सम्यक् वस्तुतत्त्व को विल्कुल स्पष्ट करने वाला।

3 दूसरे सभी प्रवादो से अबाध्य एव

4 अद्वितीय है।[20]

जिन के शासन मे सभी विशेषताए इसलिए घटित हो जाती हैं, क्योकि अर्थ तत्त्व अभेदभेदात्मक है। सर्वथा भेदात्मक, सर्वथा अभेदात्मक और

निरपेक्ष उभयात्मक तत्त्व खपुष्प की तरह असत् होता है। समवायवृत्ति भी ठीक नही है, क्योकि वह अवृत्तिमती होने से ससर्ग की हानि होती है और ससर्ग की हानि होने से सभी पदार्थों के लोप होने का प्रसग उपस्थित होता है।[21]

पद्य आठ से चौतीस तक विभिन्न एकान्तवादो की समीक्षा की गयी है। जिसमे बताया गया है कि अर्थतत्त्व अभेदभेदात्मक है, परन्तु इससे भिन्न अर्थतत्त्व मानने मे अनेक आपत्तिया आती हैं।

भावैकान्त मे किसी भी प्रकार की विक्रिया नहीं बन सकती, जिससे कारक, कार्य और युक्ति नहीं बन पाते हैं। युक्ति के अभाव मे बन्ध, मोक्ष और उनका विमोक्ष भी नहीं बन सकता है। इसके अतिरिक्त उसे अहेतु अथवा स्वभाव से मानने पर भी क्रिया कारक का अभाव और वादान्तर होने का दोष आता है।– 8, 9

अवक्तव्यवाद और क्षणिकवाद मे भी प्रकारान्तर से वही दोष दिखाये गये हैं, जो भावैकान्त मे बताये गये हैं। फिर भी इतना विशेष है कि क्षणिकात्मवाद की सिद्धि मे हेतु, सन्तानवाद, कारणकार्यभाव, असत्कार्यवाद, कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, मार्ग, बन्ध मुक्ति, सवृत्ति सत्य आदि क्षणिकवाद के आधारभूत इन सिद्धान्तो की सिद्धि नही हो सकती।– 10–17

विज्ञानाद्वैतवाद के समीक्षण के अन्तर्गत उसमे साध्य साधन, स्वसवेदनत्व और निर्विकल्पकत्व की असमर्थता बताकर उनके ही शास्ता और शिष्य तथा श्रायस आदि के बन सकने मे आपत्तिया बतायी गयीं हैं।– 18–24

परमार्थवृत्ति से अभावमात्र को सत्य मानने वालो के समीक्षण मे परमार्थ वृत्ति का उनके यहा मान्य सवृत्तिवृत्ति से निरसन किया गया है। इसी के अन्तर्गत सभी सामान्य और विशेषो से शून्य रूप अनभिलाप्यता का खण्डन करते हुए सत्यैकान्त, अनृतैकान्त मे दोषो का प्रतिपादन कर उसकी सापेक्ष दृष्टि से व्यवस्था बताते हुए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और कालान्तर स्थायित्ववाद की *समीक्षा की गयी है।– 25–34*

भौतिकवादियो के भूतचैतन्यवाद, अर्थकामाचारवाद और स्वभाववाद की समीक्षा की तरह दीक्षासममुक्ति वादियो के कर्मकाण्ड और हिसाभ्युदयवाद मे भी दोषो का प्रतिपादन किया गया है।– 35–39

एकान्तवादो के समीक्षण के उपरान्त अर्थतत्त्व का वास्तविक विवेचन और एकान्तवादो की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। इसमे बताया गया है कि जितने भी विविध है वे सभी सामान्यनिष्ठ है। प्रत्येक पद अपने विवक्षित स्वभाव की अपेक्षा विशेष को कहता है तथा अविवक्षित कथचित् अभिन्न विशेषो और उनके आधारभूत सामान्य को भी सूचित करता है। विशेष की अपेक्षा के विना सामान्य की और सामान्य की अपेक्षा विना विशेष की प्रतीति न होने के कारण वह अवस्तु रूप है। इसलिए समन्तभद्र की दृष्टि मे प्रत्येक पद एवकार तथा स्यात पद से युक्त है, जिसका प्रयोग वक्ता सात प्रकार से करता है। जो निम्न प्रकार है– विधि, निषेध, अनभिलाप्यता, निषेध अनभिलाप्यता और विधि निषेध अनभिलाप्यता।– 40–45 इस प्रकार एवकार स्यात्कार और सप्तभगी को स्पष्ट करते हुए स्यात् पद मे एकान्त और अनेकान्त को घटाकर तत्त्व को अनेकान्तात्मक बताया गया है। तत्पश्चात् अनेकान्त को भी अनेकान्त रूप बताकर तत्त्व के भावार्थवान् एव व्यवहारवान ये दो भेद किये गये हैं।– 46

तत्त्व की व्यवस्था के आधार स्वरूप द्रव्य और पर्याय का विवेचन तथा इसका दृष्ट और आगम रूप युक्त्यनुशासन एव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप उदाहरणो से समर्थन किया गया है। इसके बाद नाना और एक की व्यवस्था बतायी गयी है तथा सापेक्षता को पुरुषार्थ का हेतु बताकर सापेक्ष नयो के द्वारा अर्थकिया का समर्थन किया गया है।– 47–50इस विवेचन के पश्चात् वाच्य और वाचक का विचार किया गया है। इसमे बताया गया है कि आत्मान्तराभाव रूप जो समानता है वह वागास्पद नही है और न सामान्य एव विशेष की एकरूपता ही युक्त है जो अमेय और अश्लिष्ट है वह सामान्य अमेय है। भेद होने पर सामान्य प्रमेय नही हो सकता और न नाना सत् पदार्थों के समाश्रयभूत सामान्य ही ठीक है। सामान्य को अवस्तु और सभी विकल्पो से शून्य मानने मे भी आपत्ति है। इसके *अतिरिक्त*

व्यापृति (व्यतिरेक) हीन अन्वय, अन्वयहीन व्यापृति तथा अन्वय और व्यापृति दोनो से हीन अद्वितीय रूप हेतु से साध्य सामान्य की सिद्धि नही हो सकती है। इसी प्रकार अतद्व्युदासाभिनिवेशवाद भी युक्त नही है। जो लोग अनात्म साधन के द्वारा अनात्म साध्य की सिद्धि करते है वह भी सम्भव नही है। इस प्रकार सामान्यवाद की इस चर्चा का समीक्षण करते हुए समन्तभद्र ने उन्हे कुसृति प्रणेता और वैतण्डिक पुकारकर उपसहार किया है।– 53–58

अर्हन्त के मत मे अभाव भी वस्तुधर्म है। यदि अभाव धर्मी का होता, तब वह भावान्तर होता है क्योकि वह प्रमाण से जाना जाता है, व्यपदिष्ट किया जाता है और वस्तु व्यवस्था के अग रूप मे निर्दिष्ट किया जाता है। अभाव तत्त्व वस्तु व्यवस्था का अग नही है। वह अमेय (अप्रमेय) रूप है। वाक्य विशेष और सामान्य दोनो से युक्त है। भेद, विधि और प्रतिषेध दोनो का विधायक होता है। अर्हत् के मत मे अभेदबुद्धि से अविशिष्टता और व्यावृत्तिबुद्धि से विशिष्टता की प्राप्ति होती है।– 59–60

ग्रन्थ की अन्तिम चार कारिकाए उपसहार रूप मे है, जिनमे वीरशासन की विशेषताओ, स्तोत्र का उद्देश्य, वीर और महावीर नाम की सार्थकता के कथन पूर्वक अन्त मे मोक्षमार्ग की याचना की गयी है। इसमे बताया गया है कि वीर का तीर्थ सर्वान्तवान्, गौण और मुख्य की कल्पना से युक्त, सभी आपदाओ का अन्त करने वाला, निरन्त और सर्वोदय आदि विशेषताओ से युक्त है। उनके शासन मे मिथ्यादृष्टि भी यदि समदृष्टि रखता है तो वह समन्तभद्र अर्थात् सब ओर से भद्ररूप बन जाता है।– 60–62

यह स्तोत्र किसी के रागद्वेष वश नही रचा गया है अपितु वीर की गुण कथा के साथ इसका सृजन न्याय और अन्याय को पहचानने एव पदार्थों के गुण दोषो को जानने की इच्छा रखने वालो के लिए हितान्वेषण के उपायस्वरूप रचा गया है। वीर जिन, दुरित पर की सेना को पूर्ण रूप से पराजित करने के कारण वीर और नि श्रेयश पद को प्राप्त करने के कारण महावीर हैं। देवो और मुनियो के द्वारा स्तुति किये जाने के कारण स्तुत्य हैं

और प्रतिनिधि रहित हैं। इस प्रकार गुणो से युक्त वीर और उनके शासन को देखकर अन्त मे ग्रन्थकार ने उनमे ही भक्ति को स्थिर करने की कामना की है।– 63, 64

युक्त्यनुशासन · दार्शनिक विवेचन

अपने नाम के अनुरूप युक्त्यनुशासन स्तुति ग्रन्थ मे विभिन्न युक्तियो के माध्यम से जिन के शासन का प्रतिपादन किया गया है। इसमे अनेकान्तात्मक जिन शासन के विरुद्ध मतो के समीक्षण पूर्वक उनका समाधान अनेकान्त दृष्टि से किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे जिन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का विवरण प्रस्तुत है।

जिन : आप्त

अवगत हो कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन करना मुख्य लक्ष्य नहीं है, क्योकि आप्तमीमासा ग्रन्थ मे समन्तभद्र द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्रमाणो का आश्रय लेकर आप्त की मीमासा की गयी है, फिर भी सक्षिप्त आप्त का स्वरूप और उनकी विशेषताओ का इसमे वर्णन है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे आप्त के स्थान पर अन्तिम तीर्थंकर के लिए वीर–वर्द्धमान शब्द का प्रयोग करके उन्हे दोषो और दोषाशयो के पाश बन्धन से विमुक्त बताया गया है[22] तथा उनको वर्द्धमान, ऋद्धमान, वीर,[23] भूरिगुणोदधि,[24] शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा तुलाव्यतीत, शक्तिरूप, ब्रह्मपथ के नेता, महान्, ईश, जिन,[25] ऋषि,[26] जिननाग,[27] मुनि[28] आदि नामो और विशेषणो से अभिहित किया गया है।

प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ के प्ररूपण को आप्त का युक्त्यनुशासन कहा गया है।[29] इससे आप्त–सर्वज्ञ के स्वरूप का तार्किक ज्ञान हो जाता है, क्योकि जिसका वचन प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध होता है, वह निर्दोष होता है। जो निर्दोष होता है वह ही सर्वज्ञ–आप्त होता है। आप्तमीमासा मे भी ऐसा ही आप्त का स्वरूप स्थिर किया गया है।[30] आप्त के इस लक्षण मे किसी भी प्रमाण से बाधा उपस्थित नहीं होती।[31] इस प्रकार युक्त्यनुशासन मे आप्तमीमासा की तरह ही जिन का स्वरूप दोष

और दोशाषयो के पाशबन्धन (आवरण) से विमुक्त प्रत्यक्ष तथा आगम से अविरुद्ध अर्थ के प्ररूपक के रूप मे किया गया है।

युक्त्यनुशासन की व्याख्या मे विद्यानन्द ने उक्त मन्तव्यो को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अज्ञान राग और द्वेष आदि द्वेष हैं। पूर्ण दोष जिसके बल से आत्मा मे जागरूक या अपनी सत्ता में रहते हैं, उसे आशय– सस्कार कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अज्ञानादि दोषो से उद्भूत सस्कार का नाम ही आशय है।[32] दोष और आशय दो प्रकार के होते है–भावकर्म रूप और द्रव्यकर्म रूप। अज्ञान आदि भावकर्म रूप दोष आशय हैं और ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियो का विशेष उदय स्वरूप होने से दोष आशय द्रव्यकर्म रूप होता है। इन दोनो दोष आशयो से रहित सर्वज्ञ होता है। उनके वचन युक्तिशास्त्राविरोधि होते हैं।[33] इसलिए वे जिन, सर्वज्ञ और वर्द्धमान होने से स्तुतिगोचर हैं। वर्द्धमान की व्युत्पत्ति करते हुए बताया है कि **ऋद्धमानमिति प्रबृद्धमाणत्वादित्यर्थः ऋद्ध प्रबृद्धं मानं प्रमाणं यस्य एव वर्द्धमान इत्युच्यते**।[34] प्रमाण तत्त्वज्ञान ही है, जो स्याद्वाद और नय से सस्कृत है।[35] तत्त्वज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक है[36] और वह केवलज्ञान ही हो सकता है,[37] जिसका सद्भाव सर्वज्ञ मे पाया जाता है।

प्रस्तुत श्लोक मे स्तुतिकार ने अनुमान के प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अगो का ही कथन किया है। जैसे– वीर स्तुतिगोचर ऋद्धमानत्वात् वीर ऋद्धमान विशीर्णदोषाशयपाशबन्धत्वात् वीर विशीर्णदोषाशयपाशबन्ध कीर्त्यामहत्याभुविवर्द्धमानत्वात्[38], यहा पर हेतुहेतुमद्भाव से ऋद्धमानत्वादिक हेतुओ की सिद्धि की गयी है। यद्यपि स्तुतिकार ने यहा इन समस्त प्रयोगो मे, यत्र यत्र प्रवृद्धमानता तत्र तत्र स्तुतिगोचरता, इत्यादिक से अन्वय व्याप्ति प्रकट करने मे कोई अन्वय व्याप्ति प्रदर्शक दृष्टान्त प्रकट नही किया है, फिर भी टीकाकार ने केवलव्यतिरेक हेतु[39] का प्रदर्शक दृष्टान्त का प्रयोग कर इस बात की पुष्टि की है कि विपक्ष मे बाधक प्रमाण के मिलने से ही साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है।[40]

इस प्रकार 'विशीर्णदोषाशयपाशबन्ध' वर्द्धमान और कीर्त्यामहत्या भुवि वर्द्धमानम् , इन तीन अन्ययोग व्यवच्छेदात्मक विशेषणो द्वारा ऋद्धमानता से

वीर मे स्तुतिगोचरता, विशीर्णदोषाशयपाशबन्ध से ऋद्धमानता और कीर्त्यामहत्याभुविवर्द्धमानता से उनमे दोषाशयपाशबन्ध की सिद्धि करके जिन सर्वज्ञ मे प्रसिद्ध, वीतरागत्व, सर्वज्ञत्व और हितापदेशकत्व का समर्थन प्रकट किया गया है।[41] जिन अनन्त गुणो के भण्डार होने से 'भूरिगुणोदधि'[42] कहलाते हैं। वे शुद्धि और शक्ति के उदय की काष्ठा को प्राप्त होकर अनुमेय शान्ति स्वरूप, ब्रह्मपथ के नेता महान् और ईश है।[43]

विद्यानन्द ने शुद्धि और शक्ति के उदय की पराकाष्ठा तथा शान्ति का कारण बताते हुए लिखा है कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के सर्वथा अभाव होने से आविर्भूत ज्ञान और केवलदर्शन रूप शुद्धि उनमे है। वे अन्तराय कर्म के पूर्ण रूप से क्षय होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाले अनन्त बल रूप शक्ति से युक्त हैं। सर्वथा मोहनीय कर्म के विनाश से प्राप्त अव्याबाध सुखरूप शान्ति उनमे है। अनुमेय इसलिए है कि उनके समान ब्रह्मपथ मोक्षमार्ग का प्रणेता अन्य कोई नहीं है। इसलिए जिन ब्रह्मपथ के नेता परमात्मा महान् हैं।[44]

जिनशासन का महत्त्व

शासन का अर्थ मत– अनेकान्तात्मक विचार, किया जाता है।[45] युक्त्यनुशासन में कहा गया है कि जिन का शासन अद्वितीय है। यदि कलिकाल, प्रवक्ता का वचनानय और श्रोता का कलुषित आशय के रूप मे कारण विद्यमान नहीं हो तो जिन के शासन अनेकान्तात्मक मत मे एकाधिपति स्वरूप लक्ष्मी का स्वामी होने की शक्ति है।[46] उनका शासन दया, दम, त्याग और समाधि की निष्ठा तत्परता से युक्त है।[47] वह नयो और प्रमाणो के द्वारा सम्यक् वस्तुतत्त्व को विल्कुल स्पष्ट करने वाला है और सभी प्रवादो से अबाध्य है।[48]

इस प्रकार युक्त्यनुशासन मे समन्तभद्र ने उसे ही स्तुति का गोचर बनाया है जो वीतराग, सर्वज्ञ और आगमेशि हो। अपने अन्य ग्रन्थो– स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, स्तुतिविद्या और आप्तमीमासा मे भी समन्तभद्र ने जिन मे इन्ही तीनो गुणो की सिद्धि की है।

जिनशासन मे वस्तु का स्वरूप

जिनशासन मे वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक माना गया है। जैनधर्म और दर्शन मे प्रारम्भ से अद्यावधि वस्तु स्वरूप का अनेकान्तात्मक दृष्टि से ही प्रतिपादन होता रहा है। युक्त्यनुशासन मे इसके स्वरूप का प्रतिपादन निम्न प्रकार किया गया है।

अर्थतत्त्व अभेदभेदात्मक[49] होने से वह अनेकान्तात्मक है और वह दो रूपो मे व्यवस्थित है[50]– 1 भावार्थवान् 2 व्यवहारवान्। तत्त्व न तो सत् मात्र है और न असत् मात्र क्योकि निरपेक्ष सतत्त्व और अतत्त्व दिखलाई नहीं देता। सतासत् रूप मे मिला हुआ परस्परापेक्ष रूप तत्त्व की उपाधि के भेद से ही उपलब्धि होती है।[51] जितने भी विविध विशेष हैं, वे सभी सामान्यनिष्ठ हैं। वस्तु या सत्ता का स्वभाव द्रव्य और पर्यायात्मक है। द्रव्य रूप से वस्तु एक रूप है, वह नानात्मकता का त्याग नहीं करती। पर्याय रूप से वस्तु नानात्मक है, परन्तु वह एकात्मकता को नहीं छोडती। द्रव्य की यह व्यवस्था अग अगी भाव के कारण क्रम से दृष्टिगोचर होती है।[52] सर्वथा द्रव्य की अलग से कोई व्यवस्था नहीं बनती। उसी प्रकार सर्वथा पर्याय की भी अलग से कोई व्यवस्था नहीं बनती तथा पृथग्भूत द्रव्य और पर्याय दोनो की कोई व्यवस्था स्थिर नहीं होती। प्रत्येक धर्मी और धर्म असर्वथा रूप से तीन प्रकार के माने गये हैं, जिनमे कही भी विरोध नही हैं।[53] दृष्ट और आगम अर्थ के प्ररूपण मे जहा विरोध उपस्थित नही होता है, वह युक्तियो का अनुशासन कहलाता है। जैसे– स्थिति, उत्पाद और व्ययात्मक अर्थ होता है। अर्थ सत् है। सत् स्थिति, उत्पाद और व्ययात्मक है।[54]

अनन्त धर्मो से युक्त वस्तु का स्वरूप होता है और वे धर्म परस्पर सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नहीं। निरपेक्ष होने पर वे पुरुषार्थ के हेतु नहीं बन सकते हैं, क्योकि कभी भी अशी अशो से पृथक् नहीं होता है।[55] मन का समत्व अनेकान्त दृष्टि से ही सम्भव है। जीवो की अहकृकत से उत्पन्न राग द्वेषादिक एकान्तधर्माभिनिवेश मूलक होते हैं। जहा एकान्त नहीं होता वहा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने वाला अनेकान्त होता है।

इसलिए अनेकान्त वास्तविक दृष्टि– मन के समत्व का हेतु है।[56] वस्तुत प्रत्येक वस्तु नानात्मक है, नानात्मक रूप से उसका निश्चय ही सर्वथा एकान्त का प्रयोजन है।[57] विशेष और सामान्य वाक्यो के भेद विधि और निषेध दोनो के विधायक होते हैं।[58] जिन का शासन गौण और मुख्य की कल्पना से युक्त है।[59] समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थो मे अनेकान्त के सम्बन्ध मे इसी प्रकार अनेक तर्क दिये गये हैं।[60]

स्याद्वाद

पूर्व के अध्याय मे स्याद्वाद के सम्बन्ध मे विस्तार से विचार किया गया है। युक्त्यनुशासन मे स्याद्वाद विषयक समन्तभद्र के विचार निम्नलिखित हैं।

1 स्यात् शब्द निपात् है।
2 वाक्य मे गौण रूप से यह विरोधी धर्म का द्योतक होता है।
3 वह वस्तु का अग है।
4 वह विपक्ष की सन्धि स्वरूप होता है।[61]
5 सकल अर्थ के भेद स्यात् शब्द से नेय है।[62]
6 स्यात् गुण और मुख्य रूप स्वभावो द्वारा कल्पित एकान्त वाला हो जाता है, क्योकि वह यथोपाधि विशेष का द्योतक होता है।[63]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि स्यात् शब्द निपात् है और अपने विरोधी धर्म का द्योतक होता है। स्यात् शब्द यद्यपि किसी विशेष धर्म का द्योतक नहीं होता है, फिर भी जब उसका अस्ति शब्द के साथ प्रयोग किया जायेगा तो वह पद अपने अर्थ के अस्तित्व को मुख्य रूप से प्रकाशित करता है और नास्तित्व को गौण रूप से। यह पद अस्तित्व के समय नास्तित्व को और नास्तित्व के समय अस्तित्व को जोडे रहता है।[64]

स्यात् शब्द का प्रयोग

अनेकान्त अर्थ के द्योतन के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक वाक्य में स्वधर्म मुख्य होता है और अन्य गौण होते

हैं। इसी मुख्य गौण विवक्षा का सूचन स्यात् शब्द करता है। इसलिए विना स्यात् शब्द के अनेकान्त का प्रकाशन सम्भव नही है। यहा यह कहा जा सकता है कि शास्त्र या लोक मे सर्वत्र स्यात् पद का प्रयोग नही पाया जाता। इसलिए वहा कैसे अनेकान्त का प्रकाशन सम्भव है, इसका समाधान समन्तभद्र द्वारा यह दिया गया है कि[65] **'तथा प्रतिज्ञाशयतो प्रयोग-सामर्थ्यतो या प्रतिषेधयुक्तिः'** अर्थात् जहा पर स्यात् शब्द का प्रयोग नही किया जाता है, उसके दो कारण हैं, जिससे स्यात्' शब्द के प्रयोग के विना भी विवक्षित अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है। वे कारण है--

1 प्रतिज्ञाशय और 2. सामर्थ्य

जिस वाक्य मे स्यात् शब्द का प्रयोग नही पाया जाता, उसका कारण स्यात्पदात्मक प्रकार का आशय है जो प्रतिपादन करने वाले की प्रतिज्ञा मे सन्निहित है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यादि वाक्यो मे कही पर भी स्यात् या एव शब्द का प्रयोग नही हुआ है, फिर भी वह यहा जाना जाता है, क्योकि शास्त्रकार का वैसा वहा प्रतिज्ञाशय का सद्भाव है।[66] स्यात् पद के विना भी अनेकान्त के द्योतन की युक्ति बन जाती है। उसका कारण सामर्थ्य है। क्योकि स्यात् शब्द के प्रयोग के विना कोई भी स्याद्वादी नही कहला सकता और न अनेकान्तवाद ही सुघटित हो सकता है। जिस प्रकार सम्यक् एकान्त एवकार के विना नहीं बन सकता, उसी प्रकार स्याद्वादी भी विना स्यात् के प्रयोग के नही बन सकता है। स्याद्वादी होना ही इस बात का सूचक है कि प्रतिपाद्य के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग अवश्य है, भले ही उसमे स्यात्शब्द का प्रयोग नहीं किया गया हो, यही उसके पद प्रयोग की सामर्थ्य कहलाती है।[67]

अकलक ने स्यात् शब्द के अप्रयोग से भी अनेकान्त अर्थ की प्रतीति की सम्भावना मे कारण एव पुरुष का कुशल होना बताया है। उनका मन्तव्य है कि वक्ता या श्रोता वस्तु स्वरूप के विवेचन मे कुशल है तो स्यात् शब्द का कोई नियम नहीं है। इसके प्रयोग के विना भी विधिपरक, निषेधपरक तथा अन्य प्रकार के वाक्यो मे स्यात्कार आदि की प्रतीति अपने

आप हो जाती है।[68] इस प्रकार स्यात शब्द का अर्थ अनेकान्त का द्योतन करना है, जिसके कथचित् अर्थ और अनेकान्त पर्याय के रूप मे जाने जाते है। स्यात् शब्द का अर्थ जैनदर्शन मे शायद, सम्भव, अनिश्चय आदि नही होता है।[69]

स्यात् के साथ एवकार का प्रयोग

युक्त्यनुशासन मे बताया है कि पद या वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग भी आवश्यक है। पद या वाक्य को न तो एवकार से विशिष्ट होना चाहिए और न ही एवकार से रहित अन्यथा दोनो अवस्थाओ मे वस्तु व्यवस्था नही बन सकती।[70]

जो पद एवकार से उपहित–विशिष्ट होता है उसमे निम्न दोष आते हैं–

1 वह अस्वार्थ से स्वार्थ को अलग करता है।
2 सब स्वार्थ पर्यायो को अलग करता है।
3 सभी स्वार्थ सामान्यो को अलग करता है।
4 सभी स्वार्थ विशेषो को अलग करता है।

उपर्युक्त को व्याख्याकार ने 'जीव एव' का उदाहरण देकर बताया है कि उक्त पद 'एव' नाम के निपात से विशिष्ट है। जो जीव–स्वार्थ को अजीवत्व–अस्वार्थ से अलग करता है। जिस प्रकार जीव एव' अजीवत्व का व्यवच्छेदक हे उसी प्रकार सभी स्वार्थ पर्यायो आदि का भी व्यवच्छेदक है अन्यथा उस एक पद से ही उनका भी बोध हो जाना चाहिए,• उनके लिए, मैं सुखी हूँ, ज्ञानी हूँ, चेतन हूँ आदि पदो का अलग अलग प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। इससे उन क्रमभावी धर्मो– सामान्यो तथा अनभिधेय धर्मो अर्थ पर्यायो का व्यवच्छेद– अभाव होने पर जीव पद के अभिधेय रूप जीवत्व की, अजीवत्व के समान हानि होती है, क्योकि स्वपर्यायो आदि के अभाव मे जीवादि काई भी वस्तु सम्भव नहीं हो सकती।[71] जो पद एवकार से रहित होता है, वह न कहे हुए के समान है क्योकि उसमे निम्न आपत्तिया आती है।[72]

1 नियमद्वय (अस्ति नास्ति) के इष्ट होने पर भी व्यावृत्ति का अभाव होता है अर्थात् निश्चयपूर्वक कोई एक बात न कहे जाने के कारण प्रतिपक्ष की निवृत्ति नही बन सकती।

2 पदो मे परस्पर पर्यायभाव ठहरता है।

3 पर्यायभाव के होने पर परस्पर प्रतियोगी पदो मे से कोई, किसी का भी प्रयोग कर सकता है।

4 चाहे जिस पद का प्रयोग होने पर सम्पूर्ण अभिधेयभूत वस्तु जाति को अन्य से अलग कर देती है।

5 जो प्रतियोगी से रहित होता है, वह आत्महीन होता है।

एक अन्य उदाहरण अस्ति जीव' के माध्यम से बताया गया है कि इसमे अस्ति' और जीव ये दोनो पद एवकार से रहित है। 'अस्ति' पद के साथ एवकार के न होने से नास्तित्व का व्यवच्छेद नही होता है और नास्तित्व का व्यवच्छेद न होने से 'अस्ति' पद के द्वारा नास्तित्व का भी कथन होता है। इसलिए 'अस्ति' पद का प्रयोग न कहे हुए के समान हो जाता है। इसी तरह 'जीव' पद के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग न होने से अजीवत्व का व्यवच्छेद नही होता और अजीवत्व का व्यवच्छेद न होने से जीव पद के द्वारा अजीव का भी कथन होता है। इसलिए जीव पद का प्रयोग न किये हुए के समान हो जाता है। अस्ति पद के द्वारा नास्तित्व का भी और नास्ति पद के द्वारा अस्तित्व का भी कथन होने से तथा जीव पद के द्वारा अजीव अर्थ का भी और अजीव पद के द्वारा जीव अर्थ का भी कथन होने से अस्ति नास्ति पदो मे तथा जीव अजीव पदो मे घट और कलश शब्दो की तरह एकार्थकता सिद्ध होती है। एकार्थक होने से घट और कलश शब्दो की तरह अस्ति और नास्ति मे से तथा जीव और अजीव शब्दो मे से चाहे जिस किसी एक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है और चाहे जिस का प्रयोग होने पर सम्पूर्ण वस्तु मात्र अपने प्रतियोगी से रहित हो जाती है अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व से सर्वथा रहित हो जाता है। ऐसा होने से सत्ताद्वैत का प्रसग आता है। नास्तित्व का सर्वथा अभाव होने से

सत्ताद्वैत आत्महीन हो जाता है, क्योकि पररूप के त्याग के अभाव मे स्वरूप का ग्रहण नहीं बनता। जैसे घट रूप का त्याग किये बिना पट का स्वरूप प्रतिष्ठित नही होता। इसी तरह अभाव भी भाव के विना नही बनता क्योकि वस्तु का वस्तुत्व स्वरूप के ग्रहण और पररूप के त्याग पर ही निर्भर है। वस्तु ही पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवस्तु हो जाती है। समस्त स्वरूप से शून्य कोई पृथक्वस्तु सम्भव ही नही है।[73]

इस प्रकार समन्तभद्र ने प्रत्येक पद या वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग आवश्यक बताया है। इनके उत्तरवर्ती कुछ दार्शनिको की दृष्टि मे स्यात्कार और एवकार के प्रयोग के विषय मे मतभेद पाया जाता है। उनमे अकलक, जयसेन तथा अभयदेवसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय है। अकलक प्रमाण वाक्य और नय वाक्य दोनो मे स्यात्पद और एवकार का प्रयोग आवश्यक मानते हैं। जयसेन और अभयदेव केवल नयवाक्य मे ही एवकार का प्रयोग आवश्यक मानते हैं।

अकलक के अनुसार यदि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म द्रव्य आदि वस्तुवाचक शब्दो के साथ स्यात्कार या एवकार शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह प्रमाण वाक्य है और यदि अस्ति, नास्ति, एक अनेक आदि धर्मवाचक शब्दो के साथ उनका प्रयोग किया जाता है तो वह नय वाक्य है। इसके विपरीत जयसेन और अभयदेव के मत से किसी भी शब्द के साथ, वह शब्द धर्मवाचक हो या धर्मी वाचक हो, यदि एवकार का प्रयोग किया जाता है तो वह नयवाक्य है और यदि एवकार का प्रयोग नही किया गया है, केवल स्यात् शब्द का प्रयोग किया गया है तो वह प्रमाण वाक्य है।[74]

सप्तभगी

युक्त्यनुशासन मे सात भगो का स्पष्ट विवेचन किया गया है। जो इस प्रकार है।[75] 1 स्यात् विधि 2 स्यात् निषेध 3 स्यात् अनभिलाप्यता 4 स्यात् विधि निषेध 5 स्यात् विधि अनभिलाप्यता 6 स्यात् निषेध अनभिलाप्यता और 7 स्यात् विधि निषेध अनभिलाप्यता। युक्त्यनुशासन के अतिरिक्त

समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थो[76] मे भी सात भगो का स्पष्ट विवेचन किया गया है। समन्तभद्र को सप्तभगी का यह चिन्तन परम्परा से प्राप्त था।[77] सातभगो का तुलनात्मक विवरण अधोलिखित है।

सप्तभग तालिका

	कुन्दकुन्द		समन्तभद्र		
	पचास्तिकाय	प्रवचनसार	आप्तमीमासा	स्वयम्भूस्तोत्र	युक्त्यनुशासन
1	स्यात् अस्ति	स्यात अस्ति	कथचित् सत	विधेय	स्यात विधि
2	स्यात नास्ति	स्यात नास्ति	कथचित् असत	वार्य	स्यात् निशेध
3	स्यात उभय	स्यात अवक्तव्य	कथचित् उभयात्मक	उभय	स्यात् अनभि लाप्यता
4	स्यात अवक्तव्य	स्यात् उभय	कथचित अवाच्य	अनुभय	स्यात् विधिनिषेध
5	स्यात् अस्ति अवक्तव्य	स्यात अस्ति अवक्तव्य	कथचित सत अवाच्य	विधेय अनुभय	स्यात विधि अनभिलाप्यता
6	स्यात् नास्ति अवक्तव्य	स्यात नास्ति अवक्तव्य	कथचित् असत अवाच्य	वार्य अनुभय	स्यात् निषेध अनभिलाप्यता
7	स्यात अस्ति नास्ति अवक्तव्य	स्यात अस्ति नास्ति अवक्तव्य	कथचित सतासत् अवाच्य	उभयानुभय	स्यात वि0नि0 अनभिलाप्यता

तीन मूल भग

युक्त्यनुशासन मे स्यात् विधि, स्यात् निषेध और स्यात् अनभिलाप्यता इन तीन मूल भगो का उल्लेख किया गया है। अन्य चार भग द्विसयोगी और त्रिसयोगी है। स्यात् विधि निषेध, स्यात् विधि अनभिलाप्यता, स्यात् निषेध अनभिलाप्यता ये तीन भग द्विसयोगी है और स्यात् विधि निषेध अनभिलाप्यता यह एक भग त्रिसयोगी है।[78] समन्तभद्र के उत्तरवर्ती दार्शनिको ने उनके दोनो क्रमो का अनुसरण किया है क्योकि उनके तीसरे या चौथे भग मे से किसी को भी आगे पीछे रखने पर अर्थ मे कोई भेद नहीं पडता।

प्रथम दो भग

समन्तभद्र कथचित् सत और कथचित असत् इन दो भगो का समर्थन करते हुए लिखते है कि –

सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।। – आप्त0 15
न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमान्तर सर्वनिषेधगम्यम्।[79]

अर्थात् स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी पदार्थ सत् है तथा पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी पदार्थ असत् है।

अन्य पांच भंग

कथचित् सत् और कथचित् असत् इन दो भगो के निरूपण के पश्चात् शेष पाच भगो का निरूपण समन्तभद्र ने निम्न प्रकार किया है[80]–

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैत सहावाच्यमशक्तित ।
अवक्तव्योत्तरा· शेषास्त्रयो भगा· स्वहेतुत ।।

कथचित् सत् और असत् की कम से विवक्षा होने से वस्तु उभयात्मक है तथा एक साथ विवक्षा होने से कथन की असामर्थ्य के कारण अवाच्य है। इसी प्रकार 'स्यादस्ति अवक्तव्य' आदि तीन भग भी अपने कारण से बन जाते हैं।

सात भग ही क्यो

समन्तभद्र ने बताया है कि जितने भी विकल्प अर्थ भेद हो सकते है वे सभी उपर्युक्त स्यात् शब्द से नेय सात विकल्पो मे सन्निहित हैं। उनके इस कथन से सात भग के अतिरिक्त भगो के नहीं मानने का समाधान हो जाता है।[81]

इस प्रकार समन्तभद्र ने अनेकान्तात्मक व्यापक विचार पद्धति को अभिव्यक्त करने के लिए 'स्यात्' पद से विवक्षित अस्ति, नास्ति रूप सात वचन प्रकारो का तार्किक विश्लेषण किया है।

प्रमाण

युक्त्यनुशासन मे प्रमाण से सम्बन्धित चर्चा निम्नलिखित कारिकाओ मे हुई है –

1 युक्त्यनुशासन मे 'वर्द्धमान' पद की व्याख्या मे बताया गया है कि **'ऋद्धं प्रवृद्धं मान प्रमाण यस्य स एव वर्द्धमान इत्युच्यते'**[82] **प्रमाणं प्रवृद्धमिति चेत् तत्त्वज्ञानमेव तत्त्वज्ञानं प्रमाण स्यादिति वचनात् तस्यैव प्रवृद्धोपपत्ते स्याद्वाद नयसस्कृतत्वात्'**[83] तात्पर्य यह कि प्रवृद्ध प्रमाण तत्त्वज्ञान ही है और वह स्याद्वादनय से सस्कृत होने पर प्रवृद्धता को प्राप्त होता है। अन्य नैयायिक आदि दार्शनिको द्वारा स्वीकृत सन्निकर्ष आदि मे प्रवृद्ध प्रमाणता नहीं आ सकती है[84] क्योकि उनका ज्ञान स्वपर व्यवसायात्मक नही होता। वस्तुत स्वपर व्यवसायात्मक तत्त्वज्ञान ही प्रवृद्ध प्रमाण है।[85]

2 **'नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम्'** की व्याख्या मे विद्याननद ने बताया है कि द्रव्य पर्याय रूप जीवादि तत्त्वो का सुनिश्चित असम्भवद्बाधक रूप से निर्णय करने वाले नय और प्रमाण है। नय और प्रमाण परस्पर सापेक्ष हैं। नय निरपेक्ष प्रमाण के द्वारा सुनिश्चित असम्भवद्साधकप्रमाण रूप मे वस्तुतत्त्व की सिद्धि नही हो सकती। एकान्त रूप से प्रमाण द्वारा वस्तु की सिद्धि मानने पर, सकर, व्यतिकर आदि दोष आते हैं। इसलिए निरपेक्ष नय और नय निरपेक्ष प्रमाण असभव हैं। वस्तु की सिद्धि सापेक्ष नय और नय सापेक्ष प्रमाणो द्वारा ही सम्भव हो सकती है।[87]

3 अवस्तुरूप– अन्यापोहरूप सामान्य को अन्यत्व और अनन्यत्व रूप विकल्पो से रिक्त कहने पर उसकी इस अभेद रूप अवस्था मे प्रमाण की प्रवृत्ति नही हो सकती।[88]

4 अभाव प्रमाण से जाना जाता है एव व्यपदिष्ट किया जाता है; समन्तभद्र के इस कथन की व्याख्या मे विद्यानन्द ने बतलाया है कि भव की तरह अभव वस्तु व्यवस्था का अग होने से वस्तु का धर्म है। यहा यह

आशका की गयी है कि अभाव को प्रमाण की तरह नही माना जा सकता। इसका समाधान यह दिया गया है कि प्रमाण मे ही प्रमेयत्व धर्म का अविरोध है, क्योकि अविसवादक ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण जिस समय करण साधन मे व्युत्पादित होता है तब आत्मा भी प्रमाण के द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार प्रमेय आत्मा मे प्रमेयत्व धर्म की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'प्रमिति प्रमाणम' इस भावसाधन व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण मे आत्मा रूप अर्थ की धर्मता सिद्ध होती है। इसी तरह घटादि भाव मे भी अभाव का धर्मत्व मे विरोध नहीं पडता है।91

5 'दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थं' से प्रमाण के प्रत्यक्ष और आगम के भेदो की ओर सकेत किया गया है।

नय – **युक्त्यनुशासन की कारिका नयप्रमाणप्रकृताजसार्थम्** मे नय के महत्त्व का पता चलता है।[92] अन्यत्र ग्रन्थ मे सर्वत्र वस्तु विवेचन मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का आश्रय लिया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि युकत्यनुशासन सूत्रात्मक शैली मे लिखा गया न्याय और दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्तुति ग्रन्थ है। जिसमे वीर की स्तुति के माध्यम से जैनदर्शन का सार समाहित कर दिया गया है। आप्तमीमासा की तरह इसमे भी आप्त का स्वरूप दोष और दोषाशयो के पाश बन्धन से विमुक्त, प्रत्यक्ष तथा आगम से अविरुद्ध अर्थ के प्ररूपक के रूप मे किया गया है। वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि सिद्धान्तो के विवेचन एव विभिन्न एकान्तवादो के समीक्षण आदि मे सर्वत्र अनुमान वाक्य, व्याप्ति, केवल व्यतिरेकि आदि युक्ति वाक्यो का आश्रय लिया गया है।

सन्दर्भ

1 द्रष्टव्य जैन न0कु0 समन्तभद्र अवदान पृ052
2 युक्त्य0टीका 39
3 वही 39
4 युक्त्य0 48
5 युक्त्य0टीका 39 63
6 हरिवशपुराण 1 30
7 मूडवद्री जैनमठ पाण्डु0 674 120
8 मुख्तार, जु0कि0युक्त्य0प्रस्तावना पृ0 13 14
9 मुख्तार जु0कि0स्वय0प्रस्तावना पृ0 2
10 कोठिया द0लाल,युक्त्य0प्रस्ता0 पृ0 3

11 वही पृ0 3 4
12 वही पृ0 21
13 मूडवद्री जैनमठ पाण्डु0 674 120
14 काशी स्या0महा विद्या0 पाण्डु0 89 दि0स0 2 पूना भा0ओ0रि0इ0 पाण्डु0 1201/1881-95
15 उद्धृत जैन न0कु0 समन्तभद्र अवदान पृ052
16 मुख्तार जु0कि0स्वय0 प्रस्तावना पृ0 2
17 कोठिया द0लाल, युक्त्यनुशासन और समन्तभद्र जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन पृ0167
18 वही पृ0 167 168
19 युक्त्य0 2–5
20 वही 6
21 वही 7
22 वही 1
23 वही 1
24 वही 2
25 वही 4
26 वही 32 39
27 वही 44
28 वही 58
29 वही 48
30 आप्त0 4
31 वही 6
32 युक्त्य0टीका 1
33 वही, 1
34 वही 1
35 आप्त0 101
36 युक्त्य0टीका 1
37 वही 1 पृष्ठ 11
38 वही 1 पृष्ठ 13
39 वही 1 पृष्ठ 13
40 मूलचन्द युक्त्य0हिन्दी विवेवन पूर्वार्द्ध पृ054
41 युक्त्य0 टीका 3
42 युक्त्य0 2
43 वही 4
44 युक्त्य0टीका 4 पृष्ठ 15
45 वही 5, 6
46 युक्त्य0 5
47 वही 6
48 वही 6
49 वही 7
50 वही 46
51 वही 32
52 वही 49
53 वही 47
54 वही, 48
55 वही, 50
56 वही 51
57 वही 52
58 वही 60
59 वही 61
60 आप्त0 34
61 युक्त्य0 43
62 वही 45
63 वही 46
64 वही 43
65 युक्त्य0 44
66 युक्त्य0 टीका 45
67 वही 44
68 लघीयस्त्रय, 3/63
69 द्रष्टव्य चतुर्थ अध्याय परि0द्वि0
70 युक्त्य0 41
71 युक्त्य0टीका 41
72 युक्त्य0 42
73 मुख्तार जु0कि0युक्त्य0 पृ054 55
74 शास्त्री कै0च0जैन न्याय पृ0322
75 युक्त्य0 45

76 आप्त014 16 एव
स्वय0118
77 पचा014 एव प्र0सार 2
22 23
78 युक्त्य0 45
79 वहीं 32
80 आप्त0 16
81 युक्त्य0 50
82 वही 1
83 युक्त्य0टीका पृष्ठ 2
84 वही 2
85 वही 10 11
86 युक्त्य0 6
87 वही पृष्ठ 17
88 युक्त्य0 56
89 वही 60
90 युक्त्य0टीका 60 पृ0152
91 वही 6 पृष्ठ 153
92 वही 17--21

❑❑❑

परिच्छेद द्वितीय

युक्त्यनुशासन और अन्य भारतीय दर्शन

पूर्व मे जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि समन्तभद्र ने अपनी कृतियो मे किसी मत के प्रवर्तक का नाम लेकर समीक्षण नही किया है। टीकाकारो ने विभिन्न एकान्तवादो के नाम सहित विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाओ के मत मानकर उनका विस्तृत समीक्षण किया है। युक्त्यनुशासन की सामग्री का विद्यानन्द ने दो भागो मे विभाजन किया है। एक मे एकान्तवादो का समीक्षण है और दूसरे मे वीरशासन अनेकान्तवाद का निरूपण है। समन्तभद्र ने आप्तमीमासा मे प्रतिपादित एकान्तवादो के समीक्षण मे पाये जाने वाले एकान्तवाद और सम्भाव्य एकान्तवादो का समीक्षण प्रस्तुत किया है। एक दृष्टि से आप्तमीमासा को छोडकर समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थो, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र और जिनशतक मे जिन एकान्तवादो का समीक्षण हुआ है, उनका समाधान आप्तमीमासा के एकान्तवादो के समीक्षण मे ही हो जाता है, फिर भी युक्त्यनुशासन मे एकान्तवादो के समीक्षण करने की एक ही उपादेयता प्रतीत होती है कि जिससे वीर के शासन का स्पष्ट विवेचन हो जाये।

युक्त्यनुशासन मे निम्नलिखित एकान्तवादो का समीक्षण किया गया है –

एकान्तवाद	श्लोक कमाक
भेदवाद	7
अभेदवाद	
सर्वथाभेदाभेद	
नित्यवाद (वैशेषिक नैयायिक साख्य आदि)	8, 9, 10, 14
क्षणिकात्मवाद	11, 17, 5
विज्ञानवाद	18 19, 16
सवेदनाद्वैतवाद	20, 24, 17

एकान्तवाद	श्लोक कमाक
अभाववाद (शून्यवाद)	25, 26, 18
व्यतीत सामान्य भाववाद	19
व्यतीत विशेष भाववाद	20
सर्वथा शून्यवाद	21
सर्वथा सतवाद	27, 22
अनभिलाप्यतावाद	23, 28
अवाच्यवाद	24, 29

यहा तक भावमात्र, अभावमात्र, उभयमात्र और अवाच्यतामात्र की असत्यता निरूपित की गयी है। इससे सद्वाच्य असद्वाच्य उभयवाच्य, अनुभयवाच्य मिथ्यावादो का निरसन हो जाता है।

सर्वथा अनेकान्तवाद	25, 30
सत्यानृतवचन और अनृतानृत वचन	31
सत्वाद	26
असत्वाद	27
सत्, असत् आदि से रहित सर्वधर्मों के निषेध का विषयभूत कोई एक आत्मान्तर परब्रह्म	32
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बौद्ध	29, 33
कालान्तर सम्बन्धी भाव	30, 34
चार्वाक	31, 35, 36
मीमासक	32, 37, 38, 39

यहा युक्त्यनुशासन मे समीक्षित एकान्तवादो का विवेचन भारतीय दर्शनो के क्रमानुसार प्रस्तुत है।

चार्वाक दर्शन समीक्षा

युक्त्यनुशासन के भूतचैतन्यवाद, स्वभाववाद और कामाचारवाद के समीक्षण मे चार्वाक दर्शन का समीक्षण हो जाता है। भारतीय दर्शन मे भौतिकवादी दर्शन के रूप मे चार्वाक, लोकायत, पुरन्दर, बार्हस्पत्य, आदि विभिन्न नामो

से अभिहित किये जाते है। इनके सस्थापक बृहस्पति माने जाते हैं। इनके प्रमुख सिद्धान्त प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद, भूतचैतन्यवाद और अर्थकामाचारवाद आदि माने जाते है। युक्त्यनुशासन मे समन्तभद्र ने लिखा है कि–

मद्यागवद्भूतसमागमे ज्ञ शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टि.।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा मृदवः प्रलब्धा।।
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतो विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा प्रपात ।।

जैसे मद्याग– गुड, महुआ, पिष्टोदक, धातकी आदि के मिलने से मदशक्ति की उत्पत्ति या आविर्भाव होता है, वैसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्वो के मिलने से चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। यह सब शक्ति विशेष की ही व्यक्ति है। कोई दैव सृष्टि नही। इस प्रकार शिश्न तथा उदर की ही पुष्टि मे सन्तुष्ट रहने वाले निर्लज्जो तथा निर्भयो के द्वारा मूढ स्वभाव वाले मनुष्य ठगे जाते हैं, खेद है। जब उत्पन्न होने आदि का कारण विना विशेषता के देखा जाता है तो प्राणि प्राणि के प्रति विशेषता ही क्या रह जाती है। यदि इस वैशिष्ट्य की सिद्धि स्वभाव से ही मानी जाती है तो चारो भूतो के अतिरिक्त पाचवे आत्मतत्त्व की सिद्धि को भी स्वभाव से क्यो नहीं मान लेते। इस प्रकार तत्वान्तर सिद्धि को न मानने वालो का खेदजनक प्रपतन हुआ है।[1]

उपर्युक्त सन्दर्भो से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं–

1 भौतिकवादी दार्शनिक पृथ्वी आदि भूतो, जडतत्त्वो से ही चेतन तत्त्व की उत्पत्ति मानते हैं।

2 भूतो से चैतन्य की उत्पत्ति स्वभाव से होती है।

3 भूतचैतन्य मानने के कारण परलोक, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप आदि की मान्यता का इस सिद्धान्त मे अभाव प्रतीत होता है। इसलिए उसे आचार की दृष्टि से अर्थ और काम मे सलग्न बताया है।

विद्यानन्द ने चार्वाको के सिद्धान्त उत्पत्ति और अभिव्यक्ति पक्ष को लेकर उनके दो भेद किये हैं। प्रथम पृथ्वी आदि भूतचतुष्क से चैतन्य की

उत्पत्ति मानने वाले कार्यवादी अविद्धकर्मादिक और दूसरे पृथ्वी आदि भूतचतुष्क से चेतन्य की अभिव्यक्ति मानने वाले पुरदरादिक। इनके अनुसार बताया गया है कि पृथ्वी आदि चार भूतो से सर्वप्रथम शरीर, इन्द्रिय, विषयसज्ञा उत्पन्न या आविर्भूत होते हैं, पश्चात् चैतन्य। चैतन्य की उत्पत्ति मे पृथ्वी आदि चार भूत परम्परा कारण हैं और शरीर, इन्द्रिय, विषय, सज्ञा साक्षात् कारण हैं। अह चक्षुषा रूप जानामि, इस उदाहरण मे ज्ञाता के अभाव मे 'ज्ञ' की प्रतीति नही हो सकती। क्योकि ज्ञान किया का कर्ता है, करण और कर्म के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। यहा जो कर्ता है वह शरीर, सज्ञा, चैतन्य विशिष्ट ही है। इसके अतिरिक्त अन्य तत्त्व आत्मा आदि नही। दूसरे इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण भी नही पाया जाता। चक्षु आदि इन्द्रिय सज्ञक चैतन्य करण माना गया है, क्योकि चैतन्य विशिष्ट इन्द्रिय के अतिरिक्त करण कहीं पाया नही जाता। विषय सज्ञक तत्त्व कर्म हैं, जो ज्ञेय रूप मे अवस्थित रहते हैं। यहा प्रश्न उठता है कि जब शरीर, इन्द्रिय और विषयसज्ञा से ही चैतन्य उत्पन्न या आविर्भूत होता है तो मृत देह मे शरीर इन्द्रियादिक विद्यमान रहने पर उसमे चैतन्य क्यो नही देखा जाता, चार्वाको की ओर से यह उत्तर दिया जाता है कि चैतन्य विशिष्ट जीव के ही शरीर, इन्द्रिय और विषयसज्ञा चैतन्य से उत्पन्न कर्ता के रूप मे माने गये है, अचेतन जीव के नहीं। प्रतिनियत भूतो के मिलने पर ही शक्त्यन्तर रूप चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, अप्रतिनियत भूतो के मिलने पर नही। तीसरे शरीर, इन्द्रिय, विषय के आरम्भक भूतो के समुदाय से ही ये इस प्रकार की सज्ञा को प्राप्त होते हैं और यही चैतन्य की उत्पत्ति के कारण होते है। मृत देह मे भूतो का समुदाय होते हुए भी वे शरीरादि के आरम्भक नही हैं, जिससे शरीर इन्द्रिय, विषय सज्ञा नहीं बन पाते। इसलिए चैतन्य की भी उत्पत्ति नहीं होती। जिस प्रकार मद्याग पिष्टोदक आदि के समागम होने पर मद की कारण भूत शक्त्यन्तर की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतो के समागम होने पर ज्ञान की कारण भूत शक्त्यन्तर की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार प्रतिनियत भूतो के समागम को ही शक्त्यन्तर रूप चैतन्य की व्यक्ति मे कारण माना गया हैं। पृथ्वी आदि भूतो के मिलने पर जो शक्त्यन्तर रूप चैतन्य की व्यक्ति होती

है वह दैवनिमित्तक न होकर स्वाभाविक होती है अन्यथा उसमे दृष्टकारण व्यभिचार अनवस्था और अन्यथानवस्था दोष आते है।[8]

भूतचैतन्यवाद समीक्षा

परमार्थ से अनादिनिधन उपयोग लक्षण वाली आत्मा प्रमाण से प्रसिद्ध है। इसलिए भूतसमागम होने पर चैतन्य की उत्पत्ति एव अभिव्यक्ति बिल्कुल असम्भव है। चार्वाको से यदि यह प्रश्न किया जाये कि पृथ्वी आदि भूतो के समागम होने पर जो अविकल, अनुपहत शक्ति वाली चैतन्य शक्ति है, वह उत्पन्न या अभिव्यक्त होने के पहले सत् रूप है अथवा असत् रूप या सतासत् उभयरूप। सत्, असत् और उभय इन तीनो के अतिरिक्त चौथा कोई विकल्प बन नही सकता।

चारो भूतो मे चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति केवल सत् मानने पर सर्वत्र सत् की ही अभिव्यक्ति सिद्ध होने से उसमे अनादि और अनन्तत्व सिद्धि का प्रसग उपस्थित होता है। **कथचिन्नित्यचैतन्यशक्ति सदकारणत्वात्पृथिव्यादि सामान्यवत्** – इस हेतु से पृथ्व्यादि सामान्य की तरह, उसमे सत् के अकारणत्व होने से चैतन्यशक्ति कथचित् नित्य सिद्ध होती है। यह हेतु पृथ्वी आदि व्यक्ति विशेषो से व्यभिचरित नहीं हो सकता क्योकि वे कारण सहित हैं। उनमे यद्यपि सत्व पाया जाता है, पर अकारणत्व नहीं। किसी भी हेतु को व्यभिचरित तभी कहा जा सकता है, जब वह हेतु त्रैरूप्य पक्ष, सपक्ष, विपक्षव्यावृत्ति मे न घटे। परन्तु प्रस्तुत हेतु तीनो रूपो मे घटित हो जाता है। यथा चैतन्य शक्ति है, यह पक्ष है। पृथिव्यादि सामान्य हैं, यह सपक्ष है। अनित्य मे इस हेतु का सद्भाव नहीं पाये जाने से विपक्ष व्यावृत्ति रूप तीसरा हेतु भी सुघटित हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि पिष्टोदक आदि मद्यागो से मद शक्ति की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है इसलिए सत् पूर्व से ही विद्यमान था। अत प्राक्सत् रूप और सत् के अकारणत्व रूप जो हेतु है, उसमे व्यभिचार दोष आ जाता है। यह आशका भी असगत है। क्योकि चेतन द्रव्य मे ही मद शक्ति का स्वभाव पाया जाता है। अत मदशक्ति के भी कथचित् नित्यत्व

की सिद्धि हो जाती है। सर्वथा अचेतन द्रव्यो मे मद शक्ति का पाया जाना असम्भव है।

चेतन द्रव्य मे ही मद शक्ति का स्वभावपना मानने पर यदि प्रतिपक्षी कहे कि मुक्तात्माओ मे भी मदशक्ति पायी जानी चाहिए, परन्तु उनका यह कथन असगत है, क्योकि मुक्तात्माओ के मदशक्ति को उत्पन्न करने वाले कारण का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसलिए मदशक्ति की तो बात ही नही उठती। मदशक्ति को उत्पन्न करने वाले दो कारण हो सकते है– प्रथम बहिरग और द्वितीय अन्तरग। मद्यादि का सेवन, मदशक्ति की उत्पत्ति एव अभिव्यक्ति का बहिरग कारण है और मोहनीय कर्म का उदय अन्तरग कारण है। मुक्तात्माओ मे बहिरग एव अन्तरग दोनो कारण नही पाये जाने के कारण मदशक्ति की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति नहीं होती। यह आशका भी निराधार है कि मदशक्ति की अनभिव्यक्ति सिद्ध हो जाने पर हेतु व्यभिचरित नहीं होता, फिर भी मद जनन शक्ति की अपेक्षा से हेतु व्यभिचरित हो ही जाता है। क्योकि मद्यागो के समागम होने पर भी मद जनन शक्ति अभिव्यक्त होती है। इसलिए सत् के अकारणत्व विद्यमान होने पर भी नित्यता नही मानी जा सकती। चार्वाक की इस शका का परिहार करते हुए बताया गया है कि मदजननशक्ति मद्यागो से अभिव्यक्त होती है, यह कथन अयुक्त है क्योकि वह तो सुरा के अगो का कार्य है। दूसरे पिष्टोदक आदि मे प्रत्येक मे मदजननशक्ति के सद्भाव के आवेदकों के प्रमाण का अभाव भी देखा जाता है। इसी प्रकार मोहोदय के निमित्त से जो केवल आत्मा मे मदशक्ति मानकर व्यभिचार दोष का उद्भावन करते हैं, उनकी मान्यता भी इसी कथन से निरस्त हो जाती है। क्योकि आत्मा मे मदशक्ति मोह के उदय का कार्य है। बिना कारण के कार्य असम्भव है। इसलिए मोह के क्षीण हो जाने पर मदशक्ति रूप कार्य अपने कारण के अभाव मे बिल्कुल समाप्त हो जाता है। इस प्रकार निरवद्य हेतु के सत् कारण के होने पर चैतन्यशक्ति मे नित्यता सध जाने से परलोक और परलोकी आदि सभी सिद्ध हो जाते हैं तथा परलोक आदि को न मानने वाले चार्वाको की 'सति चैतन्यशक्तिरभिव्यजते' मान्यता का भी परिहार हो

जाता है। चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति सत् रूप न बनने के कारण उसको असत रूप भी मानना ठीक नही है क्योकि वह प्रतीति विरुद्ध दृष्टिगोचर होती है। किसी भी जगह सर्वथा असत् रूप मे कोई पदार्थ दिखाई नही देता। उसको सर्वथा सत् या असत् मानने के अपेक्षा यदि कथचित् सत् और असत् माना जाता है, तब उसमे कोई हानि नहीं है। क्योकि जैन मत मे द्रव्यार्थिक दृष्टि से चैतन्य शक्ति मे कथचित् सत् और पर्यायार्थिक दृष्टि से कथचित् असत् माना गया है। इस तरह से पुद्गलो द्वारा कायाकार परिणत् कथचित सत् असत् रूप चैतन्य शक्ति की अभिव्यक्ति मानने मे कोई आपत्ति नही है।[3]

स्वभाववाद का समीक्षण

भूतो की विशिष्टता स्वभाव से मानने पर चार भूतो के अलावा पाचवे आत्मतत्व की भी सिद्धि स्वभाव से ही मान लेना चाहिए। चैतन्य, कायाकार परिणत भूतो का कार्य होने से उसकी उत्पत्ति स्वभाव से मानने पर उनमे उपादान कारण, सहकारि कारण और अन्य कारण सुघटित नही होते। यहा यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि पृथ्वी आदि भूतचतुष्क उस चैतन्य के उपादान कारण हैं या सहकारि कारण। उपादान कारण मानने पर चैतन्य के भूतान्विति का प्रसग उपस्थित होता है। जिस प्रकार स्वर्ण के उपादान रहने पर कवच कुण्डलादि मे उसका अन्वय चलता है, पृथ्वी आदि के उपादान कारण रहने पर शरीर पृथ्वी आदि से अन्वित पाया जाता है। उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतचतुष्क को चैतन्य का उपादान कारण मानने पर चैतन्य के भी भूतान्वित होने का प्रसग आता है। प्रतिपक्षी का यह तर्क भी व्यर्थ है कि कहीं कही विना उपादान के भी व्यभिचार देखा जाता है। जैसे उपादान भूत प्रदीप से उत्पन्न कज्जल मे प्रदीप का अन्वय नही पाया जाता। इसलिए उसमे व्यभिचार देखा जाता है। क्योकि प्रदीपज्वाला, प्रदीपज्वाला की ही उपादान कारण है, कज्जल की नहीं कज्जल का तैल और वर्ति उपादान कारण हैं। तैल, प्रदीपकलिका को सहकारिकारण के रूप मे प्राप्तकर, कज्जल रूप मे परिणमित होकर ऊपर जाता हुआ प्राप्त होता है। यदि कोई कहे कि कज्जल तैल से अन्वित रूप वाला नही

दिखाई देता तो उसके लिए कहा गया है कि एक पुद्गल द्रव्य तैलरूपता को त्यागकर कज्जल रूपता को धारण करता हुआ प्रदीप के सहकारि कारण विशेष के होने से रूपादि अन्वित प्रतीति की सिद्धि हो जाती है। भूतचतुष्क को चैतन्य की उत्पत्ति मे सहकारिमात्र कारण मानने से उपादान कारण की सिद्धि नही बनती। इसलिए उपादान कारण के ही समान सहकारिकारण भी निरर्थक है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, जो पृथिव्यादि भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति को सिद्ध करे।[4]

अर्थकामाचारवाद

चार्वाक भूतचतुष्क से बनी हुयी देहविशिष्ट चैतन्य के अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। चार पुरुषार्थों मे ये धर्म और मोक्ष को स्वीकार नही करते। उनका सम्पूर्ण पुरुषार्थ मात्र अर्थ और काम तक ही सीमित है। समन्तभद्र ने शिश्न और उदर की पूर्ति मे ही सन्तुष्ट रहने वाले मतावलम्बियो के प्रति खेद व्यक्त किया है।[5]

बौद्धदर्शन समीक्षा

युक्त्यनुशासन मे विभिन्न एकान्तवादो के समीक्षण के अन्तर्गत क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तो का समीक्षण किया गया है। पूर्व के अध्याय मे इन दार्शनिक सिद्धान्तो का परिचय दिया जा चुका है। इसलिए यहा उनका सक्षिप्त परिचय देकर युक्त्यनुशासन के अनुसार समीक्षण प्रस्तुत करेगे।

क्षणिकवाद

अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्व तव स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम्[6] के द्वारा युक्त्यनुशासन मे एकान्तवादो की निरर्थकता की भूमिका बाधी गयी है। इसमे सर्वथा भेदवादियो के अन्तर्गत क्षणिकात्मवादियो की भी समीक्षा अन्तर्निहित है। स्वतन्त्र रूप से भी श्लोक सख्या 11 से 17 तक क्षणिकवाद का समीक्षण किया गया है।

गत अध्याय मे बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त क्षणिकवाद का विवेचन किया गया था। यह सिद्धान्त के रूप मे बुद्ध के उत्तरकालीन दार्शनिको की देन है। इसका प्रारम्भिक रूप जगत की अनित्यता के रूप मे होता है। बाद मे बौद्ध नैयायिको ने इसके स्वरूप को जटिल बना दिया। समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थो मे जो इसका समीक्षण किया है, वह बौद्धदर्शन के प्रारम्भिक अवस्था का है। फिर भी उनके समीक्षण से सभी का समीक्षण हो जाता है। उनके द्वारा युक्त्यनुशासन मे क्षणिकात्मवाद का समीक्षण निम्न प्रकार किया गया है।[7]

1 प्रथम क्षण मे नष्ट हुआ चित्त दूसरे क्षण मे विद्यमान नही रहता।

2 क्षणिकात्मवाद मे न तो दृष्ट हेतु है और न अदृष्ट हेतु। इसलिए वह प्रमाण के अभाव मे प्रलाप मात्र है।

3 भिन्न सन्तान मे वासना नहीं बन सकती।

4, निरन्वय क्षणो मे कारण और कार्यभाव नहीं बनता, जिससे किसी से समानता नहीं की जा सकती। यही तर्क देवागमे भी उपस्थित किये गये हैं।

5 कार्य को सर्वथा असत् मानने पर आकाशपुष्प की तरह उसकी उत्पत्ति नही हो सकती। कोई भी असत् पदार्थ दोनो वादी प्रतिवादी को असिद्ध है।

6 सत् और असत् मे कोई हेतु विद्यमान नहीं है। सत् को हेतु मानने पर सर्व व्यापकता तथा असत् को हेतु मानने पर विना कारण के कार्योत्पत्ति मानना पडेगी।

7 विनाश और उत्पत्ति को एक ही क्षणो मे मानना भी सदोष है, क्योकि सन्तान मे भिन्न क्षणो का अभाव है।

8 पदार्थ को प्रलय स्वभाव रूप आकस्मिक मानने पर कृतकर्म के भोग का विनाश और अकृत कर्म के फल को भोगने का प्रसग आता है। इसके साथ ही जो कर्म है, वे असचेतित ठहरते हैं। इस प्रकार प्रलय स्वभाव रूप क्षणिक अवस्था मे कोई मार्ग नही बनता और बधक भी कोई नहीं रहता।

9 पदार्थ के प्रलय स्वभाव रूप आकस्मिक मानने पर क्षणिक एक चित्त मे स्थित बन्ध और मोक्ष भी नही बनते।

10 मिथ्या स्वभाव वाली सवृत्ति से बन्ध और मोक्ष की स्थिति मानने पर वह क्षणिक एक चित्त मे उनकी व्यवस्था करने मे समर्थ नहीं हो सकती तथा गौणमुख्य विधि के विना द्रष्टव्य नहीं है।

11 पदार्थों को क्षणिक मानने पर किसी भी प्रकार के सम्बन्ध स्थिर नही होते।

क कोई मातृघाती नहीं बनता।
ख कोई किसी का स्वपति नहीं बन सकता।
ग न कोई किसी की स्वपत्नि बन सकती।
घ दिये हुए धन का पुनर्ग्रहण नही हो सकता।
ड अधिगत किये अर्थ की स्मृति नही रह सकती।
च क्त्वा प्रत्यय का जो अर्थ है उसकी सत्यता भी नहीं बनती।
छ न कोई कुल बनता है और न कोई जाति स्थिर होती है।

12 शास्ता और शिष्य की विधि व्यवस्था नहीं बनती।

13 सम्बन्धो को विकल्प बुद्धि का परिणाम मानना उचित नहीं।

14 विकल्पबुद्धि मिथ्या होने पर निर्विकल्पक बुद्धि भी नहीं बनेगी।

समन्तभद्र द्वारा किये गये इस क्षणिकवाद के समीक्षण के आधार पर उनके उत्तरवर्ती टीकाकारो – अकलक, विद्यानन्द, वसुनन्दि आदि आचार्यों ने बौद्धदर्शन के विकसित सिद्धान्तो का अपने ग्रन्थो मे विस्तार से समीक्षण किया है।

विज्ञानवाद : संवेदनाद्वैत

समन्तभद्र ने विज्ञानवाद सवेदनाद्वैत का समीक्षण युक्त्यनुशासन की कारिका 18 से 25 तक किया है। उन्होने उसके समीक्षण मे अधोलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

1 यदि साध्य साधन की बुद्धि की बुद्धि का कोई अर्थ नहीं है तो विज्ञान मात्र की सिद्धि के लिए जो हेतु उपस्थित किये जाते है, उससे उसकी

सिद्धि कैसे हो सकती है, क्योकि जब हेतु ही असिद्ध है तो उससे विज्ञप्तिमात्र रूप साध्य की सिद्धि कैसे बन सकती है।

2 यदि साध्य साधन की बुद्धि अर्थवती है तो उसमे व्यभिचार दोष आता है।

3 विज्ञानमात्रत्व को योगिगम्य मानने पर वह परवादियो को मान्य नही हो सकता।

4 विज्ञानमात्र तत्त्व स्वसवेद्य नहीं हो सकता।

5 विज्ञानमात्र तत्त्व अकथनीय होने से वह सुषुप्ति अवस्था के समान है।

6 विज्ञानमात्र गूगे पुरुष के समान आत्मवेद्य होने से प्रलापमात्र है तथा अवाच्य होने से यह कभी भी वाच्य नही हो सकता।

7 शास्ता के वचनो से शिष्य के वचनो मे विभिन्नता होने के कारण वह दूसरा दुर्गमतम अन्धकार है।

8 श्रायस पथ नही बन सकता।

9 प्रत्यक्ष बुद्धि द्वारा अगम्य है।

10 उसको लिगगम्य मानने पर वह अर्थगम्य नही बनता।

11 विषय के साथ वचन का योग नही बनता ।

12 जिस प्रकार रागादिक अविद्यारूपी अग्नि का दीपन वाक्य परमार्थ से शून्य है उसी प्रकार विमोक्षविद्यारूपी अमृत का शासन वाक्य भी परमार्थ से शून्य है।

13 अविद्या से विज्ञानाद्वैत विद्या की उत्पत्ति मानना अनभिज्ञता का मोह है।

युक्त्यनुशासन के टीकाकार विद्यानन्द ने बताया है कि किसी भी सिद्धान्त को दूसरो को बतलाने के लिए अनुमान का आश्रय लिया जाता है क्योकि उसका प्रतिपादन स्वसवेदन प्रत्यक्ष से असम्भव है। विज्ञनाद्वैतवादी **'यत्प्रतिभासते तद्विज्ञानमात्रमेव यथा विज्ञानस्वरूपं प्रतिभासते'** इस

प्रकार का अनुमान करते है। यहा पर अनुमान साधन और विज्ञानमात्र साध्य है। इस प्रकार यदि वे साध्य साधन की बुद्धि को अनर्थक मानते है तो विज्ञानमात्र तत्त्व की सिद्धि मे जो हेतु दिया गया है वह असिद्ध हो जाता है। साध्य साधन की बुद्धि को सार्थक मानने पर व्यभिचार दोष आता है। किसी भी हेतु के न बन सकने की स्थिति मे यदि उसकी सिद्धि योगिगम्य मानी जाती है तो वह भी असिद्ध है क्योकि उनके यहा जो यह माना जाता है कि सवेदनाद्वैततत्त्व योगियो की समाधि अवस्था मे स्वत की गति से प्रतिभासित होता है, वह अपने गृह की तरह है, चाहे उसको सत्य माना जाये या असत्य माना जाये, परन्तु वह दूसरो को कैसे सत्य हो सकता है। इससे कार्यकारण, ग्राह्य ग्राहक वास्यवासक, साध्यसाधन, वाच्यवाचक, बाध्यबाधक आदि भाव रूप विकल्प भी नही बन सकते।[8]

विज्ञानमात्र को स्वसवेद्य मानने मे भी विद्यानन्द ने अनेक दोष बताये हैं, जो विस्तार से युक्त्यनुशासन की टीका मे द्रष्टव्य हैं।

शून्यवाद समीक्षा

युक्त्यनुशासन मे अभावैकान्त के अन्तर्गत शून्यवाद का समीक्षण किया गया है। उसमे बताया गया है कि परमार्थवृत्ति से तत्त्व अभावमात्र है। परमार्थवृत्ति सभी विशेषो से शून्य होने के कारण सवृत्ति रूप है। हेतु स्वभाव से विधीयमान बन्ध और मोक्ष सवृत्ति के ही विधेय हैं। इसलिए उपर्युक्त मान्यता ठीक नही है।[9]

इसकी व्याख्या मे विद्यानन्द ने बताया है कि परमार्थवृत्ति सवृत्ति रूप है और वह सर्वविशेषो से शून्य है। इसलिए शून्य रूप सवृत्ति को तात्त्विकी मानने पर शून्यज्ञान का ही प्रतिषेध होता है। इसका कारण पदार्थ सद्भाववादियो ने जिन सभी विशेषो का सद्भाव स्वीकार किया है, उन सभी विशेषो से रहित सवृत्ति है, जो अविद्या रूप मे प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से बन्ध और मोक्ष भी सकल तात्त्विक विशेषताओ से शून्य अविद्या रूप सवृत्ति के समान अविद्यात्मक होगे। जैसे विशेष सवृत हैं वैसे ही बन्ध और मोक्ष भी सवृत रूप ही होगे क्योकि सवृत रूप हेतु स्वभाव है। आत्मा और

आत्मीय के अभिनिवेश से तथा नैरात्म्य भावना के आभास से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था मे क्या कोई विरोध नहीं आना चाहिए, अवश्य आना चाहिए।[10]

समन्तभद्र ने अभाव को निम्न प्रकार से व्यवस्थापित किया है।[11]

1 अभाव भी वस्तुधर्म है।
2 अभाव भाव की तरह भावान्तर है।
3 अभाव प्रमाण से जाना जाता है।
4 अभाव प्रमाण से व्यपदिष्ट किया जाता है।
5 अभाव वस्तु के अग रूप मे अवस्थित है।

आचार्य विद्यानन्द ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि –

अभाव भी वस्तुधर्म

बाह्य और आभ्यन्तर वस्तु के असम्भव होने पर उनका अभाव रूप शून्यता लक्षण सम्भव हो जाता है, अभाववादियो के इस मन्तव्य का खण्डन करते हुए विद्यानन्द ने बताया है कि वस्तुधर्म की उपलब्धि होने से अभाववादियो का यह शून्यता लक्षण सम्भव नहीं है, क्योकि–

1 स्वधर्म के असम्भव होने पर किसी भी धर्म की प्रतीति नहीं होती।
2 अभाव को स्वरूप से सिद्ध मानने पर वस्तु धर्म सिद्ध हो जाता है।
3 किसी भी धर्म के अभाव होने पर यह अभाव धर्मान्तर होता है। इसलिए सभी प्रकार से वस्तु धर्म सिद्ध होता है।
4 अभाव की स्वरूप से सिद्धि नहीं मानने पर वह अभाव नहीं कहा जा सकता । क्योकि अभाव के अभाव होने पर भाव का विधान होता है।

अभाव भाव की तरह भावान्तर

जैसे घट का जो अभाव है वह पृथ्वी का भाग है। इसलिए वह भावान्तर ही कहा जायेगा। वैसे ही धर्मी के अभाव होने पर वह भाव के समान भावान्तर सिद्ध होता है। उसको सकल शक्ति से रहित लक्षण रूप तुच्छ नही मानना चाहिए।

अभाव प्रमाण से जाना जाता है

धर्म और धर्मी का अभाव विना प्रमाण के नही जाना जा सकता है, अन्यथा अभाव अव्यवस्थित होता है। यदि अभाव को किसी प्रमाण से जाना जाता है तो वह धर्म का अभाव है। तब वह स्वभाव की तरह वस्तु धर्म है। यदि धर्मी का अभाव है तब वह भाव की तरह भावान्तर है। अभाव प्रमाण से व्यवतिष्ठ किया जाता है

अभाव व्यपदेश को प्राप्त होता है क्योकि उसका प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए उसका वस्तुधर्म अथवा वस्त्वन्तर सिद्ध होता है, नहीं तो व्यपदेश की अनुपपत्ति आती है।

अभाव वस्तु व्यवस्था का अंग रूप है

अभाव घटादि वस्तु व्यवस्था का अग है। यदि वह वस्तु व्यवस्था मे अग रूप नही होता तो उसकी परिकल्पना से कोई अर्थ सिद्ध नही होता। घट मे पटादि का अभाव है, इस प्रकार पटादि के परिहार से अभाव को घट की व्यवस्था के कारण रूप मे परिकल्पित किया जाता है अन्यथा वस्तु मे सकरदोष का प्रसग आता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अभाव वस्तु व्यवस्था का अग रूप है। इसलिए भाव के समान अभाव भी वस्तुधर्म सिद्ध होता है।

अन्यापोह की समीक्षा

युक्त्यनुशासन मे बताया गया है कि आत्मान्तर के अभाव रूप समानता– अन्यापोह रूप सामान्य– अपने आश्रय रूप भेदो से हीन है। इसलिए वह वचन का विषय नही होती है। दूसरे यह कि सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही वचन का विषय होती है, केवल सामान्य या केवल विशेष नहीं। अन्यापोह केवल सामान्य रूप है। इसलिए वह वचनगोचर नही होता। सामान्य और विशेष की एकता मे या तो सामान्य का अभाव हो जायेगा या विशेष का।[12] इसको गौ के उदाहरण से समझा जा सकता है। गौ इस शब्द से गाय इस अर्थ का बोध नही होता किन्तु गाय से भिन्न अश्व आदि से उसकी व्यावृत्ति का ही बोध होता है। इसी का नाम अन्यव्यावृत्ति– अन्यापोह है, जो

सामान्य होता है। यह अन्यापोह अपने आश्रय रूप भेदो– विशेषो से हीन है। सामान्य नियत देश, नियत काल और नियत आकार से रहित है एव विशेषो से भी असम्बन्धित– रहित है। ऐसी अवस्था मे वह किसी भी प्रमाण का विषय नही होता है। द्रव्यादिको मे सामान्य की वृत्ति का अभाव होनेसे स्वाश्रयो से उसका भेद मानने पर भी वह प्रमेय नही हो सकता। कृत्स्न रूप विकल्प से एव अश रूप विकल्प से देशकाल एव आकार से भिन्न व्यक्तियो मे सामान्य की वृत्ति नही बनती है। अनन्त व्यक्तियो का आश्रय एक महासत्ता रूप सामान्य है। इस विषय का ग्राहक कोई प्रमाण भी नही है। नाना सतो का एक आत्मा भिन्न भिन्न द्रव्य, गुण और कर्म जिसके आश्रय है, ऐसा सामान्य माना जाता है– अनन्त समाश्रय वाला महासत्ता स्वरूप सामान्य नही है– किन्तु अपर सत्ता स्वरूप सामान्य अपने अपने भिन्न भिन्न द्रव्य गुण और कर्म रूप आत्मा मे आश्रित हैं तो यहा प्रश्न उठता है कि सामान्य अपने व्यक्तियो से भिन्न है या अभिन्न, अद्विष्ठ अन्यत्व सामान्य और उसके आश्रय रूप व्यक्ति इन दोनो मे अनात्मा रहने पर कहा रहेगा, यदि सामान्य को अवस्तु रूप अन्यापोह रूप माना जाये और उसे अन्यत्व और अनन्यत्व रूप विकल्पो से रिक्त कहा जाये तो उसके अमेय होने पर भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

असत् आदि की व्यावृत्ति से हीन अन्वयमात्र से अथवा अन्वयहीन व्यावृत्तिमात्र से एव अद्वितय– इन दोनो प्रकारो से हीन सन्मात्र प्रतिभास सत्ता रूप सामान्य रूप साध्य की सिद्धि नही होती है। यदि साध्य साधन भाव को बनाने के लिए असाध्य व्यावृत्ति से साध्य एव असाधन व्यावृत्ति से साधन रूप अतद्व्युदासाभिनिवेशवाद स्वीकार किया जाये तो इसमे पराभ्युपेतार्थ के विरोधवाद का प्रसग आता है। सवेदनाद्वैतवादियो की शका का समाधान करते हुए कहा गया है कि जब साधन नि स्वभाव– सावृत स्वरूप है तो उसके द्वारा तथाविध साध्य की प्रतिपत्ति बनती ही नहीं है।[13] इस प्रकार युक्त्यनुशासन मे बौद्धदर्शन के विभिन्न सिद्धान्तो का समीक्षण किया गया है तथा उनके मतो का स्याद्वाद पद्धति से समाधान दिया गया है।

न्यायवैशेषिक दर्शन समीक्षा

न्यायवैशेषिक दर्शन का चिन्तन भारतीय दर्शनो की परम्परा मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दर्शन के अनुसार नि श्रेयश की प्राप्ति के लिए सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान आवश्यक माना गया है। वैशेषिक दर्शन द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात पदार्थों को आवश्यक मानता है। इसके अन्तर्गत प्रमाण और प्रमाण के लिए आवश्यक सन्निकर्ष, सन्निकर्ष के सयोग समवाय आदि के छह प्रकार अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त दर्शनो का आप्तमीमासा मे व्यवस्थित समीक्षण किया गया है। समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन मे उनका निम्न प्रकार समीक्षण किया है।

अनेकान्त शासन मे जीवादिक समस्त पदार्थ द्रव्य पर्याय, भाव अभाव स्वरूप हैं। इनसे अतिरिक्त स्वतन्त्र द्रव्यमात्र अथवा पर्यायमात्र एव परस्पर निरपेक्ष एकत्र तदुभय द्रव्य पर्याय मात्र भाव अभाव मात्र पदार्थ द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य आदि भाव रूप और प्रागभाव आदि अभाव रूप आकाश कुसुम जैसे हैं। समवाय सम्बन्ध को, अपने समवायियो मे अन्य समवाय आदि सम्बन्ध से असम्बन्धित होने के कारण सम्बन्ध की हानि होने से समस्त सत् असत् रूप से कल्पित पदार्थों की प्रकिया का अभाव हो जाता है।[14]

वैशेषिको का यह सिद्धान्त है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह पदार्थ सत् स्वरूप ही है। प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव एव अत्यन्ताभाव अभाव स्वरूप हैं। जैन दृष्टिकोण से निरपेक्ष रूप मे किसी भी पदार्थ की सत्ता स्वीकृत नहीं है। नित्य, अनित्य, एक, अनेक और भाव अभाव ये सब परस्पर सापेक्ष धर्म हैं, निरपेक्ष नही।[15] वैशेषिक परस्पर निरपेक्ष द्रव्य, गुण आदि पाच पदार्थों को समवाय सम्बन्ध से परस्पर मे सम्बन्धित मानता है। परन्तु यहा युक्त्यनुशासन के टीकाकार ने यह प्रश्न किया कि परस्पर सर्वथा स्वतत्र अवयव अवयवी आदि को सम्बन्धित कराने वाला समवाय अपने सम्बन्धियो मे किस सम्बन्ध से सम्बन्धित करता है, सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन प्रकार के होते है- 1 समवाय 2 सयोग 3

विशेषण विशेष्य। यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि समवायियो मे अपने आप को मिलाने के लिए समवाय दूसरे समवायान्तर की अपेक्षा रखता है तब भी सन्देह का निवारण नही होता क्योकि उनके यहा एक ही समवाय माना गया है, जिससे अनेकता आने से स्वसिद्धान्त का हनन होता है। समवायान्तर मानने पर अनवस्था दोष आता है। सयोग सम्बन्ध से, समवाय अपने समवायियो से मिला नहीं सकता कयोकि सयोग सम्बन्ध गुण हैं और गुण मे दूसरे गुण रहते नहीं हैं। यदि सम्बन्ध करा देता है तो स्वय समवाय को भी मिलना पडेगा, जिससे अन्य गुणो के साथ मिलने से गुणत्व का अभाव हो जायेगा। विशेषण विशेष्य भाव वैशेषिको ने समवाय और समवायियो को ही माना है। इस अपेक्षा से समवाय सम्बन्ध, विशेषण विशेष्य समवायियो से सम्बन्धित रह सकता है, परन्तु जब भिन्न गुण गुणी को वह जैसे मिला देता है, उसी तरह वह भी वैसे ही मिला देगा, तब इसको मिलाने के लिए अन्य की जरुरत पडेगी जिससे यहा अनवस्था दोष उपस्थित होता है। इस दोष को दूर करने के लिए यह कहा जाये कि बिना किसी सम्बन्ध के स्वत रहता है तब उसमे सभी की हानि होती है।[16] अत पदार्थ किसी अपेक्षा से भाव स्वरूप और किसी अपेक्षा से अभाव स्वरूप है, परस्पर सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं।

साख्ययोग दर्शन समीक्षा

युक्त्यनुशासन मे भावैकान्त और नित्यत्वैकान्त के अन्तर्गत साख्य और योग का समीक्षण किया गया है। जैसा कि विगत अध्याय मे स्पष्ट किया गया था कि साख्य और योग समान विद्या के प्रतिपादक दर्शन हैं। उनके अनुसार दु खो की निवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है। इनके यहा तत्त्व पच्चीस माने गये हैं। प्रकृति जड है, चेतन पुरुष निष्क्रिय आदि रूप मे तत्त्व केवल भावरूप हैं, अभाव का कोई अस्तित्व नहीं।

युक्त्यनुशासन के अनुसार पदार्थो को सर्वथा नित्य मानने पर उनमे किसी भी प्रकार का विकार नहीं हो सकता है। विकार के अभाव मे कर्ता आदि कारको का व्यापार नहीं बन सकता, कारक व्यापार के अभाव मे कार्य नही बन सकता और कार्य के अभाव मे युक्ति घटित नहीं हो सकती।

युक्ति के अभाव मे बन्ध तथा मोक्ष दोनो नही बन सकते और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है।' नित्य रूप से मान्य आत्मादि पदार्थों मे यदि स्वभाव से ही विकार को माना जाता है अर्थात् निर्हेतुक माना जाता है तो वहा क्रिया और कारक को विभ्रम रूप स्वीकार करना पडेगा। इससे वादान्तर का प्रसग उपस्थित होता है। परन्तु सर्वथा नित्यवादियो के यहा विभ्रमैकान्त रूप वादान्तर भी सिद्ध नही होता।[18]

उपर्युक्त की व्याख्या मे विद्यानन्द ने बताया है कि साख्य के निरतिशय अपरिणामी पुरुष के लिए प्रकृति का विक्रिया मे प्रवृत्ति करना उचित प्रतीत नही होता क्योकि सर्वथा नित्य पक्ष मे विक्रिया नही बन सकती। यहा प्रश्न उठता है कि साख्य के प्रधान के विकार महदादि पुरुषार्थ को करते हुए पुरुष का उपकार करते है अथवा नहीं। यदि उपकार करते है तो वे पुरुष के अर्थान्तर रूप हैं, अत यह तो उपकार किया ही माना जायेगा और यदि अनर्थान्तर रूप है तो प्रकृति के विकार द्वारा सम्पादित पुरुषार्थ पुरुष के लिए किया गया सिद्ध नही होता है। यदि प्रकृतिकृत विकार के उपकार से पुरुष का उपकार होना ही माना जाता है तो उपकारान्तर का प्रसग आने से अनवस्था दोष आता है। यह कथन भी अयुक्त है कि पुरुष के उदासीन होने के कारण उसके द्वारा प्रकृति के महदादि विकारो का निरीक्षण मात्र ही उसका उपकार है, क्योकि जब पुरुष उदासीन है तो पुरुष के भोक्तृत्व मे विरोध आता है और उसका दृश्य भोग भी नहीं बनता।[19]

इस सम्बन्ध मे समन्तभद्र का यह विचार द्रष्टव्य है कि पदार्थ के कालान्तरस्थायी होने पर चाहे वह अनित्य हो, भिन्न हो या अनिर्वचनीय हो, कर्ता और कार्य दोनो भी उसी प्रकार नही बन सकते जिस प्रकार कि पदार्थ के सर्वथा क्षणिक अथवा ध्रुव होने पर नही बनते, क्योकि तब विकार की निवृत्ति होती है।[20]

चितिशक्ति अपरिणामिनी नहीं

आत्मा मे अदर्शित विषय का त्याग और दर्शित विषय होने से विषय का ग्रहण रूप क्रियाये पायी जाती है। इसलिए आत्मा परिणमनशील है तथा उसकी स्वरूपत स्थिति ज्यो की त्यो बनी रहती है।

चितिशक्ति अप्रतिसकमा नहीं

पुरुष के दर्शित विषय हो जाने पर उसमे प्रतिसकमण हो जाता है। साख्य का यह कहना अयुक्त है कि बुद्धि का ही सकम होता है पुरुष का नही अन्यथा बुद्धि भी अप्रतिसकमा हो जायेगी। बुद्धि का विषय के साथ प्रतिसकम माना ही गया है। इस प्रकार साख्ययोग बुद्धि के द्वारा अवसीयमान, निश्चीयमान विषय के प्रतिसकम होने पर बुद्धि का अप्रतिसकम नहीं मानते हैं तो बुद्धि के प्रति दर्शन के द्वारा बुद्धि के विषय को देखते हुए पुरुष भी कैसे अप्रतिसकमण वाला कहा जा सकता है।

चितिशक्ति दर्शित विषय नही

पुरुष दर्शित विषय वाला भी नही है, क्योकि जिस प्रकार बुद्धि प्रत्येक विषय को देखती हुई सकमित होती है उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि को देखता हुआ सकमित होता है अन्यथा कम से पुरुष दर्शित विषय वाला कैसे हो सकता है।

चितिशक्ति को अनन्त ही मानना अयुक्त

पुरुष को शुद्ध, अप्रतिसकमण स्वरूप के साथ अनन्त मानना भी अयुक्त है, क्योकि ऐसा मानने पर प्रकृति के भी अनन्त होने के कारण वह व्यभिचरित हो जाता है। यदि सान्त माना जायेगा तो नित्यत्व से विरोध होता है। साख्य का यह भी कहना असगत है कि प्रकृति में महदादि विकार परिणाम पाये जाने से प्रकृति प्रतिसकम स्वभाव वाली है तथा पुरुष मे प्रकृति के समान परिणाम नहीं पाये जाने से वह अप्रतिसकम स्वरूप वाला है, क्योकि पुरुष के भी दृश्य के दर्शन रूप परिणाम सिद्ध होता है। इसलिए साख्ययोग का यह हेतु 'चितिशक्ति अप्रतिसकमा परिणामरहितत्वे सति अनन्तत्वात्' असिद्ध हो जाता है। इसलिए तत्त्व अभेदभेदात्मक है।[21]

पूर्वमीमांसा समीक्षण

समन्तभद्र के द्वारा युक्त्यनुशासन मे श्लोक सख्या 37 से 39 तक जो दीक्षासममुक्ति मानने वाले और हिसाभ्युदयवादियो का समीक्षण किया गया

है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हे मीमासको का समीक्षण करना अभीष्ट रहा है। विद्यानन्द ने इन पदो का अर्थ स्पष्ट रूप मे मीमासक किया है। इसके अतिरिक्त आप्तमीमासा कारिका 3, 9, 76 के माध्यम से टीकाकारो ने अपने ग्रन्थो मे पूर्वमीमासा की विशद समीक्षा की है। युक्त्यनुशासन मे लिखा है कि स्वभाव से ही जगत की स्वछन्दवृत्ति होने के कारण ऊचे अनाचार मार्गों मे कोई दोष नहीं है– इस प्रकार उद्घोषणा करते हुए जो दीक्षा के समकाल मे ही मुक्ति को मानते हैं, वे अर्हन्त की दृष्टि से बाह्य होने के कारण भ्रमित हो रहे हैं।[22] जो व्यक्ति शम और तुष्टि से रिक्त हैं और प्रवृत्ति– हिसा आदि पापो मे सलग्न है, उनके द्वारा प्रवृत्ति को स्वय ग्रहण करके, हिसा अभ्युदय के हेतु की आधारभूत है और प्रवृत्ति से शान्ति होती है, इस प्रकार की उनकी मान्यताये घोर अन्धकार के समान हैं।[23] जीवात्मा के दु ख के निमित्त भूत शीर्शोपहारादिक के द्वारा देवो की आराधना करके वही लोग सिद्ध होते हैं, जो दोषो के अपचय की अपेक्षा नहीं रखते और सुखाभिगृद्ध है।[24]

युक्त्यनुशासन मे प्रतिपादित उपर्युक्त विचारो से स्पष्ट है कि इसमे प्रमुख रूप से कर्मकाण्ड के नाम पर हिसा और दुष्प्रवृत्तियो को बढावा देने वाले सम्प्रदाओ का खण्डन किया गया है। व्याख्याकारो ने इसे मीमासको का मत मानकर समीक्षण किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मीमासको के यज्ञ याज्ञादि का प्रत्यक्ष प्रायोगिक रूप सभी के सामने था। इसलिए मीमासको की इस मान्यता का, विशेषत उनके द्वारा ग्रहण कर ली गयी लोक विरुद्ध या प्राणियो के दु ख जनक प्रवृत्तियो का अवैदिक दर्शनो मे घोर विरोध हुआ।

आचार्य विद्यानन्द ने 'दीक्षासममुक्तिमाना' पद को दो अर्थों मे ग्रहण किया है। प्रथम मन्त्रवादी, जो मन्त्र– दीक्षा के समकाल मे ही अपने को मुक्त समझकर बडे से बडे अनाचार मार्ग को भी खराब नही समझते थे। दूसरे अर्थ मे मीमासको को लिया गया है। जिसमे उन्होने मीमासक सम्मत कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मीमासक अनन्त ज्ञानादि रूप मुक्ति का होना तथा यम नियमादि रूप दीक्षा को स्वीकार नही करते

है। इसलिए वे जगत को स्वछन्दवृत्ति वाला मानकर मास भक्षण, मदिरा पान आदि अनाचार मार्गों मे दोष नहीं देखते हुए वेद विहित पशु बधादि को भी निर्दोष बतलाते हैं तथा दूसरी ओर वेद बाह्य ब्रह्म इत्यादि को दोषपूर्ण भी कहते हैं। विद्यानन्द ने लिखा है कि हिसा, मदिरापान आदि जितने भी अनाचार मार्ग हैं, वे चाहे आगम विहित हो या अनागम विहित, सभी खारपाटिको की तरह सदोष हैं। बकरे आदि के शिर की बलि चढाना, गुग्गुल धारण करना, मकर को भोजन कराना, पर्वत पर से गिरना आदि जो शीर्षोपहारादिक कृत्य जीवात्माओ के दुख के निमित्तभूत है, उनके द्वारा यक्ष, महेश्वरादि की आराधना कर वही सिद्ध होते है, जिनको दोषो के विनाश की कोई अपेक्षा नही है।[25]

वेदान्तदर्शन समीक्षण

युक्त्यनुशासन मे आप्तमीमासा की तरह वेदान्त के सिद्धान्तो का नाम लेकर खण्डन तो नहीं किया गया है, पर सर्वथा अभेदवाद, सर्वथा नित्यवाद और विद्या अविद्या के प्रसग मे उनका समीक्षण स्वत ही हो जाता है। ग्रन्थ के 'सर्वनिषेधगम्यम्' इस वाक्य से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को 'परब्रह्म' समीक्षण करना अभीष्ट रहा।

युक्त्यनुशासन मे बताया गया है कि सत्व सर्वथा न सत् स्वरूप ही प्रतीत होता है और न असत् स्वरूप ही। परस्पर निरपेक्ष सत्, असत्, उभय, एक, अनेक आदि धर्मों के प्रतिषेध से गम्य आत्मान्तर रूप तत्व भी नही दिखाई देता। किन्तु उपाधि विवक्षा के भेद से अनेक धर्मों से मिश्रित हुआ तत्व ही प्रतीति का विषय देखा गया है। इसलिए अर्हन्त जिन से भिन्न एकान्तवादियो द्वारा स्वीकृत तत्व स्वप्न मे भी प्रतीति का विषय नही होता है।[26]

ब्रह्माद्वैतवादियो के अनुसार न वस्तु सत् एक रूप है और न असत् एकान्त रूप है, किन्तु इन समस्त धर्मों से शून्य एक परब्रह्मस्वरूप है।

आप्तमीमासा और अन्य भारतीय दर्शन के समीक्षण के अन्तर्गत पूर्व मे विस्तृत रूप से यह स्पष्ट किया गया था कि सत्ताद्वैत तत्व का अस्तित्व

नही है, क्योकि इसकी एकान्त मान्यता मे सकल विशेषणो का अभाव हो जाता है। घट की सत्ता, पट की सत्ता आदि अवान्तर सत्ता रूप विशेषणो का अस्तित्व परमसत्ताद्वैत मे बन नही सकता। यह भी प्रतीत नही होता कि परमसत्ताद्वैत रूप तत्व इन अपने विशेष रूप विशेषणो से रिक्त है। जिस प्रकार सर्वथा असत तत्व दृष्टि गोचर नहीं होता है उसी प्रकार एकान्त रूप से मान्य सन्मात्र तत्व अथवा अतन्मात्र तत्व भी प्रमाण प्रतिपन्न नही होता है। तत्त्व का यह स्वभाव है कि वह स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से कथचित् सत् और परद्रव्यादि की अपेक्षा से कथचित् असत् स्वरूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार कमार्पित उभय की विवक्षा मे, उनमे परस्पर सापेक्ष सदासदात्मकता दृष्ट होती है।[27]

इस प्रकार युक्त्यनुशासन और अन्य भारतीय दर्शन नामक इस अध्याय मे, सक्षेप मे समन्तभद्र के एकान्तवादो के समीक्षण का अध्ययन विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो की विचारधाराओ के अन्तर्गत किया गया है। इसमे यह ध्यान रखा गया है कि एकान्तवादो के समीक्षण मे जो तर्क आप्तमीमासा के दार्शनिक अनुशीलन के समय उपस्थित किये गये है, उनकी पुनरावृत्ति न हो, यदि कही पर पुनरावृत्ति भी हुई है तो वह अत्यन्त आवश्यक होने के कारण हुई है।

सन्दर्भ

1 युक्त्य0 35, 36
2 युक्त्य0 टीका 35
3 वहीं 35
4 वही 36
5 युक्त्य0 35, 36
6 युक्त्य0 7
7 वही, 11–18
8 युक्त्य0 टीका 18
9 वही, 25
10 वही 25
11 वही 59
12 युक्त्य0 54
13 युक्त्य0 टीका 54–50
14 युक्त्य0 7
15 वही, 7
16 वही, 7
17 युक्त्य0 8
18 वही 9
19 युक्त्य0 टीका, 8
20 युक्त्य0 34
21 युक्त्य0 टीका 8
22 युक्त्य0 37
23 वही 38
24 वही 39
25 वही, 39
26 युक्त्य0 32
27 वही 32

उपसंहार

आचार्य समन्तभद्र का व्यक्तित्व एव कृतित्व, विषय पर प्रस्तुत किये गये विगत पाच अध्यायो से ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं कि समन्तभद्र एक अदम्य तार्किक, उच्चकोटि के दार्शनिक, ऋद्धिधारी, परमतपस्वी, सर्वोदयी, कविश्रेष्ठ और समन्वयवादी चिन्तक मनीषी थे। शिलालेख आदि विभिन्न सन्दर्भो मे उनका नाम विशिष्ट गौरव के साथ लिया गया है। उन सन्दर्भो मे उन्हे स्वामी, यति, देव, वनवासी, आद्यस्तुतिकार, मुनि, योगी, कविपरमेष्ठी, तार्किक, चक्रचूडामणि,वाग्मी, परमात्मा, महावादी, स्याद्वादमार्ग्राग्रणी आदि विशिष्ट पदो से विभूषित किया गया हैं। द्राविण आदि जिन गण सघो आदि की परम्परा मे समन्तभद्र का होना बताया गया है, वे दक्षिण भारत मे ही प्रचलित रहे हैं। नाम के साथ स्वामी शब्द का प्रयोग भी सामान्य रूप से दक्षिण भारत मे ही पाया जाता है। इसलिए सभी साक्ष्यो से यह नि सन्देह रूप से पुष्टि होती है कि समन्तभद्र का जन्मस्थान दक्षिण भारत मे ही कही रहा होगा। उनके स्तुति ग्रन्थ जिनशतक को छोडकर अन्य कोई ऐसा सन्दर्भ दृष्टिगोचर नही हुआ, जिससे समन्तभद्र का नाम शान्तिवर्मा सूचित हो। आप्तमीमासा की पाण्डुलिपियो मे प्राप्त होने वाले उरगपुर का सन्दर्भ विशेष उल्लेखनीय है, जिसमे उनके जन्मस्थान और कुल की सूचना मिलती है, परन्तु इस सन्दर्भ की पुष्टि कथाओ से नही होती। कथाओ मे उनका जन्मस्थान उत्वलिका ग्राम मे होना बताया गया है। कथाओ मे भस्मक व्याधि आदि होने के सन्दर्भो की पुष्टि भी अन्य किसी स्रोतो से नहीं होती। समन्तभद्र के समय के वारे मे भले ही निश्चित कुछ न कहा जा सके, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि वे पूज्यपाद से पूर्व हुए थे तथा उन्होने जैन चिन्तन को ही नहीं प्रत्युत समग्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन को प्रभावित किया।

समन्तभद्र द्वारा रची गयीं ग्यारह कृतियो के उल्लेख प्राप्त होते हैं, पर वर्तमान मे आप्तमीमासा आदि पाच कृतिया ही उपलब्ध होती हैं, जिनके परिमाण आदि के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है।

भारतीय वाड्मय मे समस्त स्तोत्र साहित्य वैदिक और श्रमण इन दो रूपो मे उपलब्ध होता है। श्रमण परम्परा के स्तोत्रो का उद्गम जैन आगम साहित्य मे देखा जा सकता है। 'जयतिहुअण', 'तित्थयरशुद्धि' आदि शताधिक स्तोत्र विशेषकर दिगम्बर परम्परा मे उपलब्ध होते हैं। जैन स्तोत्र रचना के प्रमुख आधार तीर्थंकर– वर्णन, स्तवन, धर्म, दर्शन, न्याय, सिद्धान्त, नीति, समाज, आचार आदि के निरूपण, भक्तिप्राधान्य और साहित्यिक विकाश आदि रहे हैं। स्तोत्रो की प्रमुख भाषा सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश रही है। समन्तभद्र के स्तुति लक्षण के अनुसार रत्नकरण्डश्रावकाचार को छोडकर उनकी सभी कृतिया स्तोत्र या स्तुतिया हैं। जिनमे स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुतिविद्या भक्तिपरक साहित्यिक विशेशताओ से ओतप्रोत एव काव्यमूल्यो की दृष्टि से पूर्ण स्तोत्र माने गये हैं।

स्वयम्भूस्तोत्र समन्तभद्र की एक अनुपम रचना है, जिसमे पुराण, इतिहास, दर्शन एव न्याय के जटिल विषयो को स्तुति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के पौराणिक सन्दर्भ बाद के पुराणकारो के लिए आधार स्तभ बनें।

समन्तभद्र के काव्य भक्तिपरक होते हुए भी उनके काव्यो मे काव्य वैभव स्पष्ट झलकता है। स्वयम्भूस्तोत्र मे जहा शब्दालकार और अर्थालकार की छटा द्रष्टव्य है, वहीं स्तुतिविद्या मे चित्रालकार की योजना आचार्य की अप्रतिम काव्य कौशल का प्रतीक है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि सस्कृत साहित्य के इतिहास मे समन्तभद्र चित्रालकार के जनक थे। समन्तभद्र के इन काव्यो के मुक्तको मे उपमानो, शब्दपरिच्छित्तियो एव शब्दसकेतो द्वारा पौराणिक आख्यानो को उपस्थित कर प्रबन्धात्मकता का समावेश किया गया है।

विभिन्न साक्ष्यो और प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार समन्तभद्र कृत ही है तथा इसमे एक सौ पचास ही श्लोक हैं। इस ग्रन्थ मे सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म का प्रतिपादन श्रावको के लिए किया गया है। धर्म के इन तीनो अगो का पौराणिक कथानको के उदाहरणो और उनकी चारित्र मीमासा के साथ

विवेचन किया गया है। इसमे अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, मूलगुण, सल्लेखना, प्रतिमाओ आदि का जो प्रतिपादन किया गया है, वैसा ही अत्यल्प अन्तर के साथ परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होता है।

शोध प्रबन्ध का चौथा और पाचवा अध्याय आप्तमीमासा और युक्त्यनुशासन के दार्शनिक अनुशीलन से सम्बन्धित हैं। इससे ज्ञात होता है कि तीर्थंकर के जो विचार समन्तभद्र से पूर्व आचार्यों ने निबद्ध किये थे, उनको समन्तभद्र ने प्रमाणशास्त्रीय व्यवस्था और प्रतिष्ठा देने का कार्य किया। इस कार्य के लिए उन्होने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रमाणशास्त्रीय पद्धति पर वर्गीकरण और विश्लेषण भी किया। उन्होने अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभगी, प्रमाण और नय की जो व्याख्या प्रतिष्ठापित की, वह परवर्ती दार्शनिको के लिए पथप्रदर्शक बनी।

समन्तभद्र के सामने मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनी आदि की वह विचारधारा भी थी, जिसके आधार पर वे विद्वान् दूसरे दर्शनो के सिद्धान्तो का खण्डन और अपने सिद्धान्तो का मण्डन किया करते थे। तर्क और युक्तियो से सभी अपने ही उपास्य को आप्त या सर्वज्ञ सिद्ध करने मे लगे हुए थे। उस समय तत्त्व की चर्चा सद्वाद असद्वाद, शाश्वतवाद अशाश्वत् वाद, अद्वैतवाद द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद वक्तव्यवाद इन चार विरोधी युगलो को लेकर हुआ करती थी। सभी किसी एक कोटि को ही अपने इष्ट मत के रूप मे मानने का आग्रह करते थे। समन्तभद्र को जब यह अनुभव हुआ कि परीक्षा, तर्क और न्याय के विना आप्त का स्वरूप और तत्त्व का वास्तविक रूप स्थिर नहीं हो सकता, तब जैनदर्शन के इतिहास मे उन्होने सर्वप्रथम पूर्व परम्परा से चले आये निर्दोष, सर्वज्ञ और आगमेशि आप्त के स्वरूप का सर्व प्रथम अनुमान प्रयोग कर परीक्षण किया तथा बताया कि जिनके वचनो मे किसी भी प्रकार का विरोध न पाया जाये, वह आप्त है। अनेकान्त मत मे कहीं विरोध नही पाया जाता। इसलिए इस मत के प्रतिपादक आप्त हैं। इस समन्वयमूलक अनेकान्तात्मक भावना को केन्द्र विन्दु बनाकर समन्तभद्र ने इसके वास्तविक स्वरूप का दार्शनिक दृष्टि से प्रतिपादन किया है। उन्होने बताया है कि तत्व चार कोटियों मे ही पूर्ण नहीं

होता अपितु उसकी पूर्णता सात कोटियो मे होती है और अनन्त धर्मों की अपेक्षा से प्रत्येक धर्म को लेकर अनन्त सप्तभगिया बन सकती हैं। जितने भी विकल्प अर्थभेद हो सकते है, वे सभी स्यात शब्द से नेय सात विकल्पो मे सन्निहित हैं। वक्ता या ज्ञाता के अभिप्राय के अनुसार ही इनमे मुख्य और गौण की विवक्षा की जाती है। उनके इस प्रतिपादन से सप्तभग के अतिरिक्त भग के नहीं मानने का भी समाधान हो जाता है।

समन्तभद्र ने द्वैत अद्वैत आदि साख्यिक, सत् असत् आदि देशिक, नित्य अनित्य आदि कालिक और दैवपुरुषार्थ, बन्ध मोक्ष आदि देशकालातीत कुल मिलाकर चालीस एकान्तो का प्रतिपादन कर उनमे आपत्तिया बतायी और उनका अनेकान्त दृष्टि से समन्वयात्मक समाधान देकर एक नई व्यवस्था का प्रतिपादन किया तथा यह सिद्ध किया कि वस्तु अनन्तधर्म वाली होने से उसका स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है। एक वस्तु मे अपेक्षा से दो विरोधि धर्म के रहने मे आपत्ति नही है। वस्तु कथचित् नित्य है, क्योकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है तथा कथचित् अनित्य भी है, क्योकि उसमे कालभेद से परिणाम भेद पाया जाता है। इसी कथचित्वाद या स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर समन्तभद्र ने नय अथवा सप्तभंगी की समायोजना करके समग्र प्रमेयत्व, जीव अजीव, लोक परलोक, पुण्य पाप, दैवपुरुषार्थ आदि की व्यवस्था प्रदान की है।

तत्त्वज्ञान और स्वपरावभासी प्रमाण का लक्षण बताकर समन्तभद्र ने प्रमाण लक्षण की जो भूमिका बाध दी, उसे उत्तरवर्ती प्राय सभी जैनदार्शनिको ने शब्दो के अल्प परिवर्तन के साथ ज्यो का त्यो अपनाया। उस समय समन्तभद्र के समक्ष जहा एक ओर ज्ञानो का प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप मे वर्गीकरण उपलब्ध था, वहीं दूसरी ओर अन्य परम्पराओ मे प्रमाण के एक से लेकर अनेक प्रमाण मानने की परम्पराए भी थीं। इस दोहरे दायित्व का उन्होने अत्यन्त कुशलता से निर्वाह किया है। उन्होने न तो प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे वर्गीकरण किया और न ही अनुमान आगम आदि के रूप मे, प्रत्युत उन्होने सर्वावभासक और क्रमभावी इस प्रकार के दो भेद करके उसमे सभी मान्यताओ का समावेश कर दिया। केवलज्ञान जिसे समन्तभद्र

ने युगपत् सर्वावभासक कहा उसे तो सर्वथा निरपेक्ष और स्वतन्त्र माना किन्तु कमभावी ज्ञानो मे तरतमता को स्वीकार किया।

आप्तमीमासा और युक्त्यनुशासन अनुशीलन के चतुर्थ एव पचम अध्याय के कमश तृतीय परिच्छेद द्वितीय परिच्छेद मे प्रस्तुत ग्रन्थो के सन्दर्भ मे अन्य भारतीय दर्शनो का भी समीक्षण किया गया है। यद्यपि इन ग्रन्थो मे भारतीय दर्शनो के विभाजन के अनुसार न तो षड्दर्शनो या अन्य प्रकार से विभाजन किया गया है और न हि किसी दार्शनिक सम्प्रदाय या प्रणेता का नाम लिया गया हैं, फिर भी उन्होने एकान्त दृष्टियो के माध्यम से जिन सिद्धान्तो की समीक्षा की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्र को विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो के कौन कौन से सिद्धान्तो का समीक्षण करना अभीष्ट रहा है। इस पर्यालोचन मे चार्वाक के भूतचैतन्यवाद, स्वभाववाद, कामाचारवाद, बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद, न्यायवैशेषिक दर्शन के पृथक् पृथक् कार्य कारण, गुण गुणी, समवाय समवायी आदि साख्ययोग के व्यक्ताव्यक्त तत्वो का सर्वथा नित्यवाद, पुरुष प्रकृति, सत्कार्यवाद आदि मीमासादर्शन के कर्मकाण्ड आदि एव वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद, ब्रह्म और माया आदि का समीक्षण किया गया है। इसमे बताया गया है कि नित्य अनित्य, द्वैत अद्वैत, भाव अभाव आदि एकान्तिक विचारधाराऐ अपनी एक सीमा तक ही सत्य हैं, सर्वथा नहीं, क्योकि वस्तु का स्वरूप एकान्तिक न होकर अनेकान्तात्मक है। वस्तुत परस्पर विरोधी धर्मो के एक साथ रहने मे कोई आपत्ति नहीं। मात्र प्रयोजन के अनुसार उनमे मुख्य और गौण की व्यवस्था कर ली जाती है, जो स्याद्वाद और सप्तभगी के द्वारा ही सम्भव है।

निसन्देह समन्तभद्र को जैनन्याय का जन्मदाता माना जाना चाहिए, क्योकि उन्होने ही सर्वप्रथम जैनन्याय से सम्बन्धित प्रमाण, नय, हेतु, अनुमान, आगम आदि की तार्किक व्याख्याए करके सस्कृतभाषा में आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन जैसे सूत्रात्मक स्तुति ग्रन्थो का प्रणयन किया। अपने समूचे चिन्तन मे उन्होने कहीं पर भी तर्क के लिए तर्क अथवा छल, जाति, वितण्डा आदि के आधार पर वाद को पराजित करने का प्रयत्न नहीं किया।

उन्होने सर्वत्र एकान्तिक मान्यताओं मे त्रुटिया दिखाकर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से आचार्य समन्तभद्र को भारतीय दर्शन का महान् समन्वयवादी दार्शनिक मनीषी स्वीकार किया जाना चाहिए।

रत्नत्रय

हर एक इन्सान को मालूम है
मिट्टी का जिस्म यह फानी है।
बनते, मिटते पुतलो की तरह
इसकी भी अजब कहानी है।

बाइल्म अमल बीनीई से
इसकी भी कीमत होती है।
सीपी की तरह इसमे रक्खा
जब 'रत्नत्रय' का मोती है।

शब्दसंकेत एवं सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक / प्रकाशक और संस्करण
अ0ग्र0	अकलकग्रन्थयम्	अकलक	म0कु0न्यायाचार्य, सिघी जैनग्रन्थमाल अहमदाबाद, प्रथम सस्करण,सन1939
–	अध्यर्द्धशतक	मातच्चेट	दि जर्नल ऑफ विहार एण्उ उडीसा रिसर्च, सोसायटी, पटना सन् 1939
अ0को0	अमरकोश	अमरसिह	चौखम्बा, सस्कृत सीरीज, वाराणसी सन 1970
–	अमितगतिश्रावकाचार	प0भागचन्द्र	श्री दि0 जैन पुस्तकालय सूरत वी0नि0स0 2484
अ0चि0	अलकारचिन्तामणि	अजितसेन	अजितसेन, डॉ0नेमिचन्द्र जैन भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1973
अ0पा0	अष्टपाहुड	कुन्दकुन्द	पन्नालाल साहित्याचार्य शा0दि0जैन स0 श्रीशान्तिवीर नगर, वी0स0 2494
अ0स0	अष्टसहस्री	विद्यानन्द	वशीधर ज्ञानचन्द्र नाथारग जी गाधी अकलूज सोलापुर 1915
–	अष्टसहस्रीतात्पर्यविव0	यशोविजय	जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद
आ0पु0	आदिपुराण	जिनसेन	पन्नालाल साहित्याचार्य,भारतीय ज्ञान–पीठ काशी, 1963
आ0प0	आप्तपरीक्षा	विद्यानन्द	दरबारीलाल कोठिया वीरसेवा मन्दिर सरसावा 1949
–	आप्तमीमासा	तत्वदीपिका	उदयचन्द्र जैन श्रीगणेशप्रसाद वर्णी शोधसस्थान, वाराणसी, 1975
आप्त0	आप्तमीमासा (देवागम)	समन्तभद	वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट दिल्ली, 1967
–	आप्तमीमासाभाष्य	अकलक	समन्तभद्र ग्रन्थावली मे सग्रहीत, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी, 1989
आप्त0वृ0	आप्तमीमासावृत्ति	वसुनन्दि	समन्तभद्र ग्रन्थावली में सग्रहीत वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, 1989
आ0सू0	आवश्यकसूत्र	मलयगिरि	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई वि0स01984
–	आराधनाकथाकोष	ब्रह्मनेमिदत्त	जैनमित्र कार्यालय बम्बई, सन 1915
उपा0	उपासकाध्ययन	सोमदेवसूरि	कैलाशचन्द्रशास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1964
–	उपासगदसाओ	सुधर्माचार्य	छगनलाल शास्त्री व्यावर 1980

सकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक/ प्रकाशक और सस्करण
क०को०	कथाकोश	प्रभाचन्द्र	आ०ने० उपाध्ये भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, सन 1974
-	कन्नड प्रान्तीय ग्रन्थसूची	ताडपत्रीय	के०भुजवली शास्त्री भारतीय ज्ञान-पीठ काशी, 1948
क०का०	कल्याणकारक	उग्रदित्य	प०वर्द्ध०पा०शास्त्री शोलापुर 1940
–	कर्णाटककविचरिते	आर०एस०	नरसिहाचार्य बगलोर सन 1934
कार्ति०	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	कार्तिकेय	ए०एन०उपाध्ये श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला अगास
का०प्र०	काव्यप्रकाश	मम्मट	डॉ०सत्यव्रतसिह चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1955
–	काव्यादर्श	दण्डी	कमलमणि ग्रन्थमाला वानाणसी
किराता०	किरातार्जुनीयम	भारवि	निर्णय सागर प्रेस बम्बई शाके1829
–	कुन्दकुन्दभारती	कुन्दकुन्द	प० पन्नालाल साहित्याचार्य श्रुत भ० ग्रन्थ प्रका०समिति फल्टन 1970
ग०चि०	गद्यचिन्तामणि	वादीभसिह	प० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी 1968
–	चतु शतकम	आर्यदेव	डॉ० भागचन्द्र भाष्कर आलोक प्रका० नागपुर 1971
चा०सा०	चारित्रसार	चामुण्डराय	भा० दि० जैन ग्रन्थ० बम्बई
–	चेइयवदणमहाभास	शान्तिसूरि	जैन आत्मानन्द महासभा भावनगर वि० स० 1977
–	जिनसहस्रनाम	आशाधर	टी०श्रुतसागरसूरि भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी 1954
जिन०	जिनशतक	समन्तभद्र	नृसिह व्याख्या सहित स्याद्वाद, रत्नाकर कार्यालय काशी सन 1912
–	जैनतर्कशास्त्र मे अनुमान विचार	डॉ०द०ला० कोठिया	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी, 1969
–	जैनदर्शन	प०म०कु०जैन	श्री गणेश वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी प्र० स० 1974
जै०सा०सि०	जैनदार्शनिक साहित्य का सिहानलोन	प०दलसुख मालवणिया	जैन स० स०मण्डल बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, पत्रिका 21, सन 1949
–	जैनधर्मदर्शन	डॉ०मो०मेहता	पा०वि०शोधसस्थान,वाराणसी 1973
–	जैनन्याय	प०कै०च०शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन्1966
जैनप्र०प०	जैनदर्शन प्रमाणशास्त्र परिशीलन	डॉ०द०लाल कोठिया	वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वारणसी सन 1980

संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक/ प्रकाशक और संस्करण
जैनसा0इ0	जैनसाहित्य का इतिहास(पू0पी0)	प0कै0च0षास्त्री	श्री गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी वी0नि0स0 2489
जैनशि0स0	जैनशिलालेख संग्रह भाग- 1		हीरालाल जैन माणिकचन्द्र दि0जैन ग्रन्थ0हीराबाग बम्बई सन 1957
	जैनशिलालेख संग्रह भाग- 2		प0विजयमूर्ति मा0ग्र0बम्बई 1952
	जैनशिलालेख संग्रह भाग- 3		प0विजयमूर्ति मा0ग्र0बम्बई 1957
	जैनशिलालेख संग्रह भाग- 4		डॉ0वि0जोहरापुरकर भारतीय ज्ञानपीठ काशी वी0 नि0 स0 2491
	जैनशिलालेख संग्रह भाग- 5		डॉ0विद्याधर जोहरापुरकर, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, 1971
जै0महा0	जैनेन्द्रमहावृत्ति	अभयनन्दि	श0त्रिपाठी भा0ज्ञानपीठ काशी 1956
जै0व्या0	जैनेन्द्र व्याकरण	देवनन्दि	भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1956
-	ज्ञानविन्दु	यशोविजय	प0सुखलाल सिंघी ग्रन्थमाला अहमदाबाद सन 1942
-	ज्ञानार्णव	शुभचन्द	अनुवादक पन्नालाल वाकलीवाल श्रीमद् राजचन्द आश्रम अगास, 1961
त0सूत्र	तत्त्वार्थसूत्र	गृद्धपिच्छ	प0फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री श्रीगणेश वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी वीनि2476
त0वा0	तत्त्वार्थवार्तिक	अकलंक	प0महेन्द्रकुमार जैन भारतीय ज्ञानपीठ काशी सन 1953
त0श्लो0	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	विद्यानन्द	प0 म0ला0निर्णयसागर प्रेस बम्बई1918
त0प0	तपागच्छपटटावली	धर्मसागर	विजयनीति सू0 अहमदाबाद 1940
ती0आ0प0	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्प	डॉ0नेमिचन्द	अ0भा0दि0विद्वत्परिषद, सागर 1974
द0चि0	दर्शन और चिन्तन	प0सुखलाल	गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद 1957 -
-	दशभक्त्यादि संग्रह	-	प0फूलचन्द्र शास्त्री सेठ प्रेमचन्द सखाराव वरामती(पुणे) वि0स0 2462
दे0	देवागम (वृत्ति)	वसुनन्दि	प0 गजाधर शास्त्री सनातन जैन ग्र0 वाराणसी, 1914
-	द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र	प0मोहनलाल शास्त्री, सरल जैन ग्रन्थ माला, जबलपुर 1986
-	धर्मशर्माभ्युदय	हरिश्चन्द्र	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1888
नि0सार	नियमसार	कुन्दकुन्द	उग्रसेन अजिताश्रम लखनऊ 1931
न्यायदी0	न्यायदीपिका	अ0धर्मभूषण	वीर सेवा मन्दिर सरसावा, 1945
न्या0	न्यायावतार	सिद्धसेन	परमश्रुत प्र0 मण्डल, बम्बई 1950

सकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक / प्रकाशक और सस्करण
न्या0कु0	न्यायकुमुदचन्द	प्रभाचन्द	प0 महेन्द्रकुमार जैन, माणिकचन्द्र दि0 जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन 1947
न्यायवि0	न्यायविनिश्चयटीका	वादिराजसूरि	प0महेन्द्रकुमार जैन भारतीय ज्ञान पीठ, काशी 1949
–	पचास्तिकाय	कुन्दकुन्द	प0 मनोहरलाल शास्त्री, परमश्रुत प्रभा0 मण्डल अगास, वि0स02025
प0मु0	परीक्षामुख	माणिक्यनन्दि	प0फूलचन्द्र बालचन्द्र शास्त्री, वाराणसी सन् 1928
प0पु0	पद्मपुराण	रविषेण	प0 पन्नालाल साहित्याचार्य भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1956
प0प0	पद्मनन्दिपचविशतिका	पद्मनन्दि	डॉ0ए0एन0उपाध्ये, हीरालाल जैन जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर,1962
प0प्र0	परमात्प्रकाश	योगेन्दु	डॉ0ए0एन0उपाध्ये परमश्रुत प्रभा0 मण्डल, अगास, 1960
पण्डु0	पाण्डुलिपि	मूडविद्री, पूना	श्रवणवेलगोल,कुम्भोज आरा आदि
पा0पु0	पाण्डवपुराण	शुभचन्द	प0जि0पा0शास्त्री जैन सस्कृति स0 सघ, सोलापुर सन् 1954
पा0च0	पार्श्वनाथचरित	वादिराजसूरि	भारतीय ज्ञानपीठ काशी,सन 1949
पु0सि0	पुरुषार्थद्ध्युपाय	अमृतचन्द्र	परमश्रुत प्रभावक मण्डल खाराकुआ बम्बई चतुर्थ सस्करण, सन् 1953
प्र0प0	प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द	डॉ0दरबारीलाल कोठिया वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी सन 1977
प्र0मी0	प्रमाणमीमासा	हेमचन्द	प0सुखलाल सघवी, सिघी जैन ग्र0 अहमदाबाद, सन् 1939
प्र0वा0	प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति	बौद्धभारती, वाराणसी, सन 1968
प्र0सार	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	डॉ0ए0एन0उपाध्ये प0प्र0मण्डल श्रीमद् राजचन्द ग्रन्थ0,अगास,1964
–	प्रशस्तिसग्रह	–	के0भुजवली शास्त्री, जैनसिद्धान्त भवन, आरा, सन 1942
–	प्राकृतव्याकरण	हेमचन्द	पी0एल0वैद्य, मोतीलाल लाढ जी, पूना, सन् 1928
बौ0द0अ0	बौद्धदर्शन तथा अन्य	भरतसिह	रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता
भा0द0	भारतीय दर्शन	उपाध्याय	सवत् 2011
–	बौद्धधर्म के विकास	गो0च0पाण्डेय	हिन्दी समिति लखनऊ 1963
–	बौद्ध धर्म दर्शन	आ0नरेन्द्रदेव	विहार राष्ट्रभाषा प0 पटना 1956

सकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक / प्रकाशक और सस्करण
भा0द0	भारतीय दर्शन	ब0 उपाध्याय	चौखम्बा वाराणसी, सन 1976
–	भारतीय दर्शन	न0कि0देवराज	उ0प्र0हिन्दी अका0 लखनऊ1975
भा0स0	भारतीय सस्कृति मे	डॉ0हीरालाल	मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्
जै0यो0	जैनधर्म का योगदान	जैन	भोपाल सन 1962
म0शा0	मध्यमकशास्त्रम	नागार्जुन	पी0एल0वैद्य मिथिला विद्यापीठ दरभगा सन् 1960
–	मूलाचार	वट्टकेर	प0गजाधरलाल माणिकचन्द्र दि0 जैन ग्रन्थमाला बम्बई सन 1966
य0च0	यशस्तिलक चम्पू	सोमदेव	महावीर ग्रन्थमाला वाराणसी1960
युक्त्य0	युक्त्यनुशासन	समन्तभद्र	प0जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सन् 1951
–	युक्त्यनुशासन टीका	विद्यानन्द	प0इन्द्रलाल वर्णीलाल माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, 1920
–	युक्त्यनुशासन हिन्दी अनुवाद	प0मूलचन्द	दिगम्बर जैन पुस्तकालय सागानेर शास्त्री जयपुर सन 1967
–	योगशास्त्र	हेमचन्द	जैनधर्म प्र0सस्था भावनगर, 1926
रत्न0	रत्नकरण्डश्रावकाचार	समन्तभद्र	प0जुगलकिशोर मुख्तार,माणिकचन्द दि0जैन ग्र0हीराबाग बम्बई 1925
र0क0	रत्नकरण्डश्रावकाचार	समन्तभद्र	प0पन्नालाल साहित्याचार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी, 1972
–	रघुवश	कालिदास	चौखम्बा सस्कृत सी0वाराणसी1959
–	रसगगाधर	प0जगन्नाथ	प0 मदन मोहन झा चौखम्बा सी0 वाराणसी, 1970
रा0क0	राजावलिकथे	देवचन्द	मि0लेविस राईस के0इन्स0एट श्र0 इण्ट्रोडक्शन
लघी0	लघीयस्त्रय	अकलक	डॉ0महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, सिघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद 1939
ला0स0	लाटीसहिता	राजमल्ल	माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बई 1984
व0च0	वरागचरित	जटासिहनन्दि	ए0एन0उपाध्ये माणिकचन्द्र दि0जैन ग्रन्थमाला बम्बई सन 1938
–	वसुनन्दिश्रावकाचार	वसुनन्दि	प0हीरालाल जैन भारतीय ज्ञानपीठ काशी सन 1962
–	वाग्भटालकार	वाग्भट	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1916
वि0कौ0	विक्रान्तकौरव	हस्तिमल्ल	प0पन्नालाल जैन, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन 1969

सकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक / प्रकाशक और सस्करण
–	साख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	डॉ0रमाशकर त्रिपाठी भदैनी वाराणसी सन 1970
वि0सि0	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	वसुबन्धु	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1967
-	विंशिका–त्रिशिका	वसुबन्धु	वा0स0वि0विद्यालय वाराणसी
–	वैशेषिकसूत्र	कणाद	विद्या विलास प्रेस वाराणसी
स0प्र0	सन्मतिप्रकरण	सिद्धसेन	प0सुखलाल सघवी,ज्ञानोदय ट्रस्ट अनेकान्त विहार अहमदाबाद 1963
स0अ0	समन्तभद्र अवदान	डॉ0एन0के0 जैन	स्याद्वाद प्रसारिणी सभा 3/359 न्यू विद्याधर नगर जयपुर सन2001
स0सा0	समयसार	कुन्दकुन्द	अनु0मुनि विद्यानन्द कुन्दकुन्द भारती राजपुर रोड दिल्ली
स0ध0	समीचीन धर्मशास्त्र	समन्तभद्र	प0जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट दिल्ली सन 1955
स0स0	सर्वदर्शन सग्रह	माधवाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1964
स0सि0	सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद	भारतीय ज्ञानपीठ काशी सन 1935
सा0ध0	सागारधर्मामृत	आशाधर	अनु0प0लालाराम जैन मू0कि0काप डिया, सूरत, वी0नि0स0 2441
सा0द0	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1931
सि0स0	सिद्धान्तसग्रह	नरेन्द्रसेनाचार्य	प0जिनदास फडकुले जैन सस्कृति सरक्षण सघ सोलापुर सन 1957
सि0वि0	सिद्धिविनिश्चय	अकलक	अनन्तवीर्य टीका सहित भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सन 1959
–	सुभाषितरत्नसदोह	अमितगति	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1959
स्तुति0	स्तुतिविद्या	समन्तभद्र	प0पन्नालाल साहित्याचार्य वीर सेवा मन्दिर सरसावा 1951
स्वय0	स्वयम्भूस्तोत्र	समन्तभद्र	प0 पन्नालाल साहित्याचार्य श्रीशा0 जैन सस्थान महावीरजीवी0 2495
–	स्वामी समन्तभद्र	जु0कि0मुख्तार	जैन ग्रन्थ रत्नाकर हीराबाग गिरगाव बम्बई सन 1925
शा0व्या0	शाकटायनव्याकरण	शाकटायन	भारतीय ज्ञानपीठ काशी सन 1971
--	शिशुपालवध	माघ	चौखम्बा स0सी0 वाराणसी 1985
शृ0च0	शृगारार्णवचन्द्रिका	विजयवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ कलकत्ता 1969
ष0ख0	षटखण्डागम	पुष्पदन्तभूतवली	ग्रन्थ प्रका0समिति फलटन 1965
ष0स0	षडदर्शनसमुच्चय	हरिभद्रसूरि	भारतीय ज्ञानपीठ वराणसी 1970

सकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक / प्रकाशक और सस्करण
ह0पु0	हरिवशपुराण	जिनसेन	प0पन्नालाल साहित्याचार्य भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1962
हे0वि0	हेतुविन्दु	भट्टा	

र्चट ओरियण्टल इन्स्टी0बडौदा 1949

पत्रपत्रिकाए

अनेकान्त	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
जैन सन्देश	भा0 दि0 जैन सघ, मथुरा
जैन सिद्धान्त भास्कर	जैन सिद्धान्त भवन, आरा
जैन एण्टीक्वेरी	जैन सिद्धान्त भवन, आरा